ॐ

लक्ष्मीदेवी अभिनंदन ग्रंथ

सम्पादक

हरिशङ्कर शर्म्मा

स्नातिका मण्डल

गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस

ॐ

लक्ष्मीदेवी अभिनंदन ग्रंथ

सम्पादक

हरिशङ्कर शर्म्मा

स्नातिका मण्डल

कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस

ओ३म्

लक्ष्मीदेवी अभिनंदन ग्रंथ

सम्पादक

हरिशङ्कर शर्म्मा

स्नातिका मण्डल
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस

प्रकाशिका
स्नातिका कमलाकुमारी, विद्याविभूषिता,
मन्त्रिणी, स्नातिका-मण्डल,
कन्या-गुरुकुल, हाथरस

अक्टूबर
१६५५
मूल्य ७)

[पहली वार]

मुद्रक—
जगदीशप्रसाद अग्रवाल, एम० ए०, बी० कॉम
दी एज्यूकेशनल प्रेस, आगरा।

सम्पादकीय निवेदन

कन्या-गुरुकुल, हाथरस के संस्थापन और संचालन में परम प्रभु परमात्मा की अपार अनुकम्पा, महात्मा नारायण स्वामी का अमोघ आशीर्वाद, माता लक्ष्मीदेवीजी का तप-त्याग, सहकारियों का सहयोग और जनता का साहाय्य ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। स्वर्गीय श्री पं० मुरलीधरजी और उनके सुयोग्य पुत्र श्री मदनलालजी की उदार दानशीलता भी विशेष रूप से उल्लेखनीय एवम् प्रशंसनीय है। जिन व्यक्तियों ने तन से, मन से, धन से या वचन से, किसी प्रकार से भी सहायता इस पुण्य संस्था को प्रदान की है, वे सब ही धन्यवाद और प्रशंसा के अधिकारी हैं।

कन्या-गुरुकुल ने अपने पचीस वर्षों के स्वल्प जीवन में, एक सौ से अधिक विदुषी और सुयोग्य स्नातिकाएँ दी हैं जिनमें से कितनी ही तो धर्म, देश और समाज-सेवा में संलग्न हैं। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर, सन्तान का धार्मिक, देश-भक्त, समाज-सेवी, सुशील, सच्चरित्र बनाना भी तो राष्ट्र की महान् सेवा है। सच्चे-सात्विक मातृत्व पर ही किसी राष्ट्र का भविष्य निर्भर रहता है। माताएँ जैसा चाहें, वैसा राष्ट्र-निर्माण कर सकती हैं। नागरिकता की वास्तविक भावना का उदय होना ही राष्ट्रिय सफलता का श्री गणेश है। गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की यही सबसे बड़ी विशेषता है।

कन्या-गुरुकुल, हाथरस का आकार-प्रकार जितना बढ़ता जायगा, उतनी ही उसे धन और जन की सहायता अपेक्षित होगी। धन से भी अधिक महत्त्व सुयोग्य और स्वार्थहीन कुशल कार्यकर्त्ताओं का है। जहाँ तन, मन दिया वहाँ धन कहाँ रह जाएगा। धन तो सच्चे, कार्यकर्त्ताओं और स्वार्थहीन समाज-सेवकों की वाणी में बरसता है। आवश्यकता है कि गुरुकुल-सहायतार्थ कुशल तथा कर्मठ कार्यकर्त्ता—स्त्री और पुरुष—आगे आवें और 'समय'-दान दें। सद्भावना पूर्वक दिया गया समय-दान कभी व्यर्थ नहीं जाता।

गुरुकुल की सारी प्रबन्ध-व्यवस्था एक कार्य-समिति द्वारा होती है, जिसका प्रतिवर्ष विधिवत निर्वाचन गुरुकुल-सदस्यों द्वारा किया जाता है। समिति में प्रधान, मंत्री, कोषाध्यक्ष आदि अधिकारी तथा कुछ सदस्य हैं। फिर भी माता लक्ष्मीदेवीजी इस संस्था-शरीर की आत्मा हैं, और इसी रूप में वे मानी भी जाती हैं।

गुरुकुल के 'स्नातिका-मण्डल' ने अपनी कुल-माता लक्ष्मीदेवीजी को, यह 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' भेट कर उनके सम्मान की दिशा में समुचित पग बढ़ाया है। 'स्नातिका-मण्डल' ही क्यों, माताजी का यह 'अभिनन्दन' समस्त आर्य जनता ही नहीं, वरन सारे शिक्षा-संसार की ओर से समझना चाहिए। निश्चय ही कर्मयोगिनी माताजी, अपने त्याग-तप के कारण, इतने ही नहीं, इससे भी बढ़-चढ़ कर मान-सम्मान की अधिकारिणी हैं। मैं भी इन पंक्तियों द्वारा उनका बार-बार हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

पाठक देखेंगे कि इस 'ग्रन्थ' में माता लक्ष्मीदेवीजी के सम्बन्ध में तो कठिनता से एक-आध ही लेख है, शेष सारा ग्रन्थ विद्वच्चर्चा से सम्पन्न है। देश के विविध विद्वानों के, सारगर्भित और विद्वत्तापूर्ण निबन्ध हैं। सरस एवम् भावमयी कविताएँ हैं। माताजी के प्रति श्रद्धाञ्जलियाँ हैं और राष्ट्र के अनेक मान्य नेताओं, कवियों और साहित्यकारों के 'शुभ सन्देश' हैं। महामान्य राष्ट्रपति महोदय की विशुद्ध भावना भी पावन पंक्तियों में लिपिबद्ध है।

इस 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' की सारी सामग्री जुटाने में 'स्नातिका-मण्डल' की मन्त्रिणी स्नातिका कुमारी कमला विद्याविभूषिता ने प्रमुख और प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। यदि वे इतना उद्योग न करतीं तो यह कार्य कदाचित् सम्पन्न न हो पाता। अतएव इस 'ग्रन्थ' का मुख्य श्रेय स्नातिका कमला को ही है।

ग्रन्थ-सम्पादन का कार्य मुझे सौंपा गया, मैंने भी उसे माता लक्ष्मीदेवीजी के प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति के कारण "स्वान्तः सुखाय" स्वीकार कर लिया। सम्पादन-कार्य बड़ा कठिन, उत्तरदायित्वपूर्ण, साथ ही खतरे का होता है।—खतरे का इसलिये कि सम्पादक को कर्त्तव्यवश लेखों में न जाने क्या-क्या घटत-बढ़त और काट-छाँट करनी पड़ती है। कुछ चीजें छोड़नी भी पड़ती हैं। इससे अनेक लेखक असन्तुष्ट और रुष्ट हो जाते हैं, और सम्पादक को बुरा-भला कहने लगते हैं। इस 'ग्रन्थ' के सम्पादन से भी कुछ लेखकों को असन्तोष हो सकता है। ऐसे सब महोदय मेरी धृष्टता के लिये मुझे क्षमा करें, मैं बड़ी विनम्रता से क्षमा-याचना करता हूँ। एक पत्रकार के नाते, ऐसी 'क्षमाएँ', मुझे अपने चालीस वर्ष पुराने साहित्यिक जीवन में, बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा, बड़ी उदारता से बराबर मिलती रही हैं।

अन्त में मैं उन सब विद्वानों, नेताओं, साहित्यकारों और कवियों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने कृपा कर अपनी सम्मतियाँ, सन्देश और रचनाएँ इस 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' के लिये भेजने की कृपा की है। यह सुपाठ्य ग्रन्थ इन्हीं विद्वान् लेखकों और कवियों की कृतियों का 'स्तवक' या 'गुलदस्ता' है। मेरा इसमें कुछ नहीं। मैंने तो सारी सामग्री जोड़-बटोर कर सुव्यवस्थित रूप में आपके सामने रख दी है। इस 'ग्रन्थ' में जो त्रुटियाँ रह गयी हैं उनका कारण मेरी अज्ञता और अल्पज्ञता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

कर्म्मयोगिनी पुण्य-प्रभा, लक्ष्मीदेवी, वर वन्दन है,
त्याग-तपस्या-मूर्ति मातु-श्री, श्रद्धा से अभिनन्दन है।

आगरा,
शङ्कर-सदन
क्वार शु० ५, २०१२ वि०

हरिशङ्कर शर्मा

विषय-सूची



कन्या-गुरुकुल-हाथरस की संस्थापिका और संचालिका

माता लक्ष्मीदेवीजी

माता लक्ष्मीदेवीजी

[सुश्री कमला कुमारी, एम० ए०]

(जीवन-झाँकी)

सन् १८८७ में इलाहाबाद एलनगंज में, श्री रोशनलाल बैरिस्टर के बँगले पर, उनके छोटे भाई श्री रामचन्द्र वर्मा फरीदपुर (बरेली) निवासी की धर्मपत्नी श्रीमती उमरावतीजी ने एक कन्या को जन्म दिया। कौन जानता था कि एक दिन यही कन्या समाज में नारी-विकास के लिए एक आदर्श सिद्ध होगी और आर्य-संस्कृति तथा आर्य-गौरव की शिक्षा के लिए तपस्विनी माता लक्ष्मी देवी के नाम से विख्यात होगी।

माताजी के पूज्य ताऊ श्री रोशनलालजी एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती हरदेवीजी इंग्लैण्ड से देशोन्नति की दिव्य भावना लेकर लौटे। माताजी की ताई हरदेवीजी तथा माता उमरावतीजी बड़ी सुशील और उच्च विचारों की महिला थीं। दोनों भाइयों के बीच इकलौती पुत्री होने के कारण सबका ध्यान अपनी एकमात्र पुत्री की चतुर्मुखी उन्नति देखने की ओर केन्द्रित रहता था। ताईजी और माताजी अपनी-अपनी प्रतिभा से बालिका के विकास में निरत थीं। ताईजी बालिका को नारीजाति के लिए आवश्यक शिक्षा देती रहीं। श्री रोशनलालजी कन्या-शिक्षा के सबल समर्थक थे। उनका विचार था कि स्त्री-जाति के शिक्षित होने से ही देश का कल्याण हो सकता है। उनके आदेश और आग्रह से ही बालिका को शिक्षा-दीक्षा के लिए, ६ वर्ष की आयु में, कन्या-महाविद्यालय जालंधर में प्रविष्ट कराया गया। परन्तु माता की एकमात्र लाड़ली पुत्री होने के कारण शीघ्र ही विद्यालय से वापस बुलाकर घर पर ही पढ़ाई का समुचित प्रबन्ध कर दिया गया। समय के साथ-साथ बालिका बढ़ती गई और पूज्य ताऊजी के दिव्य विचार तथा सुयोग्य माता और ताईजी की शिक्षाएँ बालिका के हृदय में जड़ जमाती गईं। समाज की कुरीतियों और अन्धपरम्पराओं के कारण बालिका को छोटी आयु में ही विवाह-बंधन में बँधना पड़ा और श्री बा० जगदम्बा प्रसादजी आपके जीवन-साथी हुए। विवाह के बाद बरेली निवासी डाक्टर श्री श्यामस्वरूपजी सत्यव्रत के परिवार में पहुँच कर, माताजी को अपनी आन्तरिक सुप्त शक्तियों को विकसित और कार्य रूप में परिणत करने के लिए विशाल क्षेत्र मिला। उन्हीं दिनों लाहौर में ताऊ श्री रोशनलालजी के साथ रहना तो सोने में सुगन्ध का काम कर गया। श्री रोशनलालजी लाहौर में आर्यसमाज की प्रगति और कार्य-विधि से बहुत प्रभावित थे और अपनी भतीजी को सदा इस कार्य के लिए प्रेरित करते रहते थे। उनके आदेश-निर्देश एवं प्रेरणा के परिणामस्वरूप ही १८ वर्ष की बालिका लक्ष्मीदेवी सामाजिक एवं सार्वजनिक कार्यों में पूरी तरह से प्रवृत्त हो गईं। अर्थात् इस

छोटी आयु में ही माताजी आर्यसमाज का प्रचार करने लगीं। उनकी ओजस्विनी वाणी, हृदय की सच्ची विचार-धारा एवं ऊँची भावनाएँ श्रोताओं को मंत्रमुग्ध-सा कर देती थीं। इस बालिका-रूप मातृशक्ति ने तहलका मचा दिया! गृहस्थ-जीवन में माताजी ने एक पाँच वर्ष की बालिका अक्षयकुमारीजी को अपनी एक मात्र उत्तराधिकारिणी बनाया और उन्हें सुशिक्षा से विभूषित कर अपना प्रतिनिधि-रूप समाज को प्रदान किया। तथा प्राचीन रूढ़ियों के विरुद्ध जाति-पाँति तोड़कर श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री, एम० ए० जैसे सुयोग्य वर के साथ ब्याह दिया।

आन्तरिक साधना—माताजी का जीवन कठोर तपस्या और दृढ़ता का जीवन है। उनको देखते ही हमें पर्वत की ठोस अटल चट्टानों का ध्यान आ जाता है। वे इस्पात के समान कठोर हैं, "वज्रादपि कठोराणि मृदुलानि कुसुमादपि" के समान उनका जीवन है। जीवन की सच्ची कसौटी पर, विशुद्ध स्वर्ण की भाँति उनका जीवन चमक रहा है। त्यागबल और चरित्रबल की शक्ति और सौरभ से उनका सारा जीवन ओतप्रोत है। हृदय में प्रबल साधना एवं नारी-उत्थान की महती आकांक्षा लेकर बीस वर्ष की अल्पायु में ही माताजी ने बरेली में 'स्त्री-सुधार-विद्यालय' की स्थापना की, जो आज भी हाईस्कूल के रूप में दिनों-दिन उन्नति कर रहा है। भला तीव्र पिपासा कहीं ओस-कण से शान्त हो सकती है, सूर्य के सामने दीपक का प्रकाश ही क्या! माताजी के हृदय में कन्याओं की शिक्षा की उन्नति के लिए बड़ी लगन थी, वे चाहती थीं कि लड़कों के गुरुकुलों के समान ही अपने प्रान्त में, एक कन्या-गुरुकुल की स्थापना की जाय, जिसके द्वारा वर्तमान कन्या-शिक्षा-संस्थाओं की कमियाँ दूर हो सकें और ब्रह्मचर्य-प्रणाली द्वारा ऋषि-सन्देश को देश के कोने-कोने में प्रसारित किया जा सके। माताजी के हृदय में कन्या-विद्यालय की कमी अहर्निश खटकती रहती थी। वे अपने जीवन का लक्ष्य निश्चित कर चुकी थीं और निश्चय से विमुख होना उन्होंने सीखा ही नहीं था। आन्तरिक साधनाएँ अवश्य पूर्ण होती हैं, उनकी पूर्ति के लिए कहीं न कहीं से मार्ग निकल ही आता है। माताजी के जीवन की एकमात्र साधना कन्या-गुरुकुल की स्थापना थी। जहाँ कहीं विशाल भवन देखतीं, गुरुकुल के स्वरूप की कल्पना करतीं। अन्तत: एक दिन उनकी कल्पना और साधना साकार हुई। २८ जौलाई १९३१ को पूज्य महात्मा नारायण स्वामीजी के कर कमलों द्वारा गुरुकुल का उद्घाटन हाथरस (अलीगढ़) मार्ग पर स्थित विशाल परकोटे में करा ही जो दिया। माताजी की संरक्षता में आज भी गुरुकुल पुष्पित और फलित हो रहा है।

सार्वजनिक जीवन—माताजी का जीवन उनके सार्वजनिक जीवन का जगमगाता इतिहास है। उन्होंने सार्वजनिक क्षेत्र में वह कार्य किया है, जो सदा अमर रहेगा। आर्यसमाज के कार्य-क्षेत्र में, प्रत्येक विभाग से उनका सम्बन्ध रहा है। अपने जीवनकाल में अनेकों स्त्री-समाजों की उन्होंने स्थापना की। सन् १९४६ में दुर्ग (नागपुर) में एक दूसरा कन्या-गुरुकुल खोला जो बराबर उन्नति कर रहा है। अनेक महिला-सम्मेलनों का

सफल नेतृत्व कर अपनी प्रभावपूर्ण वाणी से महिला-संसार का कर्तव्य-पथ निर्दिष्ट किया। सन् १६५० में हैदराबाद में होने वाले उपदेशक-सम्मेलन में महिला-सम्मेलन का सफल नेतृत्व कर नारी-जगत् को आश्चर्यान्वित कर दिया। माताजी ने उस समय नारी-जगत् के सामने समाज-सेवा का उच्च आदर्श उपस्थित किया, जबकि कन्याओं की शिक्षा नाममात्र को ही होती थी। माताजी के जीवन का लक्ष्य यह रहा कि यदि कोई पैसे के अभाव-वश शिक्षा-प्राप्ति के लिए असमर्थ है तो उसे निःशुल्क शिक्षा दी जाय, निराश न किया जाय। आर्य-प्रतिनिधि सभा और सार्वदेशिक सभा में आपका सदा उपयुक्त स्थान रहा। सन् १६२८-२६ में श्री० विद्यावतीजी सेठ की रुग्णावस्था में लगभग एक वर्ष तक माताजी ने कन्या-गुरुकुल देहरादून का भी उत्तरदायित्व निबाहा। समाज-सेवा-कार्य में जब और जहाँ भी सहयोग की आवश्यकता हुई, माताजी ने निःसंकोच भाव से सहयोग दिया, अनेक विघ्न-बाधाएँ भी उन्हें न रोक सकीं।

माताजी के जीवन-साथी श्री बाबू जगदम्बाप्रसादजी ने भी आर्यसमाज की प्रशंसनीय सेवा की। आपने संन्यास लेकर कन्या-गुरुकुल हाथरस को ही सारा जीवन समर्पित कर दिया था। सन् १६४५ में आप गुरुकुल-कार्यवश एक दिन अलीगढ़ गये थे। वहाँ बीमार पड़ गये और अचानक उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी। शव गुरुकुल लाया गया और यहीं अन्त्येष्टि संस्कार हुआ। आप गुरुकुल-संचालन में बड़ी सहायता देते थे। कुल का डाकघर आपके ही उद्योग का सुफल है।

त्यागमय जीवन—मानव-जीवन का आध्यात्मिक आदर्श त्याग है, जिसका मूर्तिमान उदाहरण माताजी का जीवन है। श्वेत वेश, विशाल दीप्तिपूर्ण ललाट, वृद्ध शरीर, आज भी उनके अनुभव और त्याग की अपूर्व कहानी कह रहे हैं। पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा से मुक्त यह वृद्धा नारियों का आदर्श है। गुरुकुल की पत्र-पुष्पविहीन ऊषर भूमि से एक आवाज आती है—'कौन शक्ति धनाभाव में भी इस संस्था को आगे बढ़ाये जा रही है'—साथ ही प्रतिध्वनि होती है—'माताजी का त्यागपूर्ण और तपःपूत आदर्श जीवन।'

श्री माता लक्ष्मीदेवीजी के साथ लगभग १५ वर्ष तक मुझे पुत्री, छात्रा और शिक्षिका के रूप में प्यार और व्यवहार पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस लम्बी अवधि में माताजी के निकट सम्पर्क में रहकर उनके जीवन का अनेक प्रकार से अध्ययन किया। उनके जीवन की कुछ बातों ने मेरे जीवन पर इतना गहरा प्रभाव किया है, जो जीवन-पर्यन्त विस्मृत नहीं की जा सकतीं और जीवन-संघर्ष में सतत पथप्रदर्शन का काम देंगी।

श्री माताजी के हृदय में प्रभु के प्रति अगाध विश्वास है। एक छोटे परिवार का अधिकारी ही पैसे के अभाव में जीवन-मरण के झूले में झूलने लगता है, किन्तु माताजी एक विशाल निर्धन परिवार की स्वामिनी होते हुए भी, कभी धनाभाव से व्याकुल नहीं होतीं। मैंने प्रायः देखा कि कोष में एक पैसा नहीं और दूसरे दिन भंडार के लिए भोजन-सामग्री आना आवश्यक है, अन्यथा २०० व्यक्तियों को भूखा रहना पड़े, किन्तु ऐसे विकट समय में भी यह वृद्धा शान्त और निश्चल भाव से यह कहतीं कि "सब प्रभु

देगा चिन्ता क्या है" और सचमुच ही उस दिन कहीं न कहीं से दान अथवा शुल्क का रुपया आ जाता है। प्रभु के प्रति इस अगाध विश्वास के बल पर ही बहुत कम पैसों में माताजी जंगल में मंगल करने तथा संस्था के लघु बीज को पुष्पित एवं पल्लवित बनाने में समर्थ हो सकीं।

माताजी कार्य-शक्ति और सहनशीलता की प्रतिमूर्ति हैं। उनके सम्पर्क में रहकर किसी के लिए भी यह गुण सीखना स्वाभाविक है। कार्य करने की चतुर्मुखी प्रतिभा उनके पास ईश्वरीय देन है। वृद्धावस्था में भी उनकी कार्यस्फूर्ति और अविराम प्रगति आश्चर्य और अनुकरण की वस्तु हैं। प्रारम्भ से ही सामाजिक कार्यों में रत रहने पर भी स्त्रियोचित गुणों की भी उनके पास अपूर्व क्षमता है। जब कभी पर्वों आदि के अवसरों पर पाकशाला में उनके हाथ का बना भोजन अनायास ही मन प्रसन्न कर देता है। अल्प शिक्षा प्राप्त एक महिला द्वारा इतनी विशाल संस्था का सफल संचालन बड़े-बड़े महारथियों को भी आश्चर्य-सागर में निमग्न कर देता है, उनकी इस कार्य-शक्ति की आबाल-वृद्ध सभी वन्दना करते हैं। धैर्य और साहस तो उनके जीवन के अंग हैं। उनका शरीर और मन कुछ ऐसे फ़ौलादी तत्त्वों से बने हैं, जिन पर संसार के संघर्ष और विषाद प्रभाव ही नहीं डालते।

कन्या-गुरुकुल उनके जीवन का अरमान है, जिसकी अनन्त साधना में उन्होंने जीवन की सुख-सम्पदा और स्वजनों का मोह भी त्याग दिया। उसका ह्रास माताजी के जीवन-मरण का प्रश्न रहा। माताजी की अपूर्व निर्भयता के कारण ही गुरुकुल भयंकर संघर्षों में भी विजयी हुआ और अब पुनः उत्तरोत्तर प्रगति कर अपना रजत-जयन्ती-महोत्सव मना रहा है। माताजी के नेतृत्व में गुरुकुल की यह एक अभूतपूर्व जीत थी। भारतोद्धारक महर्षि दयानन्द और राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की अहिंसा भावना के अनुसार अपने विरोधियों से भी माताजी ने सदैव सहयोग और स्नेह रखा। कार्यक्षमता, धैर्य और सहनशीलता द्वारा माताजी ने कन्या शिक्षा-क्षेत्र में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी। प्रभु से प्रार्थना है कि माताजी शतायु हों और उनके नेतृत्व में कन्या-शिक्षा सदा प्रगतिशील होती रहे।

कन्या-गुरुकुल की कहानी

[स्नातिका कमलाकुमारी शर्मा, विद्याविभूषिता, मन्त्रिणी, स्नातिका-मण्डल]

संस्थापना-संकेत—हाथरस निवासी पं० मुरलीधरजी बड़े धार्मिक और धनी थे। उनके हृदय में एक उत्कट अभिलाषा अहर्निश जगती थी, कि किसी प्रकार इस सम्पत्ति में से दो लाख रुपया किसी स्थायी धार्मिक कार्य में लगाया जाए। वे इसी खोज में रहते थे। सौभाग्य से उन्हें एक सच्चा पथ-प्रदर्शक भी मिल गया। स्वर्गीय स्वामी दर्शनानन्दजी महाराज रुग्णावस्था में आर्यसमाज-मन्दिर हाथरस में ठहरे हुये थे। जिज्ञासु और भक्त लोग उनके दर्शन तथा अपनी आध्यात्मिक तृप्ति के लिए उनके पास आया करते थे। एक दिन दैववशात् पं० मुरलीधरजी भी पूज्य स्वामीजी के पास पहुँचे, और कुशल-क्षेम के पश्चात् अपनी सम्पत्ति-दान-विषयक अभिलाषा प्रकट की।

स्वामीजी बोले—भाई, धर्मशालाएँ, पाठशालाएँ तो चलती हैं, चल रही हैं, चलेंगी, परन्तु देश में कन्याओं का कोई निःशुल्क गुरुकुल नहीं है। मैंने जिस प्रकार ब्रह्मचारियों के निःशुल्क गुरुकुल स्थापित किए हैं, उसी प्रकार कन्याओं का भी एक गुरुकुल हो जाता तो अच्छा था। बात कुछ ऐसी थी कि पं० मुरलीधरजी की समझ में आ गई। उन्होंने कहा—'अच्छी बात है, महाराज, आपकी इच्छा पूरी होगी, और उसी इच्छा-पूर्ति के लिए सन् १९१२ में गुरुकुल की आधारशिला रखी गई। सबसे प्रथम चहार दीवारी निर्मित हुई, तदुपरान्त कई कच्चे कोठे एवं बरामदे बने। कुछ कन्याएँ भी प्रविष्ट हो गईं। नगर से पाँच मील दूर भयंकर बियावान जंगल के उन कच्चे कोठों में, ऋषि का पुण्य-प्रताप जगमगाने लगा। ब्रह्मचारिणियाँ तप में निरत हो गईं। शिक्षा, भोजन-छादन सभी निःशुल्क था। पं० मुरलीधरजी ने एक लाख रुपया निर्माण-कार्य के लिए रखा था और एक लाख सञ्चालन के लिए।

सञ्चालन के धन से गुरुकुल के लिए 'सौंख' नामक (मथुरा जिले का) एक ग्राम भी खरीद लिया था। इधर गुरुकुल का निर्माण-कार्य भी चल रहा था, भट्टा लगा हुआ था, भट्टे में ईंटें बनतीं और ठेकेदार लोग कमरों का निर्माण कराते थे। यह भूमि श्री हीरालालजी 'बरसै' ग्राम निवासी से खरीदी गई थी। अस्तु—

गुरुकुल का कार्य बड़ी शान्तिपूर्वक चल रहा था, परन्तु कुछ दिनों पश्चात् ठेकेदारों की असद्भावना और आन्तरिक व्यवस्था की शिथिलता से गुरुकुल उजड़ने लगा। गुरुकुल टूट जाने के साथ ही पण्डितजी का हृदय भी टूट गया और वे स्वर्गवासी हो गये! परन्तु उनके हृदय की अभिलाषा अमर बनी रही और इस भूमि से लिपटी रह गई।

गुरुकुल-भूमि में भेड़ियों और सियारों की माँदें फिर बन गईं। सर्प-सर्पिणी स्वच्छन्द विचरने लगे। कँटीली झाड़ियों ने सारी धरती को आक्रान्त कर लिया। फिर भी भूमि के कण-कण में पं० मुरलीधरजी का अमर पुण्य बोल रहा था। आर्यजन जब सामने की सड़क पर से गुजरते, तो पंडितजी का पुण्य पुकार-पुकार कर उनसे कुछ कहता, पर वे क्या करते, हृदय मसोसते हुए चले जाते थे। कर्मठ हाथों की कमी थी।

फाटक वियोगी की आँखों की भाँति चौबीस घंटे खुला रहता था। आसपास के गड़रिये और ग्वाले अपने पशुओं को इस चहार दीवारी के अन्दर चरने के लिए छोड़ देते थे, और स्वयं फाटक पर बैठकर रस्सी बँटते, मनोविनोद करते और गोधूलि वेला में अपने पशुवृन्द के साथ लौट जाते थे। तब केवल निस्तब्ध वन की साँय-साँय करती वायु ही इस खण्डहर-सम्पत्ति पर पहरा देती थी।

अदम्य अभिलाषा—इधर एक कर्मयोगिनी युवती के हृदय में—महर्षि की सच्ची शिष्या के अन्तःकरण में वैदिक सिद्धान्त प्रसारित करने की ज्वलन्त ज्वाला जाग रही थी। उसकी नस-नस में एक तड़प-सी उठती रहती थी। वह चाहती थीकि यदि मेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े होकर भी, संसार में ऋषि का शुभ सन्देश पहुँच सके तो पहुँचा दूँ। उष्ण उत्साह की यह अदम्य अग्नि धीरे-धीरे बढ़ती गई, अन्त में तरुणी के हृदय में "कन्या-गुरुकुल" खोलने का विचार उत्पन्न हुआ। उसने सोचा, जब सैकड़ों कन्यायें ऋषि-शिक्षा से दीक्षित होकर निकलेंगीं, तो स्वयम् ही वैदिक सिद्धान्तों का प्रसार हो जायेगा। किन्तु गुरुकुल-स्थापना सरल कम न था। पास में न तो कुछ धन था और न कोई सहायक। जहाँ भी कोई इमारत दृष्टिगत होती, वहीं कर्मयोगिनी को गुरुकुल के स्वप्न दिखाई देने लगते। यहाँ तक कि वह एक बार अपने परिवार सहित ताजमहल देखने गई। सब तो ताजमहल देख रहे थे, परन्तु यह योगिनी एक कोने में बैठी सोच रही थी कि यदि यह सुन्दर स्थान कन्या गुरुकुल के लिए मिल जाता तो कैसा अच्छा था। देवर (बरेली निवासी डा० श्यामस्वरूपजी) ने कहा—'भाभीजी, उठिए, क्या सपने देख रही हैं, आप। भाभी (आचार्या माता लक्ष्मीदेवीजी) बोलीं—'यदि यह स्थान कन्या-गुरुकुल के लिए मिल जाय, तो कैसा अच्छा रहे।' यह सुनकर सब हँस पड़े।

इसी बीच माताजी के ताऊ श्री रोशनलाल बैरिस्टर बीमार पड़े। वे वायु-परिवर्तनार्थ हरिद्वार गये, और वहाँ मोहन-आश्रम में ठहरे। माताजी भी साथ थीं। यहाँ पूज्या सत्यवती देवी भी आ गयी थीं जो आज एक विख्यात परिव्राजिका हैं। उस समय उन्होंने संन्यास तो नहीं लिया था, किन्तु वे सत्संग-प्रेमिका उच्च विचारों की देवी थीं। कन्या-गुरुकुल खुलने पर इन्होंने माताजी को बड़े प्रेम और उत्साह से पूरा-पूरा सहयोग दिया।

मोहन-आश्रम में महात्मा हंसराजजी से वार्त्तालाप करते हुए एक दिन बैरिस्टर साहब बोले—'हमारी बेटी लक्ष्मीदेवी भी कन्या-गुरुकुल खोलना चाहती है।' महात्माजी कहने लगे—'अच्छी बात है, यही चालीस बीघा जमीन ले लो और कन्या-गुरुकुल खोल दो। परन्तु एक साल इमारत बनवाना प्रारम्भ मत करो, क्योंकि यह मलेरिया की जगह है, पहले आश्रम के दो कमरों का दूसरी ओर दरवाजा करवा कर उन्हीं से काम लो। यदि कन्यायें बीमार न पड़ें तो बड़े आश्रम की व्यवस्था भी हो जाएगी।' इधर यह विचार-धारा चल रही थी, इधर माताजी से एक दिन न्होटी (अलीगढ़) निवासी सुप्रसिद्ध व्याख्याता श्री पं० इन्द्र वर्माजी मिले। पूछा—कहिए देवीजी, आपका कन्या-गुरुकुल

खुल गया ?' माताजी बड़े उत्साह से बोलीं—हाँ, खुल रहा है। पूज्य महात्मा हंसराजजी ने जगह दे दी है, हरिद्वार में बनेगा।'

इन्द्र वर्माजी बोले—'देवीजी, आप भी किस चक्कर में पड़ रहीं हैं। आपका बना-बनाया कन्या-गुरुकुल हाथरस में मौजूद है. उसी का पुनरुद्धार कीजिए न। यह कह कर उन्होंने पूर्व कन्या-गुरुकुल की सारी कथा कह सुनाई। माताजी अपने ताऊजी से पूछकर ही सब काम किया करतीं थीं। अतः वे ताऊजी की अनुमति ले हाथरस आईं और एक इक्के में बैठकर गुरुकुल-भूमि पहुँचीं। दैव-योग से यह इक्का वाला वह व्यक्ति था जो पहले कन्या-गुरुकुल में नौकर रह चुका था। इसे गुरुकुल की अनेक बातें मालूम थीं। रास्ते-भर वह माताजी को सब बातें सुनाता गया। मार्ग भी सरलता से कट गया और पते की बातें भी मिल गईं। माताजी बड़ी प्रसन्न थीं। गुरुकुल का खण्डहर आ गया। फाटक खुला हुआ था, भीतर का मार्ग भयानक झाड़-झँखाड़ों तथा भिटों से छिप गया था। इक्के वाला साथ था। अन्दर के फाटक पर पहुँच कर जब सामने यज्ञशाला के शिखर पर दृष्टि गई, तो हृदय बैठ गया। शिखर का निर्माण मठों की शिखर-शैली पर हुआ था, अतः सोचा यह तो महन्तों का स्थान है, हमें यहाँ कौन घुसने देगा। फिर भी धीरज धर आगे बढ़ीं और जब यज्ञशाला में यज्ञकुंड देखा, तो सारी शंकाएँ निर्मूल हो गईं। आगे दो-चार कमरे बने थे। उनमें बीस-पच्चीस तख्त एक डेस्क और एक मेज पड़ी थी। मेज की दराज खींची, तो उसमें दीमकों की खाई गुरुकुल-नियमावली के कुछ टुकड़े मिले, उन्हें झाड़-पोंछकर बड़े प्रेम से उठा लिया। थोड़ा घूमघाम कर माताजी उसी इक्के से हाथरस लौट गईं। आर्यसमाज-मन्दिर में पहुँच कर समाज के अधिकारियों को बुलाया। श्री डाक्टर कृष्णप्रसादजी प्रधान, श्री म० परमानन्दजी उपप्रधान और श्री म० शंकरलालजी मुख्तार मंत्री तीनों पधारे। माताजी से मिल तथा वार्त्तालाप कर सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर स्वर्गीय श्री पं० मुरलीधरजी के एक मात्र पुत्र श्री मदनलालजी भी बुलाए गये। मदनलालजी आए तो प्रधानजी ने दूर से ही कहा—'मदनलाल, ये देवीजी कन्या-गुरुकुल खोलेंगी' मदनलालजी के मुँह से निकला—'साँच' ? डाक्टर साहब हँस कर बोले—'सचमुच', मैं तो इनके भाषण सुन चुका हूँ, यह कन्या-गुरुकुल अवश्य खोलेंगी। इनका यह दृढ़ संकल्प जरूर पूरा होगा। मदनलालजी गद्गद् होकर माताजी के चरण छूने लगे, परन्तु बड़ी मुश्किल से उन्हें ऐसा करने से माताजी ने रोका। मदनलालजी बोले—'आज तो पिताजी की आत्मा प्रसन्न हो गई होगी। पिताजी ने तो मरण-शैय्या पर भी कहा था—"कन्या-गुरुकुल अवश्य खुलवाना" उनकी अस्थियाँ भी उसी भूमि में गड़ी हैं। थोड़ी देर वार्त्तालाप के बाद माताजी बोलीं—अच्छा, मैं अब जाती हूँ आप लोगों का जैसा भी निर्णय हो, पत्र द्वारा सूचित कर दें, यह भूमि मिल जाय तो ठीक है, अन्यथा हरिद्वार में तो गुरुकुल खोलूँगी ही। यह कह कर माताजी बरेली चल दीं। पत्र-व्यवहार के अनन्तर २१ अप्रैल को फिर आईं और एक सप्ताह तक हाथरस आर्यसमाज-मन्दिर में रहीं, बात-चीत चलती रही, योजनाएँ बनती रहीं, आखिर २७ अप्रैल १९३१ को श्री मदनलालजी ने माताजी के नाम अपना वसीयतनामा लिख दिया।

माताजी ने १ जौलाई को गुरुकुल के लिये हाथरस आने का निश्चय कर लिया, किन्तु पूरे प्रबन्ध के साथ। क्योंकि वे इस बीहड़ को पहले ही देख चुकी थीं। उन्होंने चार बलिष्ठ सेवकों की व्यवस्था की। ये सेवक समीपस्थ ग्राम बरसै में भूपन्ना राज के यहाँ टिके। भूपन्ना ने जब सुना कि गुरुकुल फिर खुलने वाला है, तो उन्होंने गुरुकुल के कुछ बरतन जो उनके पास थे, सेवकों को दे दिए।

वयोवृद्ध श्री परमानन्दजी बड़े ही गुरुकुल-प्रेमी व्यक्ति थे। जून के अन्तिम सप्ताह में गुरुकुल आ गए और जंगल की सफाई करा डाली, जिससे स्थान की भयानकता बहुत कुछ कम हो गयी। १ जौलाई को माताजी गुरुकुल आईं। २८ जौलाई १९३१ 'व्यास-पूर्णिमा' उद्घाटन के लिए नियत थी। इसी बीच में माताजी को उत्सव-प्रबन्ध करना था और गुरुकुल के लिए ब्रह्मचारिणियों की खोज भी जारी थी। २२ जौलाई को जालन्धर से श्री मानिकचन्द्रजी इंजीनियर की पुत्री दयावतीजी गुरुकुल की प्रथम ब्रह्मचारिणी बनने आईं जो माताजी द्वारा संचालित स्त्री-सुधार-विद्यालय बरेली में भी पढ़ चुकी थीं।

२५ जौलाई को सायङ्काल परमपूज्य १०८ स्वर्गीय श्री महात्मा नारायण स्वामीजी, श्री राय रोशनलालजी बैरिस्टर और श्री बाबू जगदम्बाप्रसादजी गुरुकुल आ गए थे।

प्रारम्भ-समारोह—२८ जौलाई व्यास-पूर्णिमा को प्रातःकाल जंगल में मंगल करने के लिए ढाई सौ जनसंख्या उपस्थित थी। शुभसंकल्पों के साथ नवीन उत्साह से यज्ञ हुआ। नवीन ब्रह्मचारिणी का यज्ञोपवीत कराया गया।

दिल्ली से श्री छाजूरामजी ठेकेदार की सुपुत्री ब्रह्मचारिणी सरस्वतीदेवी शास्त्री साहित्याचार्या तथा आगरे की श्री विष्णुदेवीजी भी उस समय यहाँ आईं थीं। यज्ञोपरान्त उद्घाटन-समारोह महात्मा नारायण स्वामीजी के करकमलों से सम्पन्न हुआ। यज्ञशाला पर 'ओ३म्' का झण्डा (पीतल का) जिसे माताजी बरेली से लायीं थीं, फहराया गया। तदुपरान्त सभा का आयोजन हुआ। माताजी को पूज्य श्री महात्मा नारायण स्वामी का आर्शीवाद प्राप्त हुआ।

स्वामीजी ने तीसरा पहर चुनाव के लिये निश्चित किया। सासनी, हाथरस, अलीगढ़, विजयगढ़ आदि के जो आर्य भ्राता उपस्थित थे, वे सभी नियत समय पर एकत्र हुए। इनमें श्री पं० मथुराप्रसादजी-द्वारकाप्रसादजी भार्गव रईस सासनी, श्री पं० रामप्रसादजी मेंडू, श्री पं० गुरुदत्तजी वैद्य विजयगढ़, श्री पं० इन्द्रवर्माजी,श्री ठा० आत्माराम जी आदि मुख्य थे।

निर्वाचन प्रारम्भ हुआ, पूज्य स्वामीजी ने डा० किशनप्रसादजी को प्रधान बनाया। सब बोले महाराज आपकी कृपा तो रहनी ही चाहिए। स्वामीजी ने कहा—मैं सन्यासी हूँ, पदादि से दूर रहता हूँ, अधिक तो सहयोग न दे सकूँगा। परन्तु चूँकि मैंने लक्ष्मीदेवी को सदैव ही पुत्रीवत समझा है, अतः इस 'कुल' की बराबर सहायता करता रहूँगा। लोगों के अधिक आग्रह से स्वामीजी प्रधान रहे और डाक्टर कृष्णप्रसाद कार्यकर्ता प्रधान। स्वामीजी की दिव्य दृष्टि ने श्री पं० मथुराप्रसाद भार्गव को कुछ ही क्षणों में

परख लिया, अतः उन्हें उप-प्रधान बनाया गया। श्री पं० मथुराप्रसादजी-द्वारकाप्रसादजी ने गुरुकुल की सहायता बड़ी ही सहानुभूति और तत्परता से की और अब उनके प्रतिष्ठित पारिवारिक भी उसी प्रकार संलग्न हैं। अब समस्या थी मन्त्री और मुख्याधिष्ठात्री के महत्त्वपूर्ण पदों की। सो स्वामीजी के संकेत से मन्त्रिणी माताजी बनायी गयीं, आचार्या सरस्वती देवीजी पहिले से ही थीं। स्वामीजी की इच्छानुसार मुख्याधिष्ठात्री भी माताजी ही हुईं।

इस समय तक माताजी के सहयोग के लिये प्रिंसिपल श्री पं० महेन्द्रप्रताप शास्त्री की माता श्रीमती आनन्दीदेवीजी, बहन सुखदादेवीजी तथा उनकी भांजियाँ श्री शकुन्तलादेवी व शान्तिदेवी भी गुरुकुल पहुँच गयीं थीं।

प्रातःकाल कुल-भूमि में सभी आमन्त्रित अतिथियों का प्रीतिभोज हो चुका था। सायंकाल तक तीन कन्यायें और बढ़ गईं, अर्थात् पहले दिन ही चार ब्रह्मचारिणियाँ हो गईं। दूसरे छोर उड़ीसा से दो नवीन ब्रह्मचारिणियाँ आईं जिनके लाने का श्रेय श्री पं० सुरेन्द्रजी शर्मा गौर, काव्यतीर्थ को है। वे उड़ीसा किसी उत्सव में गए थे। गुरुकुल का परिचय पाकर वहाँ से दो नन्हीं-मुन्नियाँ कठिन ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने भेज दी गईं। २३ दिसम्बर १९३१ को जब प्रथम उत्सव हुआ तो, पाँच मास के अन्तर्गत, ब्रह्मचारिणियों की संख्या चालीस हो गई थी। नियत विषयों का पठन-पाठन यथावत् चलने लगा था। अध्यापन-कार्य के लिए श्री सरस्वती देवीजी आचार्या की बहन श्रीमती यशोदादेवीजी अपनी माताजी के साथ यहाँ आ चुकी थीं, एवं सिलाई सिखाने के लिए श्री सुखदेवीजी आ चुकी थीं, जो आज भी गुरुकुल में विद्यमान हैं। ये देवीजी अन्धपरम्परा पूर्ण निर्दयताओं का साक्षात् उदाहरण हैं। जब ये गर्भ में थीं तभी इनका विवाह निश्चित हो गया था। दो साल की होते-होते विधवा भी हो गयीं। कैसा विचित्र विवाह और कितना अद्भुत वैधव्य ! किन्तु फिर भी उन्होंने अपना व्रत निभाया और बाल ब्रह्मचारिणी तथा सती-साध्वी रहकर ही सारा जीवन बिताया तथा बिता रही हैं। विश्व-विश्रुत पारस्परिक विरोध वाली दो देवियाँ सरस्वती और लक्ष्मी तो प्रारम्भ से ही गुरुकुल में बड़े प्रेम पूर्वक कार्य कर रही थीं। यशोदादेवी, विष्णुदेवी तथा सुखदेवी भी विद्यमान् थीं। जहाँ इतनी दिव्य शक्तियाँ हों वहाँ दिन-दूनी रात चौगुनी उन्नति क्यों न हो। गुरुकुलोन्नति का विवरण देते हुए श्री पं० मथुराप्रसादजी भार्गव की पहली वार्षिक रपोर्ट में नीचे लिखी पंक्तियाँ थीं।

प्रगति के पथ पर—"जुलाई सन् ३२ में ४० तथा जून ३३ में ५८ कन्यायें हो चुकी थीं। इससे आपको ज्ञात हो जाएगा, कि यह गुरुकुल किस प्रकार उन्नति कर रहा है। यह भी बतला देना असंगत न होगा, कि 'कुल' में कन्यायें भारत के सुदूर प्रान्तों से विद्याध्ययन करने आई हुई हैं। उनकी गणना इस प्रकार है—उड़ीसा ३, बिहार १, संयुक्तप्रान्त ४१, राजपूताना २, पंजाब ३, मध्यप्रदेश ५, बम्बई ३। गुरुकुल में कन्याओं के अभिभावकों से ११) मासिक शुल्क लिया जाता है, जो उनके भोजन, कपड़े और पुस्तकों

२

पर व्यय होता है। शिक्षा सर्वथा निःशुल्क है। श्रेणियाँ ६ खुल चुकी हैं और प्रतिवर्ष १ नवीन श्रेणी खोलनी पड़ती है क्योंकि स्नातिका-परीक्षा तक १२ श्रेणियाँ नियत की गई हैं।"

इस प्रकार यह गुरुकुल का पौदा दिनों-दिन बढ़ रहा था। सन् ३६ में ही गुरुकुल के उज्ज्वल भविष्य का द्वार पूर्ण रूपेण खुल गया था।

उस वर्ष गुरुकुल के अध्यापक-विभाग में कई ऐसी विभूतियाँ आईं, जिन्होंने गुरुकुल-गौरव में चार चाँद लगा दिए। श्री पं० पूर्णदेवजी विद्यालंकार इसी वर्ष आए, ये श्री० पं० बुद्धदेवजी विद्यालंकार के साथी थे। इन्होंने गुरुकुल की ब्रह्मचारिणियों में अनुपम जीवन-जागृति कर दी थी, चूँकि गुरुकुल में उत्तम इमारतें नहीं बन पाई थीं, अतः पंडितजी हाथरस में रहा करते थे, किन्तु एक ही दौड़ में पाँच मील लाँघकर, प्रातःकाल ठीक छः बजे विद्यालय में उपस्थित हो जाते थे। वे नियत पाठविधि पढ़ाने के पश्चात् कन्याओं में गुरु-शिष्य-परम्परा की महत्ता कूट-कूट कर भरते रहते थे। इस प्रकार उन्होंने ब्रह्मचारिणियों को तेजस्विनी, विनयशीला, कर्म-परायणा, वीर और कुशल बना दिया।

स्वर्गीय पं० लीलाधरजी शास्त्री, काव्यतीर्थ संस्कृत के बड़े अच्छे विद्वान् तो थे ही, साथ ही आर्य-सिद्धान्तों के भी पण्डित थे। आप सदा संस्कृत को ही कन्याओं के बोल-चाल की भाषा बनाने का प्रयत्न करते रहते थे।

इसके अतिरिक्त श्रीमती लक्ष्मीदेवी गुप्ता एवं देहरादून गुरुकुल की दो स्नातिकाएँ—श्री सुशीलादेवी विद्यालंकृता और श्री सुखदादेवी विद्यालंकृता—भी विद्यालय-विभाग को बड़ी योग्यता से चलाती रहीं, अब तक कन्याओं की संख्या ११० हो चुकी थी। संरक्षा और स्वास्थ्य-रक्षा का भी उत्तम प्रबन्ध था। अन्य विषयों की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा था। सन् १९३६ की वार्षिक रिपोर्ट में प्रधान श्री डा० कृष्णप्रसादजी ने लिखा है—

"प्रसन्नता का विषय है, कि लिखने-पढ़ने और दस्तकारी तथा गृह-विज्ञान का ज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ ब्रह्मचारिणियों से शारीरिक व्यायाम भी कराया जाता है। जैसे लेजिम, गदकाफरी, मुद्गर, तलवार, कटार, लाठी आदि—इससे कन्याओं का मनोरंजन होता है और स्वास्थ्य भी ठीक रहता है। आशा है, व्यायाम द्वारा वे वीरांगना बनेंगी। यह हुनर भाई रणवीरसिंहजी द्वारा सिखलाया जाता है।"

स्वर्गीय श्री रणवीरसिंहजी गुरुकुल के बड़े प्यारे "भाईजी" थे। वे ग्राम गुलरिया (बदायूँ) के रहने वाले थे। महात्मा नारायणस्वामीजी की प्रेरणा से गुरुकुल आए थे। उनका पूरा जीवन ही विभिन्न गुरुकुलों की सेवा में बीता था। बड़ौदा के प्रसिद्ध व्यायामाचार्य श्री माणिकरावजी से उन्होंने व्यायाम-शिक्षा पायी थी। भाईजी बालब्रह्मचारी थे। उनका जीवन सरल और त्यागमय था। लोभ तो उन्हें छू भी न गया था। यदि कहीं से कुछ द्रव्य उनके पास आ जाता तो उसे वे तुरन्त ही ब्रह्मचारिणियों को 'फल या मिठाई' खिलाने में व्यय कर देते थे। नियमित रूप से नित्य-प्रति व्यायाम-शिक्षण उनका अनिवार्य

कार्य था। "भगवान् हमारे जीवन को बलवान् बना, गुणवान बना"—उनका अति प्रिय भजन था, जो उनकी हार्दिक पुकार-सा प्रतीत होता था, और जिसके लिए वे सदैव ही उद्योग करते रहते थे। अक्टूबर सन् १९४६ में कुल के प्यारे 'भाईजी' ने 'कुल' से क्या, संसार से ही सदा-सर्वदा को विदा ले ली! उनके निवास-स्थान पर उनका समुचित स्मारक 'रणवीर-कुटीर' स्थापित हो चुका है।

इस समय केवल विद्यालय-विभाग की ही उन्नति नहीं हो रही थी, आश्रम तथा भोजनालय की भी व्यवस्था पूर्ण हो चुकी थी। आश्रम-विभाग में सात संरक्षिकाएँ कार्य करती थीं। पाखरी (गढ़वाल) निवासिनी सत्यवतीदेवीजी का कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये देवीजी जौलाई १९३२ से कुल-सेवा में संलग्न हैं। पशु तथा कृषि-विभाग की उन्नति का अधिकांश श्रेय इन्हीं को है।

प्रभाव और आकर्षण—उस वर्ष कुल का निरीक्षण करने प्रमुख एवं गण्यमान्य व्यक्ति भी पधारे थे। 'भारत-रत्न' श्री पं० जवाहरलाल नेहरू, स्व० वल्लभभाई पटेल आदि सभी को कुल की उन्नति से अति सन्तोष हुआ, जिसे उन्होंने अपनी लेखनी से प्रकट भी किया। १९३८ ई० में कुल इतना लोकप्रिय हो चुका था, कि अफ्रीका तक की कन्यायें उसमें प्रविष्ट हुईं। विद्यालय-विभाग उन्नत था। प्राइवेट परीक्षायें प्रारम्भ हो चुकी थीं। १२ छात्राओं को छात्र-वृत्ति दी जा रही थी। यात्रा-क्रम भी प्रचलित था।

इसी वर्ष श्री पं० गणेशशंकरजी शास्त्री, साहित्याचार्य का शुभागमन हुआ। पंडितजी ने अपनी प्रतिभा द्वारा 'कुल' में जो स्नेह एवं सम्मान प्राप्त किया, वह अवर्णनीय है। बाह्य प्रबन्ध तथा अन्य कार्यों में भी पंडितजी का सहयोग रहता था। श्रीमती चन्दादेवी सहायक अधिष्ठात्रीजी भी गुरुकुल में उसी वर्ष पधारी थीं। आपके सम्बन्ध में उसी वर्ष की रिपोर्ट में नीचे लिखी पंक्तियाँ अङ्कित हैं —

"रुग्ण कन्याओं की सेवा तथा चिकित्सा आदि कार्यों के लिए श्रीमती चन्दादेवीजी विशेष धन्यवाद की पात्री हैं, उन्होंने अपनी सेवाओं से गुरुकुल को आभारी बना दिया है। माता चन्दादेवीजी प्रयाग-निवासी श्री म० चिरंजीलालजी की धर्मपत्नी हैं। आप आज भी अवैतनिक रूप में बड़े उत्साहपूर्वक कुल-सेवा में संलग्न हैं। आपको इस संस्था से बड़ा प्रेम है। आप उसके हित-साधन में सर्वात्मना लगी रहती हैं।"

विद्यालय-भवन-निर्माण के लिए जो मार्मिक अपील छपी थी उसने तथा डा० कृष्णप्रसादजी की प्रेरणाओं ने 'कुल' के लिए एक ऐसा सहायक तैयार कर दिया था, जिसका शुभ नाम कभी विस्मरण नहीं किया जा सकता। गुरुकुल के दसवें वार्षिकोत्सव पर महात्मा नारायण स्वामीजी के कर-कमलों से विद्यालय-भवन की नींव रखी गई थी। प्रभु की प्रेरणा से उसी समय श्री सेठ धन्नालालजी (हाथरस-निवासी) ने प्रार्थना-भवन बनवाने का वचन दिया, जिसे उन्होंने वर्ष-भर के भीतर ही पूरा कर दिया। साथ ही अपने परिवार के नाम पर और भी कई कमरे बनवाए। तब से अबतक सेठजी गुरुकुल

की मुक्तहस्त से सहायता करते आ रहे हैं। अब तक उनका लगभग २६०००) गुरुकुल की सहायता में लग चुका है। आज भी वे गुरुकुल के परम हितैषी हैं।

सफलता का शुभारम्भ—सन् १६३६ में गुरुकुल का प्रथम 'स्नातिका-मंडल' निकला। समारोह दर्शनीय था। इसके बाद तो प्रतिवर्ष ही स्नातिकाएँ निकलती रही हैं। पुस्तकालय-निर्माण हाथरस के सपड़िया परिवार की देवियों ने, तथा शस्त्र-शाला-निर्माण श्रीमती रेवतीकुँवर (गढ़ौला निवासिनी) ने कराया। दानवीरों में व्यावर के श्री जयदेवजी-महादेवजी का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

इस समय 'सरस्वती-परिषद्' भी स्थापित की गयी, जिसमें कन्याओं की 'वाक्-शक्ति' का परिष्कार होता रहा है। औषधालय में श्री सत्यव्रतजी वानप्रस्थी ने बड़ी लगन एवं श्रद्धा से कार्य किया। श्रीमती डाक्टर हरदेवीजी ने प्रारम्भ से ही गुरुकुल के लिए अपना अमूल्य समय दिया। गुरुकुल पर आपकी अत्यन्त कृपा रही है। सन् ४६ से गुरुकुल को डा० किशनसिंहजी का भी अमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ। रोगी, ब्रह्मचारिणियों को देखने के लिए वे रात के १० और १२ बजे भी सासनी से यहाँ आए।

सन् १६४८ में गुरुकुल की पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। भारत के विभिन्न प्रान्तों की २४२ कन्यायें यहाँ पढ़ती थीं। सन् ५१ में गुरुकुल की संस्थापिका माता लक्ष्मीदेवीजी को मध्यप्रदेश आर्यप्रतिनिधि सभा ने सतत अनुरोध और आग्रह से अपने यहाँ बुलाया। माताजी ने २६ जौलाई व्यास-पूर्णिमा को दुर्ग में "तुकाराम कन्यागुरुकुल" का उद्घाटन किया, तथा एक वर्ष उसकी व्यवस्था भी की। इसी वर्ष हमारे गुरुकुल की प्रधान अध्यापिका सुश्री कमलाकुमारीजी साहित्यरत्न, एम० ए० हुईं जो आज भी यहाँ हैं। आपकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। सहनशीलता और धैर्य्य की तो ये मूर्त्ति हैं। गत १८ वर्षों से ये बड़ी संलग्नता से कुल की सेवा कर रही हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि आप कुल के प्रत्येक कार्य के लिए प्रतिक्षण तत्पर रहती हैं। कार्यभार की अधिकता होने पर कभी-कभी तो सारा दिन ही विना खाए-पिए बीत जाता है। उत्सव-आयोजन में रात्रि के ग्यारह-बारह बज जाना तो इनके लिए सदा एक साधारण-सी बात है। कुमारीजी के मुख-मण्डल पर उनकी सहन-शीलता की ऐसी आश्चर्यजनक छाप है, कि वह उनके उज्ज्वल भविष्य का स्पष्ट संकेत करती रहती है। इसके अतिरिक्त पूज्या शकुन्तलादेवीजी गोयल (मेरठ), आदरणीया आचार्या श्री भगवतीदेवीजी (मुजफ्फरनगर) का भी गुरुकुल को प्रशंसनीय सहयोग प्राप्त है।

कुल से अब तक लगभग सवा सौ स्नातिकाएँ निकल चुकी हैं। ये स्नातिकाएँ अफ्रीका तथा भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में सफलता पूर्वक सामाजिक सेवा-कार्य कर रही हैं। विशेषतः दक्षिण हैदराबाद की स्नातिकाओं ने अपनी जागृति का परिचय दिया है। कुल की उन्नति में सहयोग देने वाले कुछ प्रमुख व्यक्तियों का उल्लेख न किया जाय, तो यह वर्णन अधूरा रहेगा। श्री पं० महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री, प्रिंसिपल डी० ए० वी० कॉलिज लखनऊ, एवं उनकी पत्नी श्रीमती अक्षय कुमारीजी शास्त्री का 'कुल' के जन्म-काल से

अब तक पूरा-पूरा सहयोग रहा है। श्री शास्त्रीजी ने अपने विचार-विमर्श द्वारा कुल की अनेक आपत्तियों से रक्षा की है। चाहे वे प्रधान रहे हों, चाहे न रहे हों। स्व० श्री कु० हुक्मसिंहजी, श्री ठा० झम्मनसिंह एडवोकेट, स्व० श्री पं० महेशप्रसाद मौलवी, आलिम-फाज़िल, श्रीयुत पं० पीतमलालजी एडवोकेट, श्री पं० उमेशचन्द्रजी स्नातक, एम० ए०, श्री विद्याभूषणजी, वैद्य (वर्त्तमान प्रधान) का प्रशंसनीय सहयोग 'कुल' को सदैव मिलता रहा है।

श्री पं० नरदेवजी स्नातक, एम० पी० भी तन, मन और धन से गुरुकुल-सेवा में संलग्न रहे हैं। संरक्षकों में विशेष उल्लेखनीय स्थान श्री म० कबूलसिंहजी (चरथावल), श्री पं० बाबूलालजी दीक्षित (अतरौली) और स्व० श्री पं० रामचन्द्रजी विद्यारत्न होशंगाबाद का है।

श्री कबूलसिंहजी ने उत्सव के दिनों में सपत्नीक उत्साह पूर्वक कार्य किया, अन्य कार्यों में भी सदा पूरा सहयोग देते रहे हैं।

इन्हीं सब पुण्यात्माओं के प्रशंसनीय सहयोग एवं प्रेमपूर्ण प्रयत्न का परिणाम है, कि आज 'कन्या-गुरुकुल हाथरस' अपना यह उज्ज्वल एवं प्रभावपूर्ण इतिहास प्रस्तुत करने में समर्थ हो सका है।

सन्देश और श्रद्धाञ्जलियाँ

महामान्य राष्ट्रपति महोदय
श्री राजेन्द्रप्रसादजी

कन्या-गुरुकुल हाथरस की रजत-जयन्ती के अवसर पर आप लोग माता लक्ष्मीदेवी को अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित कर जो आदर दे रहे हैं, इसके लिये राष्ट्रपति महोदय की ओर से धन्यवाद।

वाल्मीकि चौधरी
सेक्रेटरी

माननीय श्री पं० गोविन्दवल्लभ पन्त
[गृह-मंत्री, भारत सरकार]

कन्या-गुरुकुल हाथरस के स्नातिका-मण्डल ने कुल की संस्थापिका तथा संचालिका लक्ष्मीदेवीजी को जो 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' समर्पित करने का शुभ निश्चय किया है, उसकी सफलता के लिये माननीय गोविन्दवल्लभ पन्त अपनी शुभकामनाएँ भेजते हैं।

अ० द० पाण्डे
सेक्रेटरी

माननीय श्री बा० वि० केसकर

[मन्त्री, सूचना-विभाग तथा आकाशवाणी, भारत सरकार]

माता लक्ष्मीदेवीजी नारी-समाज में बहुत बलिदान के साथ सेवा कर रही हैं, ऐसा मुझे ज्ञात हुआ है। ऐसे कार्य करने वाले विरले ही होते हैं। मैं उनके कार्य में पूरी सफलता चाहता हूँ।

माननीय श्री हरिविनायक पाटसकर

[विधि-मन्त्री, भारत सरकार]

किसी की त्यागपूर्ण निःस्वार्थ सेवाओं का मूल्यांकन असम्भव है, किन्तु फिर भी गुण अपनी गरिमा से श्रद्धा-प्रणयन करा ही देते हैं, और उस श्रद्धा का प्रकाशन, एक आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है। माता लक्ष्मीदेवीजी के महत्त्वपूर्ण प्रशस्त कार्यों के लिए मैं अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ।

माननीय चौ० चरणसिंहजी

[माल तथा परिवहन-मन्त्री, उत्तर प्रदेश]

कन्या-गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस की 'रजत-जयन्ती' के शुभ पर्व पर महाविद्यालय की संस्थापिका एवम् मुख्य अधिष्ठात्री माता लक्ष्मीदेवी का जिन्होंने अपनी निःस्वार्थ सेवा, त्याग एवम् तपस्या के सहारे इस महाविद्यालय द्वारा इस युग में भी स्त्री-शिक्षा की गहन समस्या को भारतीय संस्कृति के आधार पर सुलझाने का प्रयत्न किया है, अभिनन्दन करना सभी प्रकार उचित है। मुझे यह जान कर वास्तविक प्रसन्नता हुई है कि माता लक्ष्मीदेवी के प्रति श्रद्धा एवम् प्रेम प्रदर्शित करने के निमित्त उन्हें एक 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' समर्पित करने का आयोजन किया जा रहा है, और उसका सम्पादन पण्डित हरिशङ्कर शर्मा जैसे सुयोग्य विद्याशास्त्री, प्रकांड पण्डित एवम् कुशल समाज-सेवी कर रहे हैं।

२५ वर्ष पूर्व पूज्य महात्मा नारायण स्वामी ने जिस नन्हें-से विद्यालय का उद्‌घाटन कर आशीर्वाद दिया था, वह माता लक्ष्मीदेवी तथा उनके सहयोगियों के अथक परिश्रम के फलस्वरूप आज देश में अपना एक स्थान रखता है। इसका उद्देश्य कन्याओं को आर्य संस्कृति के अनुरूप स्वतन्त्र भारत की आवश्यकताओं को ध्यान रखते हुए ऐसी शिक्षा-दीक्षा देना है जिससे वे जीवन में सादगी के साथ उच्च विचारों का समन्वय करते हुए स्वावलम्बी बन सकें और अपने स्वच्छ आचरण तथा पुरुषार्थ से गृहस्थ-जीवन में सुख, शान्ति, नैतिकता तथा सौन्दर्य का वातावरण उत्पन्न कर सकें।

मुझे इस महाविद्यालय की प्रगति पर प्रसन्नता है। मैं इसकी उत्तरोत्तर उन्नति की कामना करता हुआ, इसकी संस्थापिका एवम् संचालिका माता लक्ष्मीदेवी के

प्रति अभिनन्दन में योग देता हूँ और ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह उन्हें दीर्घायु करे।

माननीय श्री गिरिधारीलालजी

[मन्त्री, उत्तर प्रदेश]

कन्या-गुरुकुल हाथरस की 'रजत-जयन्ती' के पावन पर्व पर माता लक्ष्मीदेवीजी को एक 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' देने का जो निश्चय किया गया है यह जानकर मुझे प्रसन्नता है। इस शुभ अवसर के लिये मेरी शुभकामनाएँ तथा माता लक्ष्मीदेवीजी को मेरी हार्दिक बधाई।

माननीय श्री पं० जगनप्रसाद रावत

[उपमन्त्री, उत्तर प्रदेश]

मुझे हर्ष है कि कन्या-गुरुकुल की स्नातिकाएँ माता लक्ष्मीदेवीजी को एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने जा रही हैं। मैं लक्ष्मीदेवीजी से लगभग ३० वर्ष से परिचित हूँ। उनका जीवन सदैव से समाज-सेवा में ही लगा है। साहस और निरन्तर परिश्रम तो उनके जीवन का एक अंग ही है। जिन कठिन परिस्थितियों में उन्होंने इस कन्या-गुरुकुल को चलाया है, वह प्रशंसनीय है। १९४७ के साम्प्रदायिक दंगों के अवसर पर अपनी बालिकाओं को लेकर वे वीरता पूर्वक गुरुकुल में ही डटी रहीं, जबकि काफ़ी लोगों ने उनसे यह कहा कि गुरुकुल को खाली करदें और अन्यत्र चली जायँ। इस प्रकार की वीरता का परिचय हमें बहुत कम मिलता है।

मुझे पूर्ण आशा है कि श्रीमती लक्ष्मीदेवीजी के संरक्षण में कन्या-गुरुकुल, हाथरस बराबर फूलता-फलता रहेगा और यह देश की एक उपयोगी संस्था साबित होगी।

श्रीयुत न० वि० गाडगिल

[भूतपूर्व निर्माण-मंत्री, भारत सरकार]

मातृजाति के गौरव की वृद्धि करने वाली देवी को 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' प्रदान करने का जो निश्चय किया गया है, वह प्रशंसनीय है। यह तो सुविदित ही है कि माताजी को किसी भी प्रलोभन या सम्मान की तनक भी आवश्यकता नहीं, फिर भी जिस जाति के प्रति उनके अगणित उपकार हैं, उसका यह कर्त्तव्य है कि वह पूज्य माताजी को अधिक से अधिक सम्मान प्रदान करने में प्रयत्नशील रहे। मैं माताजी का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

राष्ट्र-कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त

[सदस्य, राज सभा]

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्री माता लक्ष्मीदेवीजी आचार्या को उनकी सुदीर्घ-कालीन सेवाओं के उपलक्ष्य में अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है। मेरा हार्दिक अभिनन्दन, व शुभकामनाएँ भी उक्त ग्रन्थ में सन्निहित करें।

श्री पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

[संसद-सदस्य, राज सभा]

कन्या-गुरुकुल एक सफल संस्था है। अपने जीवन के पिछले पचीस वर्षों में, इसने नारी-जाति की सेवा बड़ी उत्तमता से की है। एक सौ से अधिक, इसकी स्नातिकाएँ, आदर्श गृहस्थ के रूप में देश तथा समाज की प्रशंसनीय सेवा कर रही हैं, यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। कुल की संचालिका श्रीमती लक्ष्मीदेवी को, आशातीत सफलता के लिये, इस सुअवसर पर बधाई देने में मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है।

श्रीयुत् डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, डी० लिट्०

[काशी विश्वविद्यालय]

ब्रह्मलोक के सिवाय ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ स्त्री की सत्ता न हो। स्त्री का तिरस्कार या मिथ्या निराकरण करके कोई मानसिक संतुलन नहीं प्राप्त कर सकता। प्रकृति की महान् शक्ति स्त्री का उचित सम्मान ही उसके प्रति हमारे सम्बन्ध को संतुलित बना सकता है। इस स्थिति को प्राप्त करना हर एक के लिये जीवन की कला है। इसकी एक मात्र युक्ति मानसिक और शारीरिक संयम की प्राप्ति है। भोग की प्रवृत्ति आत्मा का पतन और स्त्रीत्व का घोर अपमान है। यही जीवन का व्यावहारिक अध्यात्म जिस क्षण संसिद्ध हो जाता है, मानव को सच्ची शान्ति प्राप्त हो जाती है।

श्री पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

[संसद-सदस्य लोक-सभा]

श्री लक्ष्मीदेवीजी का शिक्षा-सम्बन्धी कार्य सराहनीय है। वे जिस दृढ़ता से अपने लक्ष्य में संलग्न हैं, वह वस्तुतः अनुकरणीय है। मैं उनके दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ और आशा करता हूँ कि उनका उदाहरण अन्य व्यक्तियों के लिए प्रेरणाप्रद होगा।

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

[संसद-सदस्य]

'मातृ-पूजा' का यह शुभ आयोजन सफल हो, मंगलमय हो, जो माता देश को कर्तव्य-परायण एवं जाग्रत् नागरिकाएँ देने का महान् उद्योग कर रही है, उसकी अभ्यर्थना समुचित ही है। प्रभु करे उसका पथ प्रशस्त हो।

कन्या-गुरुकुल, विविध दृष्टियों में—

लौह पुरुष स्वर्गीय श्री वल्लभभाई पटेल

कन्या-गुरुकुल हाथरस देखकर मुझे बड़ी खुशी हुई। श्री० लक्ष्मीदेवीजी के कार्य से हम बहुत प्रसन्न हुए। मैं गुरुकुल की सफलता के लिये प्रार्थना करता हूँ। ८-११-१९३८

महामना स्व० श्री. पं० मदनमोहन मालवीय

मैं इस संस्था को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, मैं प्रार्थना करता हूँ कि दिन-दिन इसकी उन्नति हो। का० कृ० १५, १९९२ वि०

पूज्य श्री सन्त विनोबा भावे

कन्या-गुरुकुल का बड़ी फ़जर (प्रभात) दर्शन प्राप्त हो सका। अधिक समय न होने के कारण जितनी इच्छा थी उतना कन्याओं का परिचय प्राप्त न कर सका। कन्याओं को वैदिक साहित्य का भी कुछ परिचय कराया जाता है, यह अच्छा लगा। कुछ उद्योग सिखाकर श्रम-द्वारा शिक्षा देने की व्यवस्था हो जाय तो वैदिक जीवन की भी कुछ झलक मिलेगी। गो-सेवा, वस्त्रविद्या तो हरएक कन्या को अवगत होनी ही चाहिए। मैं संस्था की उत्तरोत्तर प्रगति चाहता हूँ। ५—११—५१

महा महिम श्री श्रीप्रकाशजी

मुझे इस कन्या-गुरुकुल को देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं इसके कार्य-कर्त्ताओं को इसकी सफलता पर बधाई देता हूँ। मेरी शुभकामना है कि इसकी दिन-प्रतिदिन उन्नति हो और इसकी छात्राओं तथा स्नातिकाओं को सदा देश और समाज की सच्ची सेवा का सुअवसर मिलता रहे। २५-१२-५४

माननीय श्री पं० गोविन्द वल्लभ पन्त

आज मुझे आठ वर्ष बाद फिर इस कन्या-गुरुकुल-महाविद्यालय में आने का अवसर मिला। मैंने जो कुछ देखा है उससे मुझे वास्तविक हर्ष हुआ। इस गुरुकुल में कन्याओं को हमारी संस्कृति और सभ्यता के अनुरूप शिक्षा दी जाती है और इससे उनमें सच्ची राष्ट्रियता और सेवा की भावना उत्पन्न होती है जिससे देश और समाज का कल्याण होगा। मैं इस संस्था की निरन्तर उन्नति चाहता हूँ। २६—१—४६

माननीय श्री सम्पूर्णानन्दजी

मैं थोड़ी देर के लिए कन्या-गुरुकुल में आया, संस्था लोकप्रिय प्रतीत हुई और इसके संचालक उदार नीति पर इसे चला रहे हैं। मैं इसकी उन्नति चाहता हूँ। ११.१०.३८

माननीय श्री विचित्रनारायणजी

[यातायात मंत्री, उत्तर प्रदेश]

कन्या-गुरुकुल की कन्याओं और उनकी जीवन-चर्या देखकर प्रसन्नता हुई। काम सराहनीय है। २८-१-५४

श्री पं० नन्दकुमार देव वाशिष्ठ, एम० एल० ए०

मुझे इतना विशाल गुरुकुल देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं अपनी शुभ कामनाओं के साथ इसमें श्रमदान के शुभ सन्देश की कामना करता हूँ। २६-१०-५४

श्री सी० एल० साहनी डायरेक्टर,

[शिक्षा-विभाग, उत्तर प्रदेश]

कन्या-गुरुकुल हाथरस देखकर मुझे प्रसन्नता हुई। कन्याओं की उत्कृष्ट व्यायाम-विधि से मैं बहुत प्रभावित हुआ। यह संस्था बड़ा उपयोगी कार्य कर रही है, अतएव सब प्रकार से साहाय्य और प्रोत्साहन की अधिकारिणी है। इस समय दो सौ कन्याएँ शिक्षा पा रही हैं, और शिक्षा का सारा व्यय प्रबन्ध-समिति के उद्योग से सम्पन्न होता है। मैं इस शिक्षणालय की सफलता का अभिलाषी हूँ। ८-३-४८

राजाधिराज की उम्मेदसिंह, शाहपुराधीश

आज मुझे कन्या-गुरुकुल देखने का शुभावसर मिला। सारा काम बड़ी उत्तमता से होता है। कार्य-कर्त्ताओं में संस्था के प्रति भक्ति और श्रद्धा है। ऐसे गुरुकुल प्रत्येक प्रान्त में खुलने चाहिएँ, जिससे आर्य्य सभ्यता संसार में बनी रहे।

श्रद्धाञ्जलियाँ—

पूज्य श्री आनन्द स्वामीजी महाराज, [तपोवन, देहरादून]

श्रद्धेय माता लक्ष्मीदेवीजी ने अपने जीवन का अमूल्य समय नारी-उत्थान के शुभ कार्य में इतनी सुन्दरता से लगाया है कि उनके लिये हृदय के अन्तस्तल से आशीर्वाद निकलता है। ऐसी ही देवियाँ समाज का वास्तविक निर्माण करती हैं। इस युग में भारत के कल्याण का सब से अधिक आवश्यक कार्य देवियों को सर्व-गुण-सम्पन्न बनाना है और माता लक्ष्मीदेवीजी कन्या-गुरुकुल हाथरस द्वारा यह कार्य पूरी निपुणता से कर रही हैं, जी चाहता है कि माताजी की भूरि-भूरि प्रशंसा करूँ, परन्तु मुझे समुचित शब्द ही नहीं मिलते !

पूज्य श्रीस्वामी ध्रुवानन्दजी महाराज

श्रीमती लक्ष्मीदेवीजी ने कन्या-गुरुकुल हाथरस की स्थापना कर धर्म, समाज और देश की सराहनीय सेवा की है। वे संलग्नता पूर्वक काम करने वाली निर्भय देवी हैं।

जिस समय बीहड़ वन में आकर उन्होंने 'कुल' का कार्य प्रारम्भ किया, लोग हँसते थे। भला यह साधन-हीन स्त्री यहाँ क्या कर पाएगी। अन्ततः लक्ष्मी देवीजी की तपस्या सफल हुई और कन्या-गुरुकुल ने देश की एक बड़ी शिक्षा-संस्था का रूप धारण किया। एकसौ से अधिक स्नातिकाएँ निकल चुकी हैं, और यह संस्था अपने जीवन के पच्चीस वर्ष बिता चुकी है। आज उसकी 'रजत-जयन्ती' मनायी जा रही है। इस शुभ अवसर पर मैं लक्ष्मीदेवीजी की चिरायु के लिये परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना करता हूँ।

श्री मदनमोहन सेठ, एम० ए०, [रिटायर्ड डिस्ट्रिक्ट और सैशन्स जज, लखनऊ]

श्रीमती बहन लक्ष्मीदेवीजी के त्याग-तप की मैं मुक्तकंठ से प्रशंसा करता हूँ। वे सदैव ही धर्म, समाज और देश-सेवा में संलग्न रही हैं। हाथरस के समीप कन्या-गुरुकुल की स्थापना कर उसे जिस योग्यता से उन्होंने चलाया उसकी आज देश के सभी मुख्य-मुख्य व्यक्तियों ने सराहना की है। देवीजी शक्ति का पुञ्ज हैं। कर्म-शीलता और निर्भयता उनमें कूट-कूट कर भरी है। आरम्भ में वे अकेली ही कन्या-गुरुकुल-संचालन में, परमात्मा पर विश्वास कर जुट गयीं। पीछे अन्य अनेक कार्य-कर्त्ताओं ने भी सहयोग दिया। वे सब भी प्रशंसनीय हैं। परम प्रभु परमात्मा से प्रार्थना है कि वह इस कर्मदेवी को चिरायु करे।

श्रीमती लक्ष्मीदेवीजी

[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०]

उत्तरी भारत के आर्यसमाज के इतिहास में श्रीमती लक्ष्मीदेवीजी का एक विशेष स्थान है, इस विलक्षण शक्ति और विलक्षण साहस वाली महिला ने स्त्री-जाति के पुनरुत्थान में अनुकरणीय और चिरस्मरणीय कार्य किया है। देवी लक्ष्मीदेवीजी एक प्रसिद्ध आर्य-परिवार में जन्मी थीं और ऋषि दयानन्द की उच्च शिक्षा के अंकुर उनकी मनो भूमि में आरंभ से ही जमने लगे थे, समय पाकर उन्होंने वृक्षरूप धारण किया और महिलाओं के सुधार में वह बचपन से ही लग गईं। आज इन की अवस्था लगभग सत्तर वर्ष की है, परन्तु इनका उत्साह युवतियों जैसा है। सासनी (हाथरस) कन्यागुरुकुल के संचालन और अभिवृद्धि का सम्पूर्ण श्रेय श्रीलक्ष्मीदेवीजी को है, इन्होंने कष्टमय और तपः पूर्ण जीवन व्यतीत करके इस संस्था को पाला-पोसा है। इनके द्वारा अनेक देवियों को प्रेरणा मिली है। यह अकेली ही स्त्री-जाति की शोचनीय दशा में क्रान्ति उत्पन्न करने में समर्थ हुई हैं। इन्होंने पुरुषों के लिये भी साहस और वीरता का एक आदर्श स्थापित किया है। आर्यप्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश तथा सार्वदेशिक सभा के कार्यों में वह बहुत दिनों से सहयोग देती रही हैं। इनके जीवन में सरलता, वाणी में ओज और चाल-ढाल में उत्साह है। ईश्वर करे इनकी प्रेरणा आर्य महिलाओं के लिये चिरकाल तक उपलब्ध रहे।

श्री चन्द्रानन्दजी वैदिक परिव्राजक पूर्व श्री चाँदकरण शारदा, एडवोकेट, अजमेर

मैं पूज्या माता लक्ष्मीदेवीजी को गत पच्चीस वर्षों से भली प्रकार जानता हूँ। आर्य-समाज के अनेक आन्दोलनों में उन्होंने सदा सक्रिय भाग लिया है। जब मैं हैदराबाद सत्याग्रह का द्वितीय सर्वाधिकारी होकर गया तब उनके शुभ आशीर्वाद हमारे साथ थे। वे सदा स्त्री-शिक्षा में अग्रसर रही हैं। उन्होंने स्त्री-जाति के उद्धारार्थ आदर्श गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के द्वारा देश की सदा उन्नति की है। ईश्वर से मेरी प्रार्थना है कि उनकी कीर्ति-गाथा दिग्-दिगन्त-व्यापिनी बने और उनके उज्ज्वल चरण-चिह्नों पर चल कर भारत का नारी-समाज तेजस्विता धारण करे।

श्रीमती माता लक्ष्मीदेवीजी क्रियात्मक जीवनवाली, निरभिमानता और त्याग की मूर्ति हैं। वे आर्यसमाज की गौरव और आदर्श कर्मयोगिनी हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि हम उनके संस्थापित गुरुकुल की उत्तरोत्तर उन्नति करें और उसे एक आदर्श संस्था बनावें, जिसमें न केवल भारत के भिन्न-भिन्न भागों से अपितु द्वीप-द्वीपान्तरों से विद्यार्थी पढ़ने के लिये आवें और मार्ग-दर्शन ग्रहण कर मातृ-जाति की उन्नति करें।

माता लक्ष्मीदेवी जैसी कर्मनिष्ठ, तपस्विनी देवी का अभिनन्दन करते हुए मैं अपने आपको भाग्यशाली समझता हूँ। वर्त्तमान भारत के निर्माता महर्षि दयानन्द के आदेशों के अनुसार उन्होंने भारतीय महिलाओं में आर्य-संस्कृति का प्रचार किया है और स्त्री-जाति के उत्थान के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर किया है।

हाथरस कन्या-गुरुकुल उनके अविश्रान्त परिश्रम का जाज्वल्यमान कीर्ति-स्तम्भ है। मैं माता लक्ष्मीदेवीजी के प्रति इस मंगलमय अवसर पर अपनी श्रद्धाञ्जलि भेंट करता हुआ परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि वे शतायु हों और अपना शेष जीवन भी देश, धर्म, महिला-जगत् के सुधार और उद्धार में व्यतीत करें।

श्री पं० आनन्दप्रियजी, बी. ए., एल-एल. बी.

[मन्त्री, आर्यकन्या-महाविद्यालय, बड़ोदा]

श्रीमती लक्ष्मीदेवीजी की अनुपम सेवाएँ महान् हैं। परम प्रभु परमात्मा उन्हें शतायु करे, जिससे उनके द्वारा इसी प्रकार महान् सांस्कृतिक कार्य सम्पन्न होते रहें।

श्रीपूर्णचन्दजी, एडवोकेट,

[प्रधान, आर्यप्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश]

श्रीमती लक्ष्मीदेवीजी ने कन्या-गुरुकुल का संस्थापन और संचालन कर नारी-जाति की महती सेवा की है। वे बड़ी लगन से काम करनेवाली कर्मवीर देवी हैं, मैं उनका अभिनन्दन करने में अपना गौरव अनुभव करता हूँ।

राजकुमार श्री कुं० रणञ्जयसिंहजी, विद्यारत्न, एम. एल. ए, अमेठी (सुलतानपुर)

कन्या-गुरुकुल (महाविद्यालय) हाथरस की मुख्याधिष्ठात्री पूजनीया माता श्री लक्ष्मीदेवीजी ने वैदिक धर्म-प्रचार, आर्य-संस्कृति की रक्षा, समाज-सुधार तथा सद्शिक्षा-प्रसार आदि सत्कार्यों में अपना जीवन अर्पित करके जिस कर्मवीरता का प्रशस्त परिचय दिया है, आर्य संसार उसकी सदा सराहना करेगा। देवीजी के तपोमय आदर्श जीवन से सभी को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। कन्या-गुरुकुल-हाथरस (सासनी) की समुन्नति का समस्त श्रेय उन्हीं को है। परम पिता प्रभु से प्रार्थना है कि आदरणीया देवीजी दीर्घ जीवन प्राप्त करें।

श्रीयुत प्रियतमलालजी, एडवोकेट, एम. एस-सी. अलीगढ़

माता लक्ष्मीदेवीजी का जीवन कन्या-गुरुकुल के पालन-पोषण तथा संचालन में व्यतीत हुआ है और होगा। अपने पवित्र उद्देश्य की पूर्ति में इतनी अधिक निष्ठा और दृढ़ता रखने वाले बहुत ही थोड़े व्यक्ति होते हैं। हर्ष की बात है कि माता लक्ष्मीजी अपने प्यारे गुरुकुल की 'रजत-जयन्ती' मना रही हैं। परमात्मा करे वे 'स्वर्ण-जयन्ती' भी मनाएँ। लक्ष्मीदेवीजी के सदुद्योग द्वारा, कन्या-गुरुकुल की सुयोग्य, सदाचारिणी और धार्मिक स्नातिकाएँ देश और जाति की अमूल्य सेवा कर रही हैं। निश्चय ही यह शिक्षा-संस्था माताजी की कीर्ति को अमर बनाये रहेगी और स्नातिकाएँ गुरुकुल के सुयश-सौरभ को दूर-दूर तक फैलाएँगी। मैं इस शुभ अवसर पर आदरणीया माताजी के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हुआ, उनके दीर्घायुष्य के लिए परम पिता परमात्मा से प्रार्थी हूँ।

माता लक्ष्मीदेवीजी

[श्री सूरजपाल दुबे, बी-एस-सी०, एल-एस-सी०]

माता लक्ष्मीदेवीजी के असाधारण प्रतिभापूर्ण आदर्श व्यक्तित्व ने मुझे बहुत प्रभावित किया है। उनका चिन्तन व्यापक और विचार स्पष्ट हैं। किसी भी देश की महिलाओं में ऐसी सर्वतोमुखी विदुषी कम ही होती हैं। माताजी सुसंस्कृत महिला हैं। इस देश के मनीषियों तथा विदुषियों ने जो कुछ सोचा और अनुभव किया है, उस सब की गूढ़ सांस्कृतिक अनुभूति से उनका सुकोमल हृदय बना है। वे एक कुशल चरित्र-निर्मात्री हैं। जहाँ तक अनुशासन एवं चरित्र का सम्बन्ध है, वे वज्र से भी अधिक कठोर हैं, परन्तु व्यावहारिक कार्यों में कुसुम से भी अधिक कोमल। उनके हृदय में वैदिक साहित्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, महाभारत आदि का जो सम्मान विद्यमान है, वह सराहनीय है। उनका कन्या-गुरुकुल वैदिक संस्कृति का अनुसंधान-केन्द्र है। पूज्य माताजी को मेरा शत-शत प्रणाम। परमात्मा करे वे चिरायु होकर देश-कल्याण के कार्यों में संलग्न रहें।

श्री ठाकुर मंगलसिंहजी, कागारौल

माता लक्ष्मीदेवीजी से मेरा काफ़ी पुराना परिचय है। उस समय से जब उन्होंने अपनी प्यारी धर्म-पुत्री सौ० अक्षयकुमारीजी का विवाह भाई महेन्द्रप्रताप शास्त्री के साथ

जाति-पाँति के बेहूदा बन्धनों को तोड़ कर, वैदिक आदर्श के अनुसार किया था। देवीजी ने आर्यसमाज और विशेष कर नारी-जाति के उद्धार तथा उत्थान के लिए जो महती सेवाएँ की हैं, वे मुक्त कंठ से प्रशंसनीय हैं। कन्या-गुरुकुल के रूप में उन्होंने देश को ऐसी संस्था दी है, जो जहाँ नारी-जाति का कल्याण करती रहेगी, वहाँ माताजी की कीर्ति को भी अमर बनाएगी। मैं इस अवसर पर श्रीमती लक्ष्मीदेवीजी को अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ। परमात्मा करे वे शतायु हों-चिरायु हों।

प्रसिद्ध हरिजन-कार्यकर्ता

श्री लालमणिजी वाल्मीकि, आगरा

माता लक्ष्मीदेवीजी ने अस्पृश्यता-निवारण के लिए बड़ा काम किया है। वे मनुष्य-समाज में छूतछात को भयङ्कर अपराध मानती रही हैं। अतः मैं अपने वाल्मीकि भाइयों की ओर से माताजी का बड़ी श्रद्धा से अभिनन्दन करता हूँ।

मेरी शुभ कामनाएँ

[श्रीमती कृष्णा दुलारी, सूचनाधिकारिणी, केन्द्रीय भारत-सेवक समाज, नई दिल्ली]

लक्ष्मी ऐश्वर्य का रूप है, कीर्ति की आभा है और साहस की भी। लक्ष्मी का जहाँ वास होगा, दूर-दूर तक चमत्कार रहता है। बड़े-बड़े वैभव-शालियों के यहाँ लक्ष्मी विराजमान है। कीर्ति में भी देश-विदेश में आधुनिक लक्ष्मी (पं० विजयलक्ष्मी) प्रसिद्ध है। ६८ वर्ष पहले हुई झाँसी की रानी लक्ष्मी का साहस, पराक्रम, देश-प्रेम बड़े गौरव से आज भी स्मरण किया जाता है। इसी प्रकार बहिन लक्ष्मीदेवी अधिष्ठात्री कन्या-गुरुकुल हाथरस ने भी इस समय अपने बाहुबल, पुरुषार्थ और साहस से गुरुकुल के रूप में इस वैभव तथा कीर्ति को प्राप्त किया है—उन्होंने हाथरस-कन्या-गुरुकुल का संचालन अपने साहस और ईश्वरीय-प्रेरणा के भरोसे पर किया है। वे बड़ी-बड़ी बाधाओं का सामना करने पर भी अपने उद्दिष्ट पथ पर अड़ी रहीं और सैकड़ों की संख्या में प्रति-वर्ष देश को लक्ष्मी-रत्न भेंट करती रहीं, और भविष्य में भी करेंगी। धन्य लक्ष्मीदेवी, आपके साहस व शुद्ध आर्य विचारों को। मेरी ओर से बधाई व शुभ कामनाएँ हैं।

श्रीमती लक्ष्मीदेवी जौहरी

[मन्त्रिणी आर्य स्त्री-समाज, चँदौसी]

माता लक्ष्मीदेवीजी ने अपने जीवन में आए तूफानों और झंझावातों का जिस गम्भीरता, दृढ़ता और निर्भयता से सामना किया, उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। बड़ी से बड़ी उलझनों में व्यस्त होकर भी उनके मुख-मण्डल पर कभी व्यथारेखा नहीं दिखाई दी, अपितु सदा उनकी मुस्कानमयी मूर्ति ही दृष्टिगोचर होती रही। उन्होंने अपने जीवन में आशातीत जनोपयोगी कार्य किये हैं। 'कुल'-कन्याओं को स्नेहपूर्वक रखने में

तो आप प्रसिद्ध हैं। माताजी की वाणी में बल, व्यक्तित्व में प्रभाव और कार्य-शैली में आकर्षण है। परमात्मा उन्हें धर्म, देश और समाज-सेवा के लिए चिरायु करे। यही प्रार्थना है।

स्नातिका लक्ष्मीदेवी, विद्याविभूषिता

कुल-माता लक्ष्मीदेवीजी ने गुरुकुल की स्थापना कर अपनी कुलपुत्रियों पर महान् उपकार किया है। इसके लिये हम सब उनकी चिर-ऋणी रहेंगी। हमारे ब्रह्मचर्य-काल में उन्होंने जिन आदर्शों को हमारे सम्मुख रखकर हमारा पथ-प्रदर्शन किया है, उसके लिये हम सब जीवन-पर्यन्त उनकी कृतज्ञ रहेंगी। उन्होंने अपनी बहुमूल्य शिक्षाओं द्वारा हमारे हृदय को अज्ञानान्धकार से दूर कर विद्यारूपी ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित किया।

मैं माताजी का हृदय से अभिनन्दन करती हूँ। परम पिता परमात्मा से प्रार्थना है कि वह उन्हें चिरायु करे और वह आजन्म गुरुकुल की ही उन्नति में संलग्न रहें जिससे गुरुकुल की यशःचन्द्रिका लोक को आलोकित करती रहे। और वर्त्तमान प्रतिकूल परिस्थिति में गुरुकुल की प्राचीन परिपाटी का पुनर्जीवन कर निरन्तर २५ वर्षों तक इस भार-भरित कन्या-गुरुकुल के शकट को चलाते आना हमारी कुलमाता आचार्या तथा मुख्याधिष्ठात्री श्रीमती लक्ष्मीदेवीजी का ही साहस है। माताजी ने वीर पुरुषों की भाँति नगर नगर, ग्राम-ग्राम में भ्रमण कर कन्या-गुरुकुल, हाथरस के लिए धन और कन्याएँ एकत्र की हैं। आपकी इस निरन्तर तपस्या को कौन भूल सकता है? युवक-युवतियों का जो काल सांसारिक सुखोपभोगों में व्यतीत होता है, उसको माताजी ने विद्याराधना के दुष्कर प्रयत्न में लगाया। हम स्नातिकाएँ विद्यातीर्थ में स्नात होकर पुरुष निष्णातों के सदृश ही कार्य कर रही हैं। इस गौरव-सोपान की निर्मात्री माता लक्ष्मीदेवी को नमस्कार हो। महिला-समाज को अविद्या-गर्त से निकाल कर जिन्होंने उसे मानव-अनुभव करने योग्य बनाया है, वे महिलाजन-वन्दनीया माता लक्ष्मीदेवीजी शतायु हों, चिरायु हों।

श्री सौ० गार्गीदेवी शर्मा

माता लक्ष्मीदेवी ने किन-किन प्रतिकूल परिस्थितियों और कठिनाइयों का सामना करते हुए कन्या-गुरुकुल जैसी महान् संस्था को चलाया है, और अब भी चला रही हैं, इसे तो अनुभवी संस्था-सञ्चालक ही जान सकते हैं। निश्चय ही स्त्री-जाति के लिए यह एक प्रशंसा और गौरव की बात है। मैं श्रीमती लक्ष्मीदेवीजी का हार्दिक अभिनन्दन करती हुई ईश्वर से प्रार्थना करती हूँ कि उनकी लगाई यह विद्या-वाटिका उत्तरोत्तर पल्लवित एवं पुष्पित होती रहे।

शत-शत प्रणाम

[विद्याविभूषिता सुभद्राकुमारी, शास्त्री]

जिसकी प्राणमयी, वात्सल्यमयी गोद में बैठ हम अबोध बालाओं ने स्नेह और ज्ञान पाया है, जिसने ज्ञानमयी स्नेहिल मधु-लोरियों से हमारे प्रसुप्त संस्कारों को उद्बुद्ध किया जीवन-प्रभात की पावन अरुणिमा के दर्शन-हेतु आँखें खोलीं, देखा ! जीवन आलोकित हो उठा है। मानवता की साधना की है।

जिसने हमारी झंकारहीन जीवन-वल्लकी में कल्याण के स्वर और जीवन के गान भरे हैं। तूफानों के बीच अविश्रान्त, अविचल गति से चलकर, अविराम चलते रहने का आदेश और सन्देश दिया है।

तपस्या-ताप-तप्त-कञ्चन-सी काया कालचक्रानुसार शिथिल हो चुकी है, किन्तु उत्साह-धैर्यसागर मानस अब भी तरुण है। जिसमें नव-नव निर्माण की तरंगें तरंगित रहती हैं। जिसने स्वयं लक्ष्मी होकर भी सरस्वती की सेवा में अपूर्व योग दिया है, और दोनों ने मिलकर समाज के सुगठित निर्माण में नूतनता का परिचय दिया है। जिसकी जीवन-यज्ञ-वेदी से उठीं कर्त्तव्य की ऋचायें पावन कर्मण्यता का अमर सन्देश दे रही हैं। हविपूत ज्वालाएँ समाज के, देश के मलिन वातावरण को, निर्मल, सुवासित, स्वास्थ्य-प्रद बना रही हैं, जो कर्त्तव्य-गरिमा से गुरु, साहस-उत्साह की प्रतिमा है। उदधि-सी गहन-गम्भीर, विशाल-उदार, हिमगिरि-सी अटल-अविचल है। कुसुम-कोमल-वज्र-कठिन है। उसी परमश्रद्धेया, त्यागमयी, भव्य-भावनामयी, वरदानमयी, गरिमामयी, कर्त्तव्य-शीला, स्नेहमयी, पावन माता के पवित्र चरणों में उसी की बालिका के शत-शत प्रणाम।

स्नातिका पवित्रा कुमारी

ऋषि दयानन्द की नारी-जाति के प्रति दर्द-भरी पुकार सुनने वाली आचार्या श्री लक्ष्मीदेवीजी हैं। इन्होंने नारी-जाति के उपकार में अपना तन, मन, धन सभी अर्पित कर दिया है। मैं सोचती हूँ और ऋणों से तो शायद हम कुछ उऋण हो भी जायँ, परन्तु अपनी आदरणीया आचार्या के ऋण से मुक्त होने का कभी कोई समय आयेगा भी या नहीं ? आज उनके प्रताप से ही हमारा गृहस्थ-जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा है। भगवान् उनको दीर्घायु करें, जिससे मेरी तरह और भी अनेक कन्याएँ उनके चरणों में विद्या-रस-पान कर अपने को कृतकृत्य समझें। मैं पूज्या माताजी के चरणों में नत-मस्तक हो कृतज्ञता प्रकट करती हूँ।

जंगल में मंगल

[कविराज श्री पं० रत्नाकर शास्त्री, आयुर्वेद-शिरोमणि अध्यक्ष, विमला रसायनशाला, इटावा]

१६३१ के जनवरी मास में निमन्त्रण पाकर मैं हाथरस सासनी के बीच एक बीहड़ वीरान में पहुँचा। सड़क के किनारे एक लम्बे-चौड़े फाटक में प्रवेश किया। देखा तो चारों ओर घना जंगल कँटीले वृक्ष। खरगोश, सेह, सूअर और लोमड़ियों का निवास। सर्पों का संसार। पगडंडी का पता नहीं।

ऐसे स्थान में हो रही थी कन्या-गुरुकुल की स्थापना। माता लक्ष्मीदेवीजी की ओजस्विनी वाणी और उनकी त्याग-तपस्यापूर्ण क्रियाशीलता के अतिरिक्त कोई साधन-सामग्री न थी। परमात्मा पर अटल विश्वास और कार्य करने की असीम-अमिट और अमर अभिलाषा ही सबसे बड़ा संबल था। यज्ञ हो रहा था, मन्त्र-ध्वनि से आकाश गूँज रहा था, पर प्रश्न यह था कि कौन माता-पिता अपनी कन्याएँ इस बीहड़ वन में भेजेंगे। उपस्थित महानुभावों में से चार पिताओं ने साहस किया। 'हमारी पुत्रियाँ गुरुकुल का श्री गणेश करें।' इस अनुष्ठान में पाँचवाँ मैं ही था। यज्ञ-वेदी पर बैठकर कुछ उत्सर्ग न करना भी तो आत्मघात से कम नहीं है। किन्तु प्रश्न पुत्रियों का था। परन्तु मेरे तब तक न कोई पुत्र था और न पुत्री। अतः अपनी एक मात्र बहिन को इस प्रतिष्ठान के लिये देना तय किया। एक गाड़ी से इटावा गया, दूसरी से बहिन को लेकर आ गया। पाँच कन्याओं ने इस 'कुल' का निर्माण किया। काँटों के वन में कन्याओं का उपवन पल्लवित-पुष्पित होने लगा। जंगल में मंगल हो गया ग्यारह-बारह वर्ष बीते। सबसे प्रथम इस गुरुकुल की स्नातिका होने का सौभाग्य मेरी बहिन को ही प्राप्त हुआ। वे हैं–सौभाग्यवती श्री सुशीलादेवीजी 'विद्याविभूषिता'। मैं गुरुकुल का स्नातक और मेरी बहिन गुरुकुल की स्नातिका। श्री लक्ष्मीदेवीजी हम दोनों की नैष्ठिक माता। कैसा सुन्दर सुयोग! इस शुभ अवसर पर माता लक्ष्मीदेवीजी का हार्दिक अभिनन्दन करना हम अपना पवित्र कर्त्तव्य समझते हैं।

हमारा ध्येय वैदिक संस्कृति है। इसलिये वैदिक संस्कृति में डाक्टर, इंजीनियर, व्यापारी, कृषक, राजदूत, अध्यापक तथा पुरोहितों का निर्माण होना चाहिये। पचास वर्ष हो चुके गुरुकुलों का ध्येय स्पष्ट नहीं हो सका। गुरुकुलों का मार्ग निष्कंटक नहीं बन पाया। गुरुकुलों की उपयोगिता पर स्वयं आर्यसमाजियों का विश्वास डाँवा डोल है।

पुत्रों से कन्याओं की शिक्षा-दीक्षा का प्रश्न अधिक कठिन है। पुत्रों को जो कुछ २५ वर्षों में पढ़ाना है, कन्याओं को उससे गुरुतर १६ वर्ष में ही। नौ वर्ष कम करके भी कन्या पिताओं से सहस्र गुनी महान् बन जाय, इसी गंभीर समस्या का हल ढूँढने की आवश्यकता है।

व्याख्याता, योद्धा, दार्शनिक अथवा राजनीतिज्ञ के रूप में कन्या का गौरव नहीं है। वह तो पुत्रों में भी मिल सकते हैं। कन्या का गौरवपूर्ण आदर्श उसके योग्य

४

माता बनने में है। पुरुष माता नहीं बन सकता। इसलिए कन्या-गुरुकुल बालकों के गुरुकुलों की नकल नहीं हो सकेंगे। उन्हें मौलिक रूप से संचालित करना होगा। कन्या-गुरुकुलों की सफलता राष्ट्र के सफल मातृत्व में है। उनकी शिक्षा-दीक्षा तदनुरूप होनी चाहिये।

गत २५ वर्षों में माता लक्ष्मीदेवीजी ने जो योग्य स्नातिकायें समाज को प्रदान की हैं, उन्हें देखते हुए, यह आशा अधिक नहीं है कि इन्हीं स्नातिकाओं के सहयोग से वे उस आदर्श मातृत्व की खोज आज नहीं तो कल, अवश्य कर लेंगी। भगवान् उन्हें चिरायु करें।

श्रद्धाञ्जलिः

[डा० श्री कपिलदेव द्विवेदी, एम-ए०, डी-फिल० विद्याभास्कर, व्याकरणाचार्य, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, गवर्नमेंट कालिज, नैनीताल]

साध्वी सदोपकृतिना कृतिनां वरिष्ठा,
गेयैर्गुणैर्गुणवती गुणिनां गरिष्ठा।
छात्रोपकारपरमा परमेव विद्या,
लोके विभाति विमला सफलेव सिद्धिः।

नारायणाख्ययतिभिर्विदुषां वरेण्यैः
संस्थापितं कुलमिदं जनताहिताय
संस्थापनावधि विधाय व्रतं विधत्ते
याऽजस्रमेव कुलपालन पुण्य कृत्यम्

यो भारतस्य महिमा सकलेऽपि लोके
तत्संस्कृतेर्जनहिताचरणात् प्रसिद्धः
तां संस्कृतिं सततमेव सुबद्धमूलां
कर्तुं कुलं प्रयतने सुख शान्ति सिद्धयै

'लक्ष्मी'—रियं गुणधनाकरतामवाप्य
'देवी'—स्तु दिव्य चरितैर्धृ तचारुशोभा
मोहान्धकारमपहृत्य ददाति विद्यां
विज्ञान वृद्धिरुचिरा ननु श्रीरपूर्वा

यस्याः श्रमेण कुलमेतदभूत् प्रसिद्धं
प्राचीन संस्कृति समुन्नति साधकत्वात्
सद्भावपुष्पसहिता सुख-शान्ति वृद्धयै
श्रद्धाञ्जलिः सविनयं सुसमर्प्यतेऽस्यै

प्रशस्तिः

[श्री पूर्णानन्दजी मिश्र, 'शास्त्री']

मातृत्वं जननादेव सर्वा नार्यस्तु लेभिरे
शिक्षणात् पालनान्मातस्त्वयैव सफलीकृतम्

यस्याः सर्वे समारम्भाः कुलस्यैवोपकारकाः
प्रवृत्तिर्महतां लोके किं स्वार्थायोपजायते

भोजनाच्छादनेऽप्यस्याः जायेते न सुखेप्सया
किन्तु तद्देहरक्षायै यतः सर्वार्थ सिद्धयः

नारीणां विषये लोके वेदविद्या विरोधिनीम्
प्रसिद्धिं दूरतः कृत्वा साक्षाद् गार्गीव शोभते

गुरुकुलं लसितं ह्येतत् यत्तपोलवलीलया
सा दिव्या गुणसम्पन्ना लक्ष्मी माता विराजते

श्री लक्ष्मीदेवीस्तवः

[कमलाकुमारी स्नातिका]

(१)

कन्यासु शिक्षां विरचर्य्याभिक्षां लोके व्यतानीद्नवद्यचर्या।
मत्यद्म संसेव्य पदाब्ज युग्मा सा लक्ष्मिदेवी ! जयताज्जगत्याम् ॥

(२)

रक्षाऽऽभिक्षां या तयो राशिराशेः भोजं भोजं जीवनं नव्यमाधात्।
धर्मक्षेत्रं मूर्त्तं मेतत् पवित्रम् लक्ष्मी देवी मत्प्रणामालिपात्रम् ॥

(३)

या प्राच्य शिक्षा प्रवणा करस्य रसे (हाथरसे) रसायां सरसाभ्यंरस्त।
जन्या सुकन्या जननी समर्च्या आचार्य वर्या किल लक्ष्मिदेवी ॥
अभिनन्दनग्रन्थमर्पयन्ती परिपूर्णं नवभावपूर्णं लेखैः।
कमला ऽमलतत्कराब्जयुग्मे सफलं स्वं मनुते जनुर्मनूष्यम् ॥

है किसकी सेवाओं का फल ?

[स्नातिका वेदकुमारी, "विद्याविभूषिता"]

है किसकी सेवाओं का फल ?
तूफानों के मध्य आज जो नैया तरती जाती है,
भीषण उत्ताल तरंगों की गरिमा को भी ठुकराती है,
है कर्मनिष्ठ वह कौन कि जिसके भुजदण्डों का पाकर बल,
यह गुरुकुलीय दृढ़तर नौका कर देती है तूफ़ान विफल।
है किसकी सेवाओं का फल ?
जीवन-जागृति-संदेश अहो, फूँका किसने नारी-कुल में,
किसने निज जीवन अर्पण कर नव ज्योति जगायी गुरुकुल में।
किसकी कर्मठता ने ऋषिवर के स्वप्नों को कर दिया सफल,
है कौन बाग़वाँ जिसने सींचा उपवन को दे जीवन-जल।
है किसकी सेवाओं का फल ?
कह सके कौन पहचान कठिन, मैं कहती हूँ पहचान सरल,
निज गुरुकुल की, की नींव सुदृढ़, यद्यपि जीवन-गति है चंचल।
कुल-जन्मदात्री माता से पाया नारी ने जीवन-बल,
है मातु लक्ष्मीदेवीजी की सेवाओं का यह प्रतिफल।
है किसकी सेवाओं का फल ?

हार्दिक अभिनन्दन

[श्रीमती पण्डिता प्रभावती, स्नातिका]

रहीं जगाती जीवन-भर सोती नारी को,
रहीं सींचती कन्या - गुरुकुल - फुलवारी को,
देश - धर्म पर किया निछावर अपना जीवन,
करूँ हृदय से उस माता का मैं अभिनन्दन।

जयजयकार

[श्री कु० ज़ोरावरसिंह आर्य्य]

जीत न जिसको सके जगत् के सकल प्रलोभन,
जीते जिसने सेवा द्वारा जनता के मन,
जिसने घर को छोड़ बसाया जा निर्जन वन,
लगा दिया कन्या-शिक्षा में सारा जीवन,
उस 'लक्ष्मी' मा का सदा जग में जय-जयकार हो,
उस 'देवी' का हृदय से अभिनन्दन सौ बार हो।

ओ३म्

लक्ष्मीदेवी अभिनंदन ग्रंथ

नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्ते अस्त्वर्चिषे ।
अन्यँ स्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यँ शिवो भव ॥

यजु–३६–२०

पूज्य श्री स्वामी आत्मानन्द सरस्वतीजी महाराज

[प्रधान, आ० प्र० सभा पंजाब, वैदिक साधन-आश्रम, यमुनानगर (अम्बाला)]

एक समय था जब श्रीमती माता लक्ष्मीदेवीजी ने इस परम पावन कन्या-गुरुकुल की पुण्यभूमि में खड़ी होकर, अपने कर-कमलों में, संकल्प का सुशीतल पावन जल लेकर निम्न भावनाओं का हृदय में प्रकाश करते हुए, एक आचार्या के नाते कठोर प्रण लिया था। मेरी समझ में प्रण की वे निम्न भावनाएँ निम्न मन्त्र की छाया के आभास में प्रकट की गई होंगी।

ओता आपः कर्मण्याः मुञ्चन्त्वितः प्रणीतये, सद्यः कृण्वन्त्वे (अथर्व ६। २२)

(ओता) सर्वत्र फैली हुई (कर्मण्याः) कर्मक्षेत्र के लिए हितकारक, (आपः) जल अथवा भगवान् की व्यापक शक्तियें (प्रणीतये) प्रकृष्ट नीति के प्रणयन् की भावना से (एतवे) आगे बढ़ने के लिए (सद्यः कृण्वन्तु) मुझे शीघ्र सन्नद्ध करदें।

इस मन्त्र की भावनाओं में कितना ओज है। एक कर्मठ के हृदय में कर्मपरम्परा का स्रोत बहाने की कैसी आकर्षण शक्ति है। और इसमें है सुविमल नीति का आश्रय लेकर आगे बढ़ने की सद्भावनाएँ।

मन्त्र में कर्मशील मानव के हृदयगत भावों का कैसा मनोहर चित्रण है। कर्म को फल की सीमा तक पहुँचाने की भावनाओं को निकाल के प्रकाश में पहुँचाने के लिए प्रयत्न का कैसा तीव्रगामी प्रवाह बहाया गया है। माता लक्ष्मी देवीजी; मैंने यह अथर्व का मन्त्र पढ़ा है, परन्तु यह नहीं कह सकता कि यह मन्त्र आपकी गुणावली के उदाहरण से स्मृतिपथ पर आ गया है, अथवा मन्त्र की गुण-परम्परा की बहती हुई धारा के उदाहरण से आप स्मृति-पथ पर आ विराजी हैं।

आपने कर्म्म-क्षेत्र में पग रखने के बाद इस गुरुकुल के उत्थान के लिए जो भगीरथ

प्रयत्न किया है, उसे आर्य जनता भूल नहीं सकती। कन्याओं के हृदय में, विज्ञान, तप, सच्चरित्र और सरलता की विकसित गुणावली सब आपकी ही देन है।

कन्याओं के कर्मक्षेत्र में प्रतिक्षण आगे बढ़े चलने का आपका पवित्र सन्देश इनके हृदय-पटल पर वेद के निम्न शब्दों में सदा अंकित रहेगा। कभी न भूलेगा।

देवस्य सवितुः सर्वः कर्म कृण्वन्तु मानुषाः, शन्नो भवन्त्वप ओषधी शिवाः।
(अथर्व ६-२३-३)

(मानुषाः) हे मानवगण! (देवस्य सवितुः) प्रकाशमय भगवान् के (सर्व) कर्मस्थली में (कर्म कृण्वन्तु) कर्म करो। (अपः ओषधीः) भगवान् की व्यापक शक्ति और उसकी दी हुई सब सामग्री (नः शम्भवन्तु) हमारे लिए सुखकारक होंगी।

मैं इस पवित्र वेद-मन्त्र की कर्म-परक भावनाओं को आपकी कन्या-गुरुकुल की शिष्याओं के लिए ही नहीं, इस नगर-निवासियों तथा अन्य परिचित देवी-देवताओं के लिए भी आशोर्वाद समझता हूँ। और कन्या-गुरुकुल के इस सुन्दर निर्माण के लिए आपको बधाई देता हुआ, आपका अभिनन्दन करता हूँ।

धुन की पक्की लक्ष्मीदेवीजी

[आचार्य श्री नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ, एम० एल० ए०, कुलपति, ज्वालापुर-महाविद्यालय]

कन्या-गुरुकुल हाथरस (अलीगढ़) हमारे उत्तर प्रदेश के अन्य कन्या-गुरुकुलों में प्रसिद्ध गुरुकुल है। जब इसका प्रारम्भिक महोत्सव हुआ था तब उस अवसर पर मैं वहाँ उपस्थित था। तब से आज तक मैं सासनी न जा सका ऐसा ही योगायोग था। इस गुरुकुल को वर्त्तमान समुन्नत दशा में लाने का श्रेय आचार्या लक्ष्मीदेवी को ही मिलना चाहिए। इस गुरुकुल द्वारा मध्यम तथा निर्धन स्थिति की कन्याओं का बहुत कुछ उद्धार हुआ है।

मैं आचार्याजी को बहुत वर्षों से जानता हूँ—संभवतः जब गुरुकुल की स्थापना भी नहीं हुई थी तब से। कभी कहीं मिले, कभी कहीं मिले। यही उनका मेरा साक्षात्परिचय समझिए, किन्तु उनका सबसे बड़ा परिचय तो उनकी कन्याओं की शिक्षा-दीक्षा से ही मिलता रहा है। आचार्याजी का धैर्य, आचार्याजी की सहनशीलता, आचार्याजी की दृढ़ता आदि गुण ही उनको आर्यजगत् में प्रख्यात करने में कारण हुए हैं।

देवीजी में सबसे बड़ा दुर्गुण था हठ, पर, वह हठ कन्या-गुरुकुल जैसी शिक्षा संस्था के संरक्षण में लग जाने से सुवर्ण बन गया—

'कार्यं वा साधयेयम् शरीरं वा पातयेयम्'

इस रूप का रहा उनका हठ ! आपने कन्या-गुरुकुल तो चलाया ही है, पर, आपने अपने व्याख्यानों द्वारा स्त्री-समाज में जो हलचल मचाई है, वह भी उल्लेखनीय है।

आचार्या लक्ष्मीदेवी ने स्त्री-समाज के कल्याण के हेतु जो कुछ किया है, उसको उत्तर प्रदेश के आर्य तो कभी भूल नहीं सकते। एक बात यहाँ अवश्य ही उल्लेख योग्य है। स्वर्गीय श्री नारायण स्वामीजी के वरद हस्त ने ही लक्ष्मीदेवी को इस कार्य में बड़ा बल दिया है। इसलिए लक्ष्मीदेवी के इस समस्त कार्य का श्रेय स्वामीजी को भी है।

मा के चरणों में—

[श्रीमती अक्षयकुमारीजी शास्त्री]

[यों तो माता लक्ष्मीदेवीजी की सबही छात्राओं और स्नातिकाओं पर वात्सल्य-वर्षा होती रहती है, सौभाग्यवती अक्षयकुमारी माताजी की वस्तुतः धर्मपुत्री हैं। हाथरस गुरुकुल को पुनर्जन्म देने से पूर्व इनका लालन-पालन और रक्षण-शिक्षण माताजी ने ही किया और जब अक्षयकुमारीजी सुशिक्षिता एवं सुसंस्कृता हो गई तो जाति-पाँति के प्रचलित वेहूदा बन्धनों को तोड़कर उनका विवाह आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध नेता, विद्वान् और शिक्षा-शास्त्री प्रिंसिपल श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल० के साथ कर दिया। तबसे यह आदर्श आर्य दम्पती धर्म, देश और समाज-सेवा में सर्वात्मना संलग्न हैं।
—सम्पादक]

माताजी !

कुछ ऐसा ही तो था वह मिलना—चुम्बक और लोहे के टुकड़े जैसा। कहाँ का चुम्बक और कहाँ का लोह-शकल ! संयोगवश पास आ गये और चुम्बक ने खींच लिया और कहा तू मेरे पास रह; तुझमें भी मेरे गुण आजावेंगे। लोह-शकल तो कुछ समझता न था, पर, वह चिपटा रहा।

लोह-शकल के पुण्य कर्मों के फलों की इति श्री यहीं न हुई। कुछ दिन बाद उसे ऐसा लगा कि वह पारस-मणि से छू रहा है। क्या सचमुच वह उसके सुवर्ण बनने का उपक्रम था ? था तो ऐसा ही। लोह-शकल को अवसर मिला, सुवर्ण में परिवर्त्तित होने का। ज्ञात नहीं वह सुवर्ण बना या नहीं—पर, पारस ने अपना प्रभाव डालने में कसर न रक्खी। यदि न बना तो उस पर चढ़े गहरे मैल की ही बाधा थी। पारस का क्या दोष ?

संसार कहता है, सभी स्वार्थी हैं, पर, पारस के लोहे को सुवर्ण बनाने के उपक्रम में पारस का क्या स्वार्थ ? वह तो उसका स्वभाव है। पारस ने न जाने कितने लोह-शकलों को सुवर्ण बनाने की चेष्टा की। धन्य है, वह पारस जिसका स्वभाव ही अकिंचन को सब कुछ बनाने का है।

स्नेहमयी !

लोग कहते हैं, वास्तविक प्रेम और सहानुभूति उन्हीं के लिए होती है, जिन्होंने पेट में पैर पसारे हों। पर, क्या इसके अपवाद नहीं, और क्या वह माता प्रशंसा की पात्र नहीं जिसमें इतनी उदारता हो ? ऐसी उदारता जिसके प्रभाव में लौकिक सम्बन्ध धीमे पड़ जावें।

माँ,

जीवन के पैंतालीस वर्ष तुम्हारी देख-रेख में काटे हैं, अनेक वर्षों तक तुम्हें पास से देखने का अवसर मिला है। है तो विचित्र-सा कि लड़की अपनी मां के बारे में लिखे, पर, अवसर ही ऐसा है। यह भी प्रलोभन है कि कुछ अपनी कृतज्ञता का प्रकाशन हो जावे।

मैंने अनुभव किया कि तुम्हारे अन्दर सभी के—और विशेषकर स्त्री-जाति के—उद्धार की भट्टी धधकती रही है। इसके लिए मैंने तुम्हें लालायित देखा, तड़पते देखा और देखा तुम्हें अपना सर्वस्व अर्पण करते। इसके आगे तुमने अपना सुख-दुःख नहीं देखा; अपनों की परवा न की; अपने गृहस्थ-जीवन को इस पर न्यौछावर कर दिया; गृहस्थी होते हुए भी वानप्रस्थी रहीं; सालों तपस्या का जीवन बिताया। मारी-मारी फिरीं अपने स्वप्न को मूर्त्त रूप देने को। प्रभु ने सुनी और कन्या-गुरुकुल हाथरस के रूप में तुम्हारी तपस्या-भूमि में गले मनोरथ-बीज का अंकुर निकला। तुम फूली न समायीं—तुमने उसे सींचा, पसीने से, दिन-रात एक कर और अपनों को भुला कर। तुमने अपने भुलाये जो तुम्हारे सदुद्देश्यों में साथी न हुए; पराये अपनाये जिन्होंने तुम्हारे साथ कन्धे से कन्धा लगाया। यही तो पहचान है लगन की। सांसारिक लोग इसे पागलपन कह सकते हैं—पर, ऐसे पागल और धुनी ही संसार में कुछ किया करते हैं।

मैंने देखा तुम्हारे भीतर सुधार की ज्वालाओं को उठते और प्रदीप्त होते। तुमने स्वयं कुरीतियों और रूढ़ियों को उनमें फूँका—औरों से फुँकवाया। फूँकने वालों को तुमने अपनाया। फूँकने वालों से मिलकर तुम्हें मुसकराते और गद्गद होते देखा; मानो मरुभूमि की लम्बी यात्रा में कोई अपने मिल गये हों।

तुमने अबला को सबला बनाने की चाह की। स्त्रियों की निर्बलता देख तुम्हें लज्जित होते देखा और देखा तरस खाते तथा दुखी होते। लड़के को बलवान और लड़की को निर्बल देख तुमने प्रकृति को कोसा और उसे ललकार दी। तुम्हारे भाव तुम्हारे द्वारा रखे गये 'सुवीरा' और 'वीरबाला' जैसे नामों में व्यक्त हो गये।

तुम निश्चिन्त रहना माँ ! तुम्हारी यह पुत्री तुम्हारे लगाये इस पौधे को लहलहाता और फूलता-फलता रखने के लिये अपना सर्वस्व लगाकर प्रयत्न करती रहेगी। तुम्हारे भरे हुए संस्कार विफल न होने पावेंगे और तुम्हारे ही गुण मेरे पाथेय बनेंगे। आशीर्वाद दो कि मैं तुम्हारे मातृऋण से उऋण हो सकूँ।

वैदिक धर्म में नारी का स्थान

[पूज्य श्री स्वामी ध्रुवानन्दजी महाराज]

वैदिक धर्म में नारी का स्थान बहुत ऊँचा माना गया है। एक विद्वान् ने तो यह लिखा है कि "नारी का महत्त्वपूर्ण विवेचन तथा स्थान वेद में वही है जो विश्व के सृजन में प्रकृति का है।" संसार के कुछ विद्वानों ने तो नारी को शैतान, निकृष्ट और नरक का द्वार बताया है। वे नहीं जानते थे कि नारी का वास्तविक स्वरूप क्या है। नारी का सम्मान नारी के उच्च वैदिक आदर्श का ही द्योतक है, और न मालूम लोग क्यों भूल जाते हैं कि एक साधारण दोहे में भी नारी का कितना सुन्दर चित्र माता के रूप में चित्रित किया गया है :—

नारी को मत निंदरियो, नारी नर की खान।
नारी से नर ऊपजें, ध्रुव प्रह्लाद समान॥

वैदिक साहित्य में नारी को "लक्ष्मी" कहा गया है। वह समस्त शक्तियों की अधिष्ठात्री देवी, वह विश्व की सृष्टि, स्थिति और प्रलय की प्रकृति-स्वरूपा मूर्तिरूप है। वह पूज्या और आराध्या है क्योंकि वह पुरुष का विश्राम-स्थल और उत्पत्ति स्थान है। पत्नी-स्वरूपा नारी को "जाया" भी कहते हैं। इसके लिये ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है, "तज्जाया भवति, यदस्यां जायते पुनः" अर्थात् वह जाया-रूप इसलिये होती है कि पुरुष स्वयं उसमें पुत्र-रूप में जन्म लेता है। ऋग्वेद ३-५३-६ में लिखा है "कल्याणी जाया, स्वरणं, गृहेते" अर्थात् तेरे घर में सौन्दर्य तथा कल्याण की प्रतिमा जाया-रूप स्त्री है। वास्तव में स्त्री को ही घर की संज्ञा दी जाती है, जैसा कि कहा भी है, गृहिणी गृहमित्युच्यते।"

वैदिक साहित्य में स्त्रियों को वही उच्च स्थान प्राप्त है, जो पुरुष को है। वेद-मंत्रों के द्रष्टा जैसे वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषि हुए वैसे ही कई वेद-मंत्रों की द्रष्टा स्त्री ऋषिकायें भी हुई हैं। इसीलिये हारीत स्मृति में स्त्रियों को ब्रह्मवादिनी, उपनयन और वेदाध्ययन की अधिकारिणी भी कहा गया है। यमाचार्य ने भी कहा है:—

पुराकल्पे कुमारीणां मौञ्जी बन्धनमिष्यते,
अध्यापनं च वेदानां सावित्री वाचनम् तथा।

अर्थात् प्राचीनकाल में कुमारियों के लिये भी मेखला आदि का धारण करना, वेदों का पठन-पाठन और गायत्री का उपदेश, इन सब का विधान था। लेकिन प्राचीन-काल की इस पावन परम्परा के विपरीत मध्यकाल के स्वार्थी लोगों ने "स्त्री शूद्रौ नाधीयताम्" लिखकर स्त्रियों को वेद पढ़ने के अधिकार से ही वंचित् कर दिया। यह कैसी विधि की विडम्बना थी! यदि स्त्रियाँ पढ़ती न होतीं तो ऋग्वेद के दशम मंडल के ८५ वें सूक्त की ४६ ऋचाओं की द्रष्टा 'सूर्य' की पुत्री ब्रह्मवादिनी "सूर्या" कैसे हो सकती

५

थी ? और दशम मंडल के १२५ वें सूक्त के ८ मंत्रों की ऋषिका अम्भृण ऋषि की कन्या "वाक्" कैसे होती ?

इसलिये मैं तो यही कहूँगा कि 'नारी जगत-जननी है, इसके लिये श्रद्धा का स्रोत मानव-हृदय में होना अनिवार्य है, तभी देश व राष्ट्र का कल्याण है।

हर्ष की बात है कि आधुनिक काल में ऋषि दयानन्द की कृपा से हमने नारी के महत्त्व को फिर समझा है और आर्यसमाज में स्त्री-शिक्षा-प्रचार से अनेक नारी-रत्न उत्पन्न हुए हैं। उनमें से एक माता लक्ष्मीदेवीजी हैं, जिन्होंने अपने तपोमय जीवन को कन्या-गुरुकुल सासनी द्वारा स्त्रियों में वैदिक शिक्षा का प्रचार तथा नारी जाति का उद्धार करने के लिए अर्पण कर दिया है। मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई, कि देवीजी की सेवाओं के उपलक्ष्य में एक अभिनन्दन-ग्रन्थ तैयार किया जा रहा है। उसी के लिये लिखी गई इन थोड़ी-सी पक्तियों के द्वारा मैं श्री माता लक्ष्मीदेवीजी को बधाई देता हुआ, भगवान् से उनके दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ। एवमस्तु। शुभम् भवतु।

आदर्श गृहस्थ

[श्री डाक्टर बाबूराम सक्सेना, एम. ए., डी. लिट्, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय]

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥

(मनुस्मृति)

गृहस्थाश्रम को ज्येष्ठाश्रम इस लिए कहा गया है, क्योंकि सारे आश्रम इस पर अवलम्बित हैं। यह आश्रम कठिन है इसीलिए मनुस्मृति में बताया गया है कि दुर्बल इन्द्रिय वाले इसका समुचित पालन नहीं कर सकते। जैन ग्रन्थों में इसको घोराश्रम बताया है क्योंकि सामान्य जन इस आश्रम के कर्त्तव्यों से घबड़ा जाते हैं। ब्रह्मचारी ने जो तपस्या का जीवन बिताया था उसकी इस जीवन में सच्ची परख होती है।

गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ विवाह संस्कार से होता है। इस संस्कार के समय ली हुई प्रतिज्ञाओं से पति-पत्नी एक सूत्र में बँधे हुए प्रेम पूर्वक कर्त्तव्य का पालन करते हैं। एक दूसरे के प्रति परम सन्तोष की भावना होनी चाहिए—

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥

यदि पति-पत्नी में परस्पर सन्तोष न हो तो सन्तान की शिक्षा-दीक्षा नहीं हो सकती। परस्पर मन-मुटाव के कारण ऐसे मतभेद उपस्थित हो जाते हैं, कि कलह हो

जाती है और सन्तान कभी पिता और कभी माता का पक्ष लेती है। इसलिए आदर्श गृहस्थ सदा ही अपनी पत्नी से परामर्श करके दैनिक व्यवहार करता है। वह घर के खर्च का सारा प्रबन्ध अपनी पत्नी के ज़िम्मे कर देता है। वह भी अपनी ज़िम्मेवारी समझ कर असुक्तहस्ता अर्थात् थोड़े-से व्यय से अधिक से अधिक काम चलाने वाली हो जाती है, क्योंकि वह जानती है कि इतने ही पैसे से काम चलाना है। आजकल वृद्ध माता-पिता का घर में रहना ही नियम है; उनका वानप्रस्थी होना अपवाद मात्र है। इनका भरण-पोषण और सेवा-शुश्रूषा पति-पत्नी दोनों का कर्त्तव्य है। अन्यत्र कहा है—

यो जीर्णकं जनयितारं मातरं गतयौवनां।
प्रभुः सन् न विभर्ति तं जानीयात् वृषलः इति ॥

अर्थात् जो अपने बुड्ढे माता-पिता का भरण-पोषण नहीं करता उसे चाण्डाल समझना चाहिए। आदर्श गृहस्थ अपने पिता-माता का और आवश्यकता पड़ने पर अपनी पत्नी के भी माता-पिता का भरण-पोषण श्रद्धा से करता है।

सन्तान की शिक्षा-दीक्षा उसकी मानसिक और शारीरिक योग्यता के अनुसार होनी चाहिए। आदर्श गृहस्थ यथाशक्ति इसका प्रबन्ध करता है और शक्ति न रहने पर अपने महत्त्वाकांक्षी पुत्र-पुत्रियों को अपनी कठिनाई बता कर सन्तुष्ट कर देता है। स्वतन्त्र विचारों का यह युग है और नई पीढ़ी के लोग प्रचलित वादों से आकर्षित होकर ऐसी बातें करना चाहते हैं, जो गृहस्थ अथवा उसकी पत्नी को अप्रिय हैं। ऐसी परिस्थिति में आदर्श गृहस्थ अपनी सन्तान को बुलाकर उन्हें समझाता-बुझाता है और यदि वे नहीं मानते तो उनको चेतावनी देकर तटस्थ हो जाता है। नीति शास्त्र यही उपदेश देता है—

लालयेत् पञ्चवर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत् ॥

यदि पुत्र से गृहस्थ का सिद्धान्त सम्बन्धी मत-भेद हो जाय और पुत्र गृहस्थ के सिद्धान्तों के प्रतिकूल आचरण करने पर तुला हो तो उसको प्रेम पूर्वक अलग कर देने में ही कल्याण है। आदर्श गृहस्थ का अपने और पत्नी के सम्बन्धी बान्धवों के प्रति समबुद्धि और सम व्यवहार होना चाहिए।

कुटुम्ब के प्रति कर्त्तव्य के उपरान्त गृहस्थ का राष्ट्र के प्रति भी कर्त्तव्य है और वह इस उच्चकोटि का होना चाहिए कि राष्ट्र एक सूत्र में बँधा हुआ सुख से रह सके। उसको वेद की इस सूक्ति में विश्वास है—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।

गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के मूल-तत्त्व

[श्री पं० इन्द्रजी, विद्यावाचस्पति (संसद-सदस्य), प्रधान, सार्वदेशिक सभा]

गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के मूल तत्त्वों को जानने के लिए हमें तैत्तरीय उपनिषद् का अध्ययन करना चाहिए। आजकल 'गुरुकुल', यह विशेष संस्थाओं का नाम हो गया है। इस कारण जब गुरुकुल की चर्चा होती है तब अपनी-अपनी भावनाओं के अनुसार उसके रूप की कल्पना कर लेते हैं। किसी की दृष्टि में विशेष प्रकार के पाठ्य विषय गुरुकुल के सूचक हैं तो किसी को खास ढंग के कपड़ों अथवा विशेष भाषा में गुरुकुल का आभास मिलता है। वस्तुतः यह सब गुरुकुल-शिक्षा के आनुषंगिक और गौण अंग हैं। इनमें समय और देश के अनुसार परिवर्त्तन हो सकता है। मूल-तत्त्व वे कहलाते हैं, जिनमें परिवर्त्तन न हो। गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के भी कुछ मूल-तत्त्व हैं। वे उसके बाह्य आवरणों से भिन्न हैं। आवरण बदलते रह सकते हैं, परन्तु मूल-तत्त्व अपरिवर्तनशील होने चाहिएँ। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के मूल तत्त्व तैत्तरीय उपनिषद् के नवम अनुवाक में वर्णित किये गये हैं। यहाँ मैं सम्पूर्ण नवम अनुवाक उद्धृत करता हूँ।

(१) ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च। दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। शमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्याय प्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्याय प्रवचने च। मानुषं च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजा च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यमिति सत्य वचा राथीतरः। तप इति तपो नित्यः पौरवाशिष्टिः। स्वाध्याय प्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः।

स्वाध्याय और प्रवचन अर्थात् पढ़ना-पढ़ाना तो सभी शिक्षणालयों में होता है। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की जो विशेषता है, वह केवल अक्षर-ज्ञान से नहीं, अपितु जीवन के निर्माण से सम्बन्ध रखती है। जिस विद्यालय में विद्या-प्राप्ति के साथ-साथ उन गुणों का भी शिक्षण दिया जाय जिनका इस अनुवाक में विधान है तो उसे गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का नाम दिया जा सकता है।

पहले हमें स्वाध्याय और प्रवचन का ठीक-ठीक अभिप्राय समझ लेना चाहिए। विद्या के अध्ययन को स्वाध्याय और अध्यापन को प्रवचन कहते हैं। उपनिषदों में विद्या दो प्रकार की बतलाई है। एक पराविद्या और दूसरी अपराविद्या। स्वाध्याय से अपराविद्या का सम्बन्ध है। अपराविद्या का विस्तार कितना है यह छान्दोग्य उपनिषद् के निम्नलिखित उद्धरण से विदित होगा। सनत्कुमार के पूछने पर नारद ने अपराविद्या का निम्नलिखित विवरण दिया है :—

(२) नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेद अथर्वणश्चतुर्थः इतिहास पुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाको वाक्यमेकामनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्र-

विद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या नामै वै तन्नामोपास्वेति ॥४॥ स यो नाम ब्रह्मेत्युपासते-ऽस्ति भज वो नाम्नो भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥५॥

इसमें जिन विद्याओं की चर्चा है उनके नामों की यदि विस्तृत व्याख्या की जाय तो हमें विदित होगा कि संसार की प्रायः सभी प्रकार की विद्याओं का उनमें समावेश है। इतिहास-पुराण को पाँचवाँ वेद कहा गया है। इसमें इतिहास और पुराण इन दो शब्दों को इकट्ठे देखकर कुछ लोग भ्रम में पड़ जाते हैं कि शायद पुराण ही इतिहास है। बात यह है कि इतिहास के दो भाग हैं। एक वह भाग है जो पुष्ट प्रमाण पर आश्रित होने के कारण सर्वथा निश्चित इतिहास कहा जा सकता है। इतिहास का दूसरा भाग वह है जो अनुमान और कल्पना के आधार पर बनाया जाता है। सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई ? इसका विस्तृत विवरण जब भी लिखा जाएगा, तब उसका आधार अनुमान प्रमाण ही होगा। इतिहास के इस भाग को पुराण कहते हैं। सृष्टि-उत्पत्ति के सम्बन्ध में आजकल की नवीन से नवीन वैज्ञानिक पुस्तक को उठा कर पढ़िए, आप उसमें अनुमान और कल्पना का पर्याप्त हिस्सा पाएँगे। अचेतन में से चेतन कैसे उत्पन्न हुआ ? नवीन विज्ञान इस प्रश्न का आज तक निश्चयात्मक उत्तर नहीं दे सका, तो भी मिस्टर वेल्स ने संसार का इतिहास लिखते हुए प्रारम्भिक परिच्छेदों में सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन कर दिया है। इतिहास के इस भाग को हमारे यहाँ पुराण कहा गया है। 'भूतविद्या' शब्द का कुछ लोग अभिप्राय समझते हैं कि उस समय कोई भूत-प्रेतों की विद्या होती थी। भूत शब्द यहाँ पंच भूतों का वाचक है। इसमें भौतिक (फ़िजिक्स) और रसायन (कैमिस्ट्री) दोनों का समावेश हो जाता है। नक्षत्रविद्या, सम्पूर्ण ज्योतिष जिसमें एस्ट्रोनोमी भी शामिल है, का वाचक है। 'सर्पजनदेवविद्या' इस लम्बे समस्त शब्द से उन सब विद्याओं का ग्रहण होता है जो चेतन प्राणियों के शरीर से सम्बन्ध रखती हैं। इन सारी विद्याओं की पूर्ति चारों वेदों के अध्ययन से होती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि उस समय के शिक्षा-क्रम में स्वाध्याय का कार्य-क्रम बहुत विस्तृत था। उसमें प्रायः सभी ऐहिक विषयों का समावेश हो जाता था। शिक्षा के इस भाग को स्वाध्याय द्वारा पूरा कराया जाता था।

परन्तु प्रवचन करने वाले गुरुजन केवल इन विद्याओं का अभ्यास कराकर सन्तुष्ट नहीं हो जाते थे। वे चारों वेदों के ज्ञान-तप को शिक्षा का एक अपूर्ण अंग मानते थे। शिक्षा की पूर्णता के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती थी, उनका प्रतिपादन तैत्तरीय उपनिषद् के उस अनुवाक में दिया गया है, जो इस लेख के आरम्भ में उद्धृत है। महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में इसकी निम्न व्याख्या की है।

(ऋतम्) यथार्थ आचरण से पढ़ें और पढ़ावें (सत्यम्) सत्याचार से सत्य विद्याओं को पढ़ें और पढ़ावें (तपः) तपस्वी और धर्मानुष्ठान करते हुए वेदादि शास्त्रों को पढ़ें और पढ़ावें (दमः) बाह्य इन्द्रियों को बुरे आचरण से रोक के पढ़ें और पढ़ाते जायें (शमः०) मन की वृत्ति को सब प्रकार के दोषों से हटा कर पढ़ते और पढ़ाते जायँ

(अग्नयः०) आहवनीयादि अग्नि और विद्युत आदि को जान के पढ़ते-पढ़ाते जायें। और (अग्निहोत्रम्०) अग्निहोत्र करते हुए पठन और पाठन करें करावें (अतिथयः०) अतिथियों की सेवा करते हुए पढ़ें और पढ़ावें (मानुषम्०) मनुष्य सम्बन्धी व्यवहारों को यथा योग्य करते हुए पढ़ते-पढ़ाते रहें (प्रजा०) सन्तान और राज्य का पालन करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जायें (प्रजन०) वीर्य की रक्षा और वृद्धि करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जायें (प्रजातिः०) अपने सन्तान और शिष्य का पालन करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जायें।

इससे आगे उपनिषद्‌कार ने आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत दिये हैं। आचार्य रथीतर सत्य वाणी को सबसे ऊँचा रखते हैं। आचार्य पौरुशिष्टिः तप को मुख्यता देते हैं और आचार्य मौद्गल्य स्वाध्याय और प्रवचन को शिक्षा का प्रधान अंग मानते हैं, वही तप है।

इन उपनिषद्-वाक्यों से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है कि केवल पुस्तक-विद्या-प्राप्त करने का नाम शिक्षा नहीं है। स्वाध्याय और प्रवचन तो चरित्र के साधन मात्र हैं। मुख्य गुण वे हैं जिनका समावेश उपसंहार के वाक्य में उपनिषद्‌कार ने तप शब्द के अन्दर किया है।

स्वाध्याय और प्रवचन द्वारा साध्य गुण कौन-से हैं इसका उत्तर उपनिषद्-वाक्य में आ गया। ऋत-सत्य-तप-दम और शम ये गुण हैं जो मनुष्य-चरित्र को ऊँचा बनाते हैं। यदि स्वाध्याय और प्रवचन इन गुणों के सहायक हैं तो वे ठीक हैं, और यदि बाधक हैं तो हेय हैं। गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता जो उसे अन्य प्रणालियों से भिन्न करती है, यह है कि जहाँ अन्य शिक्षा-पद्धतियों में अध्ययन पर अधिक बल दिया जाता है, वहाँ गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली में अध्ययन को केवल साधन मान कर चरित-निर्माण को मुख्यता दी जाती है।

तैत्तरीय-उपनिषद् के तीसरे अनुवाक में संक्षेप से यह भी बतलाया गया है कि शिक्षा की पूर्णता के लिए गुरु और शिष्य में परस्पर कौनसी भावना रहनी चाहिए। गुरु और शिष्य इस प्रकार परस्पर प्रतिज्ञा करें" "सह नौ यशः सह नौ ब्रह्म वर्चसम्।" हम दोनों का यश और ब्रह्मवर्चस साथ ही साथ हो। इसी भावना को इस ऋचा में भी स्पष्ट रूप से बतलाया गया है—

सहनाववतु सहनौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै,
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।

(३) गुरु और शिष्य इस प्रकार परस्पर प्रतिज्ञा करते हैं कि परमात्मा से हमारी रक्षा सम्बन्धी प्रार्थना समान हो। संसार की वस्तुओं का व्यवहार हम मिल कर करें। परस्पर सहयोग से अपना बल और तेज बढ़ाएँ। हमारा अध्ययन एक दूसरे के लिए हो और हम कभी परस्पर विद्वेष न करें।

इन बातों के अनुशीलन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं, कि भारत की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में तीन तत्त्व मुख्य थे—(१) गुरु और शिष्य का आध्यात्मिक सम्बन्ध।

(२) सत्य-तप-दम और शमादि साधनों द्वारा दृढ़ चरित का निर्माण और (३) स्वाध्याय] अर्थात् अपरा विद्या की प्राप्ति। यही गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का मूल रूप है। शेष सब साधन मात्र हैं। बुद्धिमानों को प्रत्येक वस्तु का निर्णय करते हुए यह देखना चाहिए कि जहाँ वह परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार गौण चीजों में परिवर्त्तन करने को सदा उद्यत रहें, गुरुगुल-शिक्षा-प्रणाली के मूल तत्त्वों पर आँच न आने दें।

धर्म का आदि स्रोत

[श्री पं० गंगाप्रसादजी, एस-ए; एम-आर-ए-एस, पूर्व प्रधान सार्वदेशिक सभा]

(१) *धर्म का मूल*—धर्म का मूल क्या है? इस प्रश्न के दो उत्तर हैं। कुछ लोग उसका मूल ईश्वर को मानते हैं, कुछ उसकी उत्पत्ति मनुष्य से मानते हैं। धर्म का मूल ईश्वर को मानने वाले इस बात को स्वीकार करते हैं कि धर्मों के विकास व वृद्धि में मनुष्यों का, उनके इतिहास का, भौगोलिक अवस्था आदि का बहुत प्रभाव पड़ता है। सिद्धान्त यह है कि धर्म का आदि मूल ईश्वर है।

(२) योरुप के सुप्रसिद्ध तत्त्वज्ञ श्री देकार्त्त Des Cartes इस विषय में ऐसा लिखते हैं :—"मैं जितना सोचता हूँ, उतना ही मेरा यह विश्वास दृढ़ होता है कि ईश्वर का विचार मेरे मन में उत्पन्न नहीं हुआ। मेरी आत्मा शान्त है, और ईश्वर अनन्त है। मेरी आत्मा अल्पज्ञ है, ईश्वर सर्वज्ञ है। मेरी आत्मा परतंत्र है, ईश्वर स्वतंत्र है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर का विचार मेरे मन ने उत्पन्न नहीं किया, उसकी छाप ईश्वर ने ही मेरे मन पर लगाई। इन विचारों की सत्यता इस बात से भी प्रकट होती है कि हमारा ईश्वर संबन्धी ज्ञान अन्य ज्ञानों के सदृश नहीं है। उसमें हमारे अन्य ज्ञानों के समान परिवर्त्तन या उन्नति नहीं होती।

हम जानते हैं कि ईश्वर अनन्त है, सर्वत्र, सर्वशक्तिमान् व न्यायकारी है, इत्यादि। परन्तु ऐसा कोई समय न था जब कि इन गुणों में से किसी एक का भी ज्ञान मनुष्यों को न रहा हो? प्राचीन से प्राचीन वेदों के ऋषि इन गुणों के साथ ईश्वर की स्तुति करते हैं। वर्त्तमान समय के तत्त्वज्ञ वा धर्म-प्रवर्त्तक भी इन से अधिक और किन गुणों को जानने का अभिमान कर सकते हैं।

अन्य विषयों में हमारा ज्ञान निरन्तर बढ़ता जा रहा है और बढ़ता जायगा। पर यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि ऐसा कोई समय नहीं आयेगा जबकि ईश्वर के विषय में कोई नयी बात हो जाय। इसका यही कारण है कि ईश्वर संबन्धी ज्ञान मनुष्य के मस्तिष्क की उपज नहीं है।

जो बात ईश्वर के ज्ञान के विषय में कही गयी वही सब धार्मिक ज्ञान के बारे में भी समझनी चाहिये। धर्म-ज्ञान के क्षेत्र में न कोई नया अन्वेषण हुआ और न होगा।

सब आचार्य्यों ने धर्म-ज्ञान को पाकर केवल उसका प्रचार किया। वे कोई आदि गुरु नहीं थे। प्रो० मैक्समूलर का कथन है "सृष्टि उत्पत्ति के आरंभ काल से ऐसा कोई भी धर्म नहीं हुआ जो सर्वथा नूतन हो।"

(३) *संसार के मुख्य धर्म*—संसार में बहुत-से धर्म व मतमतान्तर हैं। पर उनमें मुख्य धर्म छह हैं, जो इस प्रकार हैं :—

(१) *वैदिक धर्म*—यह सब से पुराना है। आर्य लोग मानते हैं; मनुष्य की सृष्टि के आरम्भ काल में ईश्वर ने वेदों का ज्ञान दिया। प्रो० मैक्समूलर ने स्वीकार किया है कि संसार के साहित्य में वेदों से अधिक पुराना कोई ग्रन्थ नहीं है।

(२) *पारसी या जरदुश्ती धर्म*—जो ईसा से ६००० वर्ष पुराना है। इसके आदि प्रचारक म० जरदुश्त थे।

(३) *बौद्ध व जैन मत*—जिनका आरम्भ ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व हुआ।

(४) *यहूदीमत*—इसके प्रथम नबी इबराहीम थे जो ईसा से १६०० वर्ष पूर्व हुए, परन्तु उनका रचा कोई ग्रन्थ नहीं है, उनके बाद व ईसा से १५६० वर्ष पूर्व मूसा नबी हुए जिनका लिखा पंजनामा है जो यहूदियों की प्रथम पुस्तक है।

(५) *ईसाईमत*—जिसके संस्थापक महात्मा ईसा मसीह हुए, जिनका सन् ईसवी जारी है, अर्थात् उनको १६५५ वर्ष बीते।

(६) *इस्लाम*—अथवा मुसलमानी धर्म जिसके प्रवर्त्तक हजरत मुहम्मद साहब थे जिनको लगभग १४०० वर्ष बीते।

संसार के अन्य मत-मतान्तर सब इन्हीं बड़े छह धर्मों के अन्तर्गत हैं।

इन धर्मों का विचार पूर्वक मिलान किया जाय तो मूल धर्मों में बहुत कुछ समानता पाई जाती है। जो भेद हैं वे थोड़े हैं और पीछे के हैं।

(४) *नये मतमतान्तरों की उत्पत्ति*—धर्मों के अध्ययय से विदित होता है कि प्रत्येक धर्म आरम्भ में शुद्ध होता है, पीछे उसमें कुछ दोष आ जाते हैं। यह भी संसार का नियम है कि जब किसी धर्म में पुरोहितों की स्वार्थता वा सर्वसाधारण के अज्ञान से कोई विशेष दोष आ जाता है, तो कोई महात्मा पैदा होता है, और उसका सुधार करता है। इस प्रकार लगभग प्रत्येक नवीन धर्म या मत के आरम्भ में किसी प्राचीनतम धर्म की तत्कालीन दशा का संशोधन रूप होता है, जैसा आगे स्पष्ट करके दिखलाया जायगा।

(५) *बौद्ध व जैन धर्म का आरम्भ*—महात्मा गौतम बुद्ध से पहले वैदिक धर्म में दो बड़े दोष आगये थे।

(क) यज्ञों का वेदों से बड़ा महत्त्व है, पर यज्ञों में हिंसा नहीं होती थी। अध्वर शब्द का अर्थ ही, जो यज्ञ का पर्य्याय है, हिंसा रहित है। परन्तु इस समय यज्ञों में पशुओं की बलि दी जाने लगी थी। गौ की भी बलि होती थी।



स्नातिका-मण्डल (प्रथम)

पूज्य महात्मा नारायण स्वामीजी भी विराजमान हैं

(ख) वैदिक वर्ण व्यवस्था के अनुसार सब मनुष्य जन्म से समान हैं। कोई ऊँच-नीच का भेद नहीं। पर इस समय शूद्र जन्म के कारण ही नीच माने जाते थे और उन पर समाज की ओर से बहुत अत्याचार होता था। म० बुद्ध ने इन दोनों का प्रबल खण्डन किया। उनका उद्देश्य कोई नवीन धर्म स्थापन करने का नहीं था। श्री महावीर स्वामी का भी यही उद्देश्य था और वे भी एक धर्म-संशोधक थे। पर वे बौद्ध तथा जैन धर्म के संस्थापक माने गये।

(६) पारसी वा ज़रदुश्ती धर्म का आरम्भ—इस धर्म के संस्थापक महात्मा ज़रदुश्त संस्कृत जरदुष्ट वृद्ध व उग्र थे। उनका धर्म-ग्रन्थ ज़न्द अवस्था है। छन्द शब्द ही का रूपान्तर 'ज़न्द' है, जिसका अर्थ वेद है। उसकी भाषा और वेद की भाषा में उससे भी कम अन्तर है, जो वैदिक भाषा व संस्कृत में हैं। उस ग्रन्थ के छन्द भी वे ही हैं जो वेदों में आये हैं, जैसे कि यज्ञ-क्रिया का बड़ा महत्त्व है। कहावत है कि "पारसी की अग्यारी कभी नहीं बुझती," अर्थात् यज्ञ की अग्नि निरन्तर बनी रहती है, दोनों धर्मों के अनुयायियों का नाम आर्य है। वर्ण-व्यवस्था वेदों के समान है। ईश्वर सम्बन्धी विचार एक ही हैं। मिथ्र (मित्र), वरण (वरुण) रत्रन्न आदि ईश्वर के नाम हैं। वास्तव में ज़रदुश्ती धर्म एक प्रकार वैदिक धर्म का ही रूपान्तर है* ज़रदुश्ती लोगों के पूर्वज आर्य्यावर्त ही में बसे हुए थे, यह बात पूर्णतया सिद्ध है, महात्मा ज़रदुश्त के समय में वैदिक आर्य्यों में दो भारी दोष आ गये थे—(१) यज्ञों में पशु-बलि देना और (२) एक ईश्वर के स्थान में बहु देव-देवताओं की मान्यता। महात्मा ज़रदुश्त ने (जैसा कि पीछे महात्मा बुद्ध को भी करना पड़ा), इन दो दोषों का खण्डन किया। परिणाम यह हुआ कि "देव" शब्द ज़न्द में दैत्य या दानव के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। बहराम यश्न के ५४ मंत्र में यह कहा है—यज्ञ ठीक रीति से नहीं होते, और देव पानी की तरह रुधिर बहाते हैं। यह पशु-बलि के यज्ञों की निन्दा है।

ईश्वर की एकता पर भी ज़रदुश्त ने अपने उपदेशों में बहुत बल दिया है। उसने अपने विरोधियों का नाम "देव यस्नी" (अर्थात् दानव पूजक) और अपने अनुयायियों का नाम "मज़दा यस्नी" अर्थात् "मेधा पूजक" रक्खा था।

इन दो दोषों के कारण महात्मा ज़रदुश्त अपने अनुयायियों को साथ लेकर आर्य्यावर्त से ईरान चले गये। मेक्समूलर आदि विद्वानों ने इसकी पुष्टि की है।

ज़रदुश्ती धर्म में एक दोष है, उसने एक ईश्वर धर्म का और दूसरा अधर्म का भी माना है। यहूदी मत ने बहुत से सिद्धान्त जरदुश्ती मत से ग्रहण किये। उसने उनके साथ इस दोष को भी ले लिया, अर्थात् खुदा व शैतान का मन्तव्य।

* विषय लम्बा है, विस्तार की आवश्यकता है, उसके लिये मेरे लिखे "धर्म के आदि स्रोत" का ९ वाँ अध्याय पढ़िये।

(७) *सामी धर्म अर्थात् यहूदी, ईसाई व इस्लाम धर्म*—ऊपर जो वैदिक धर्म, बौद्ध, जैन व जरदुश्ती धर्म की व्याख्या की गयी वे सब आर्य्य धर्म हैं। शेष जो तीन धर्म रहे अर्थात् यहूदी, ईसाई व इस्लाम ये सामी (Semetic) धर्म कहलाते हैं। इनमें यहूदी मूल धर्म है, शेष दो इसकी शाखा हैं।

यहूदी धर्म ने अपने सिद्धान्त बहुत अंश में जरदुश्ती मत से ग्रहण किये। ईश्वर का विचार जरदुश्ती मत में बहुत ऊँचा है वह वेद के आधार पर है। यहूदी मत में उसकी बहुत अवनति हो गई। जब खुदा ने आदम व हव्वा को बनाया तो वह उनसे बात-चीत करता है। जब उसकी आज्ञा का उलंघन किया गया तो वह पश्चात्ताप करता है कि उसने उनको क्यों बनाया। उनको नष्ट करने के लिये एक बड़ा तूफान भेजता है। तूफान के अन्त में वह फिर पश्चात्ताप करता है कि उसने उनको क्यों ऐसा किया। यह सब बाइबिल की उत्पत्ति की पुस्तक के अ० ५ में वर्णन है। यह चित्र है जो यहूदियों की धर्म पुस्तक में ईश्वर का दिया गया है, जिसमें वह क्रोध करता है व पश्चात्ताप करता है।

(८) *ईसाई धर्म की स्थापना*—यहूदी लोग हमारे सनातनी ब्राह्मणों की तरह अपनी जन्म-जाति का अभिमान कर अन्य लोगों को नीचा समझते थे। इस सुधार के लिये ईसाई धर्म की स्थापना हुई। ईसामसीह का उपदेश था कि सब मनुष्य ईश्वर के पुत्र हैं। सब समान हैं, परन्तु इस सुधार के साथ ईसाई धर्म में एक यह बड़ा दोष आ गया कि वे पिता, पुत्र व पवित्र आत्मा रूप से ईश्वर में तीन आत्मा मानते हैं जिस से ईश्वर की एकता नष्ट हो गई। दूसरा यह दोष है कि कुछ सुधारक शाखाओं को छोड़कर (जो प्रोटेस्टेंट कहलाते हैं) शेष सब ईसाई जिनकी संख्या लगभग दो तिहाई है और जो रोमन कैथोलिक कहलाते हैं; ईसा व मर्यम की मूर्ति अपने गिरजों में रखकर उसे धूप-दीप देते और पूजते हैं।

(९) *इस्लाम धर्म की स्थापना*—हजरत मुहम्मद साहब को ईसाइयों की मूर्ति-पूजा व ईश्वर में तीन आत्माओं की धारणा (Trinity) से बहुत घृणा थी अतः उन्होंने इनका बल पूर्वक खण्डन किया। इसी कारण इस्लाम धर्म की स्थापना हुई जिसमें ईश्वर की एकता (वहदानियत पर) बहुत बल दिया गया है, और मूर्ति-पूजा से घोर विरोध किया गया है। परन्तु इस्लाम में यह बड़ा दोष है कि ईश्वर का स्वरूप बहुत गिरा दिया गया है; उसमें ईश्वर का चित्र ऐसा खींचा गया है, मानो वह एक बिलकुल स्वेच्छाचारी क्रूर स्वभाव का सम्राट है। वह काफिरों को शाप देता है, उनसे युद्ध ठानता है और मुसलमानों को भी उनसे युद्ध करने का आदेश देता है। वह अपने को माकर (मक्कार) कहने में नहीं हिचकता—इत्यादि।

(१०) *उपसंहार*—वर्त्तमान युग में विकासवाद का बहुत प्रचार है। सब विषयों में वह लागू किया जाता है। देखना चाहिये कि धार्मिक ज्ञान में यह कहाँ तक लागू हो सकता है। विकास का साधारण अर्थ यह है कि बीज से अंकुर फूटता है। अंकुर से

धीरे-धीरे वृक्ष बनता है, उसमें शाखाएँ फूटती हैं। इस अर्थ में धर्म का विकास भी माना जा सकता है। ईश्वर ने धर्मज्ञान के बीज रूप वेद दिये। ऋषियों ने स्वाध्याय आदि से उस ज्ञान की वृद्धि की। वेदों के अंग व उपांग तथा अन्य शास्त्र बने। वही ज्ञान आर्य्यावर्त से अन्य देशों में फैला अर्थात् ईरान में जरदुश्ती मत के रूप में फिलस्तीन में यहूदी व ईसाई मत के रूप में और अरब में इस्लाम के रूप में, इन मतों में जो सत्य है, वह वेदों से गया। जितना असत्य है, वह पिछला बढ़ाया हुआ है। इन धर्मों के अध्ययन से पाया जाता है, कि वेदों में जो ईश्वर का स्वरूप है, वह शुद्ध और पवित्र है और बहुत उच्च है। वहाँ से चल कर वह अवनत ही होता गया। जरदुश्ती मत में एक ईश्वर के स्थान में ही ईश्वर अहुर मजदा व अंगिरा मन्यु हो गये, वे खुदा व शैतान के नाम से यहूदी, ईसाई व मुसलमान मतों में भी बने रहे, ईश्वर का स्वरूप भी गिरता चला गया। यह वर्त्तमान विकासवाद के विरुद्ध ही है। श्री ग्रैएट एलिन महोदय को, जो विकासवाद के आचार्य हैं, अपनी पुस्तक (Evolution of the Idea of God) यह स्वीकार करना पड़ा कि ईसाइयों ने एक महत्त्वपूर्ण विचार यहूदियों से लेकर उसको बिगाड़ दिया क्योंकि उससे ईश्वर की एकता नष्ट हो गई, इस्लाम मत इन सब मतों से पीछे प्रकट हुआ, वह इन सब से कम उन्नत व कम परिपक्व है। इससे सिद्ध है कि धर्मज्ञान के क्षेत्र में यह नया विकासवाद लागू नहीं क्योंकि जैसा श्री दे कार्त Des cartes महोदय ने कहा है ईश्वर का ज्ञान मनुष्य के मन की उपज नहीं, ईश्वर ही का दिया हुआ है; उसमें वृद्धि या उन्नति नहीं हो सकती।

आर्य्य साहित्य

[विद्वद्वर श्री पं० गङ्गाप्रसादजी उपाध्याय, एम. ए.]

मनुष्य के शरीर में मस्तिष्क का जो स्थान है वही स्थान किसी समाज में साहित्य का है। मनुष्य की उत्कृष्टता उसके चमड़े, उसके बाहरी अङ्गों या उसके अवयवों की लम्बाई-चौड़ाई से नहीं जानी जा सकती। बड़ा मनुष्य वही है जिसके शरीर में बड़ा मस्तिष्क है अर्थात् जिसमें सोचने की शक्ति अधिक हो। संसार में ऐसे सुडौल, स्वरूपवान और विशालकाय मनुष्य देखे जाते हैं, जो या तो उन्मत्त हैं या सोचने के सर्वथा अयोग्य। इनकी गणना बड़े मनुष्यों में नहीं है, इसी प्रकार यदि किसी समाज की उत्कृष्टता नापनी हो तो उसके बड़े-बड़े भवनों, उसकी विशाल संस्थाओं, उसके धन या जन की मात्रा से मत नापो। यह देखो कि उसका साहित्य कैसा है। साहित्य समाज का मस्तिष्क है।

मस्तिष्क की शक्ति के प्रयोग, संरक्षण और संवर्धन के कुछ नियम हैं। इसी प्रकार साहित्य के प्रयोग, संरक्षण और संवर्धन के भी नियम हैं। समाज का धन, समाज के भवन और समाज की संस्थायें, समाज की ऊपरी तथा वर्त्तमान अवस्था का कुछ-कुछ पता देती हैं। परन्तु समाज का साहित्य इस बात को बताता है कि समाज के लोग क्या

सोच रहे हैं और उनका भविष्य क्या होगा। मननशील मनुष्य भविष्य की सोचता है और भविष्य-निर्माण पर ही अधिक बल देता है। इसी प्रकार मननशील समाज अपने साहित्य-निर्माण पर पूरा बल देता है। विद्वान् का धन बैंक नहीं, अपितु पुस्तकालय है। समाज भी वही उन्नतिशील होगा जिसने अपने साहित्य के संरक्षण और संवर्धन की ओर ध्यान दिया है।

आर्य्यसमाज के साहित्य का आरम्भ ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों से होता है। यों तो ऋषि दयानन्द की कर्मण्यता का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है, परन्तु सबसे अधिक बल उन्होंने साहित्य पर दिया है। जब ऋषि ने कार्य आरम्भ किया तब सबसे पूर्व भागवत-समीक्षा विषय पर एक पुस्तिका लिखी। फिर वह निरन्तर लिखते ही रहे। चाहे एक स्थान पर जम कर बैठे, चाहे प्रचारार्थ इधर-उधर भ्रमण करते रहे परन्तु साहित्य-निर्माण उन्होंने मरते दम तक नहीं छोड़ा।

इसका एक बड़ा उत्तम प्रभाव पड़ा। हमको ऋषि के पश्चात् उनके विचारों का एक स्थायी संग्रह उपलब्ध हो गया, जिससे हम ऋषिवर के मन्तव्य और अमन्तव्यों को भली भाँति समझ सकते हैं। संसार में बहुत-से महापुरुष हुये हैं जिन्होंने अपने सामने अपना साहित्य नहीं बनाया और उनके अनुयायियों को मनमानी शैली का अवलम्बन करके उनके नाम पर साहित्य बनाना पड़ा। मुसलमानों के कुरान शरीफ़ को हज़रत मुहम्मद साहब के मरने के बाद उनके खलीफाओं ने लोगों से पूछताछ करके इकट्ठा किया, और उसी को मुसलमानों ने 'खुदा के कलाम' की उपाधि दे दी। अरस्तू नगर की गलियों में फिर-फिर कर मौखिक उपदेश दिया करता था। अरस्तू के मरने पर उसके शिष्यों ने उसके उपदेशों को अपने-अपने ढंग पर संगृहीत किया। हज़रत ईसा ने कोई पुस्तक नहीं छोड़ी। उनके मरने के कई दशक पीछे तक किसी को पता न लगा कि ईसा के विचार क्या थे। पीछे से ईसाइयों ने वह इंजीलें बना डालीं जिन्हें लूका की इंजील, मती की इंजील, मर्कस की इंजील और यूहन्ना की इंजील कहते हैं। ईसा की कोई पुस्तक प्राप्य नहीं है। महात्मा बुद्ध का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'धम्म पद' उनका लिखा नहीं है। बहुत दिनों के बाद बौद्ध विद्वानों ने बुद्ध के उपदेशों का संग्रह अपने ढंग से अपने शब्दों में कर दिया। परन्तु ऋषि दयानन्द ने साहित्य का कार्य स्वयं अपने हाथ में लिया। सन् १८७५ में सत्यार्थप्रकाश लिखा। फिर अन्त समय में उसको शोधा। वेदों के विषय में "भूमिका" लिखी और वेद-भाष्य किये। जितना साहित्य ऋषि अपने द्वारा बना गये उसके आकार को देखकर ही चकित होना पड़ता है। कब लिखते या लिखवाते थे कैसे लिखते या लिखवाते थे और इस सबके लिए समय कहाँ से लाते थे यह सब अचम्भे में डालने वाले विषय हैं। ऋषि के निर्मित या निर्मापित साहित्य ने आर्य्यसमाज के भविष्य को उज्ज्वल और दीर्घजीवी बना दिया। ऋषि की मृत्यु के पूर्व का आर्य्यसमाज का साहित्य केवल ऋषि का अपना ही साहित्य है। उसमें किसी अन्य का हाथ नहीं है। उनके समय में उनके भक्त मुंशी इन्द्रमणिजी मुरादाबादी ने अरबी और फ़ारसी के आधार पर इस्लाम

धर्म की आलोचना में कुछ उर्दू की पुस्तकें लिखी थीं जिनमें 'इन्द्रवज्र' सबसे बड़ी और प्रसिद्ध पुस्तक थी, उन्हीं के आधार पर धर्मवीर पं० लेखराम ने बहुत कुछ लिखा। ऋषि के पश्चात् साहित्य-निर्माण का जो काम हुआ उससे आर्य्यसमाज की साहित्य-प्रियता का परिचय नहीं मिलता। हाँ, यह सिद्ध होता है कि आर्य्यसमाज आन्दोलन-प्रिय पहले भी था और अब भी है। जो बात आर्य्य समाजियों के ध्यान में आ जाती है उसके ऊपर आकाश-पाताल एक कर देते हैं। परन्तु आर्य्य समाजियों ने समाज के साहित्य-निर्माण में उतना धन, उतना मन और उतना परिश्रम नहीं लगाया जितना अन्य बातों में। इसका फल भी वैसा ही निकला। जैसा गुड़ डालोगे वैसा ही मीठा होगा। आज संसार के साहित्य में आर्य्यसमाज के साहित्य या साहित्यकारों का नाम तक नहीं है। ऋषि के ग्रन्थों को भी कोई नहीं जानता क्योंकि उनके अनुगामियों ने इसकी ओर ध्यान नहीं दिया। आर्य्य-समाज में कई साहित्यकार हुए जिन्होंने व्यक्तिगत रूप से भरसक हाथ-पैर मारे, परन्तु आर्य्यसमाज ने न तो उनका मान किया न उनकी उत्साह वृद्धि की। इसलिये साहित्यकार भी पनप न सके। साहित्यकारों में जो आन्दोलक भी हुये या जिन्होंने कोई संस्था बना डाली वह तो कुछ न कुछ मान पाते रहे परन्तु अपने साहित्य के कारण नहीं अपने आन्दोलन सम्बन्धी गुणों के कारण। इस श्रेणी में भजनीक अधिक हैं। उनसे दूसरा नम्बर है खण्डनात्मक जोशीला साहित्य उत्पन्न करने वालों का या राजनीतिक शोर मचाने वालों का। परन्तु इसको तो मुख्य साहित्य नहीं कहते। यह तो साहित्य के बाहरी अंग हैं; स्थायी भी नहीं। जैसे बथुए का साग थोड़े ही दिनों रहता है उस प्रकार भजनों के संग्रह भी थोड़े ही दिनों रह पाते हैं और पुरानों के स्थान में नये आ जाते हैं। भजन न संगीत है न काव्य और इनमें ऐसा कोई गुण नहीं कि दीर्घ भविष्य तक सुरक्षित रह सकें। यही अवस्था कुछ गम्भीर साहित्य बनाने वालों की है। उनका मूल्य सामान्य जनता ने इसलिये नहीं जाना कि सर्व साधारण बहुत गहराई की बात नहीं समझ सकते और न नेताओं ने जाना क्योंकि उनको अपने ही काम से अवकाश नहीं मिला। जो लोग भवन के झण्डों का मान करते हैं और नींव की दृढ़ता को गौण समझते हैं उनके भवन दीर्घजीवी नहीं हो सकते। आर्य्यसमाज का यह सबसे कमजोर पक्ष है और इससे भी कमजोर बात यह है कि आर्य्यसमाज के नेता इसको अपनी कमजोरी नहीं समझते। अब थोड़ा-सा पिछले साहित्य के विषय में विचार कीजिये।

ऋषि दयानन्द वेद-भाष्य को अधूरा ही छोड़ गये थे। श्री पं० शिवशङ्कर शर्मा काव्यतीर्थ तथा श्री आर्यमुनिजी ने ऋग्वेद को कुछ आगे चलाने का यत्न किया परन्तु पूरा न कर सके। पं० तुलसीरामजी स्वामी ने सामवेद भाष्य किया। पं० गिरिधारीलालजी ने अथर्व वेद का भाष्य आरम्भ किया परन्तु वह कार्य अधिक आगे न बढ़ा। इस काम को प्रयाग के श्री पं० क्षेमकरणदासजी त्रिवेदी ने पूरा किया। श्री जयदेवजी विद्यालङ्कार ने चारों वेदों का भाषा में अनुवाद किया। यह बड़ा लगन का काम था। श्री सातवले-करजी ने भी अच्छा काम किया परन्तु उनकी प्रणाली ऋषि दयानन्दसे कुछ भिन्न हो गई।

दर्शनों के भाष्यकार हुए, आर्यमुनि, स्वामी हरिप्रसाद, पं० तुलसीराम, स्वामी

दर्शनानन्द, श्री गोपालजी आदि-आदि, इन में श्री आर्यमुनि और स्वामी हरिप्रसाद के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य्य जनता ने उनको विस्मृति के गर्त में दबा दिया। न उनकी पुस्तकें प्राप्य हैं, न उनका नाम कोई जानता है।

गृह्य सूत्रों तथा स्मृतिओं के संशोधन का कार्य अभी तक किसी ने नहीं किया। और इस विषय में पौराणिकता वैसी की वैसी ही चल रही है। भविष्य में आर्यसमाज को इससे जो क्षति होगी उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं है। आजकल तो साहित्य-कारों की स्मृति में भी ईंटों के भवन बना दिये जाते हैं।

सत्यार्थ प्रकाश के अनुवाद कुछ देशी भाषाओं और दो एक विदेशी भाषाओं में कुछ व्यक्तियों ने किये परन्तु किसी ने उनकी पूछ नहीं की। घरों में ही वेदों का डंका आलम में बजाते और बजवाते रहे। उनके शामियाने ही उनका "आलम" (संसार) है।

कुछ सभायें कभी-कभी जोश में आकर साहित्य के लिये कुछ रुपया जमा कर लेती हैं और उसको बैंक में जमा कर देती हैं। ब्याज इतनी नहीं हो पाती कि थोड़ा-सा काम भी हो सके। न नौ मन तेल हो न राधा नाचे।

वैदिक संस्कृति

[श्री पं० अलगूरायजी शास्त्री, संसद-सदस्य]

कन्या-गुरुकुल हाथरस की आचार्या श्रीमती लक्ष्मीदेवीजी को उनकी महती सेवाओं के लिए जो 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' दिया जा रहा है वह एक श्रेष्ठ यज्ञरूप कार्य है। जो व्यक्ति सार्वजनिक सेवा-कार्य में संलग्न हैं, उन्हें यही सम्मान योग्यतम है। इससे सरस्वती की सेवा भी होती है, सेवक का सम्मान भी। शिक्षा-कार्य में लगे हुए आचार्यों, आचार्याओं का सम्मान तो इसी प्रकार एकमात्र समीचीन कहा जा सकता है। "न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति, दृष्ट्वा हि तृप्तिं यन्ति" देवता न खाते हैं, न पीते हैं—वह तो केवल देखकर ही तृप्त होते हैं, वे भाव के भूखे होते हैं।

मैं आचार्याजी को इस अवसर पर अपनी श्रद्धा के पुष्प दो-चार एक शब्द वैदिक संस्कृति के सम्बन्ध में कहकर अर्पित करता हूँ, कारण कि उन्होंने अपने जीवन के व्रत को उसी के लिए धारण किया, उसी को पल्लवित-पुष्पित करने में लगाया। उसके सम्बन्ध में कुछ भी कहा-सुना उन्हें प्रिय लगेगा।

वैदिक संस्कृति विश्व के मानव-इतिहास में सर्व प्राचीन है। व्यक्तिगत मानव-जीवन के लिए जैसे एक मनुष्य का शरीर मन, चरित्र, स्वभाव-आचरण एक मूल्य

रखता है, उसी प्रकार एक राष्ट्र और एक जाति के सामूहिक जीवन के साथ उसकी संस्कृति का सम्बन्ध है।

इस दृष्टि से भारत की आर्य जाति का जो सांस्कृतिक इतिहास है, वह गौरवपूर्ण है। मनुष्य-जीवन का ऐहिक मूल क्या हो, इस पर जो प्रकाश इस संस्कृति में देखा जाता है, वह अपूर्व सौन्दर्य्यमय है। सोलह संस्कारों से निखर कर उस जीवन को समुज्ज्वल होना पड़ता है। गर्भाधान से लेकर मरण पर्यन्त किस जाति ने कभी कल्पना की कि एक मनुष्य को संस्कृत होना पड़ेगा—"वाचं ते शुन्धामि" आदि के वचन से आरम्भकर "चरित्राणि च ते शुन्धामि" का वचन हमें बताता है कि मन, वाणी, काया चरित्र सबको शुद्ध-पवित्र बनाना होगा। इस प्रकार का कायिक, वाचिक, चारित्रिक सुदृढ़ जीवन "स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः" समस्त सुदृढ़ अंगों सहित देव-कार्य के लिए हो—अपने व्यक्तिगत आमोद-प्रमोद के लिए न हो। जीवन व्यक्तिगत सुन्दर, दृढ़, पवित्र हो, परन्तु वह चरितार्थ हो लोक-कल्याण में। इस प्रकार उत्कृष्ट व्यष्टि में परमोत्कृष्ट समष्टि का उदय—श्रेष्ठ आर्यजनों में से उदय हो, आर्यसमाज की कल्पना हमारे सामने उपस्थित करता है, समाज का प्रत्येक व्यक्ति श्रेष्ठ हो, फलतः समाज परम श्रेष्ठ हो। यह झाँकी है।

व्यक्ति और समाज का यह सम्बन्ध इस संस्कृति द्वारा हमें प्राप्त होता है। समाज में "न अस्माकं ज्येष्ठासो न कनिष्ठासः" का चित्र हमें उसके पश्चात् मिलता है—इस मानव-समाज में, विश्वभर में न कोई छोटा है न बड़ा हम सब मनुष्य भाई-बहिन हैं, परस्पर समान हैं। हम सबका पिता और माता अदिति है। इस प्रकार ऊँच-नीच, जाति-पाँति के भेदों के लिए, रंग-रूप की पृथकता के लिए इस संस्कृति में स्थान नहीं। इसमें देश और जाति की ऊँचता-नीचता और भेदों को भी अवकाश नहीं। विश्वबन्धुत्व का शाश्वत सन्देश वैदिक संस्कृति में ही अमन्द ज्योति से प्राप्त होता है। मानव समानता का विमल सन्देश यहीं निर्भ्रान्त रूप में दिखाई पड़ता है। "मां प्रति मां प्रति इति समस्ते न तत्साम्" यहीं गाया गया है—मेरे लिए भी, मेरे लिए भी यह जहाँ सब कह सकें वहीं साम्यावस्था है, यही अभिप्रेत है, यह नहीं, कि कुछ के लिए सुविधा कुछ के लिए असुविधा कुछ सम्मानित, कुछ असम्मानित। मानव मात्र में समानता को श्रेयस्कर बनाकर इस संस्कृति ने कलह का द्वार बन्द किया है।

"सहृदयं संमनस्यं अविद्वेषं कृणोमि वः" अन्योनां अभि-हर्यत वत्सं जात-मिवाघ्न्या"—हे मनुष्यो, मैंने तुम्हें समान मन वाला, समान हृदय वाला बनाया, तुम एक दूसरे के प्रति विद्वेष मत रखो, एक की ओर दूसरे को लपकना और बढ़ना चाहिए जैसे सद्यः जात लवारे की ओर नव-प्रसूता जननी गौ बढ़ती है।

विश्व के मानव को यह उपदेश देकर वैदिक संस्कृति ने विश्व-शान्ति का जो चित्र उपस्थित किया है वह अप्रतिम है। इस संस्कृति से जीवन में सामञ्जस्य का उपदेश मिलता है। चारवाक मत ऐहिक जीवन को सुखमय बनाकर इति श्री कर देता है। बौद्ध,

जैन एवं इसी प्रकार के वैराग्य प्रधान विचार विश्व की नश्वरता को सामने रखकर उसके मिथ्यात्व को प्रमुखता देकर, ऐहिक जीवन को नीरस बनाते हैं। वैदिक संस्कृति अविद्या के द्वारा—विविध वैज्ञानिक सांसारिक विद्याओं के द्वारा जीवन-यापन को ऐश्वर्यमय अभ्युदय बनाकर अन्त में विद्या द्वारा—ब्रह्म विद्या द्वारा, आत्मज्ञान द्वारा कैवल्य-प्राप्ति का मार्ग बताती है "शैशवे अभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणां वार्धके मुनिवृत्तीनां, योगेनान्ते तनुत्यजाम" का आदर्श सामने रखती है। बचपन में विद्या-जवानी में विषयादि सेवन से प्रजोत्पादन तीसरी अवस्था में साधना और अन्त में योग द्वारा देह-त्याग से मोक्ष" अर्थात्—'यस्तद्वेदोभयँ सह' लोक परलोक दोनों की साधना "घर कीन्हें घर जात है-घर छोड़े घर जात-तुलसी घर वन बीच ही राम प्रेम पुर छात" घर छोड़कर न घर रखकर किन्तु दोनों के सामञ्जस्य से परम फल मिलता है। "यतोऽभ्युदय निः श्रेयस सिद्धि" जिससे सांसारिक अभ्युदय प्राप्त हो, और अन्त में मोक्ष मिले ऐसे ही सामञ्जस्यमय जीवन की झाँकी वैदिक संस्कृति की देन है। फलतः इसके इतिहास में वीर-वीराङ्गनाओं की कहानियाँ भरी पड़ी हैं। वायु में उड़ने वाले वायुयानों की कहानियाँ भरी पड़ी हैं। शरीर को रोगमुक्त करने वाले शास्त्रों के निर्माण की विधियाँ, युद्धों के इतिहास भरे पड़े हैं। साथ ही सिद्धों-योगियों का पावन जीवन मानव के लिए पथ-प्रदीप बना पड़ा है।

हम इस संस्कृति के असंख्यात स्वरूप का अध्ययन करें; उसका गुण गायें और जीवन को लोक-सेवा में लगायें, जैसे हमारी आचार्या श्रीमती लक्ष्मीदेवीजी ने लगाया है।

शिक्षा में "आश्रम-वास" का स्थान

[प्रिंसिपल श्री पं० महेन्द्रप्रताप शास्त्री, एम. ए., एम. ओ. एल. दयानन्द महाविद्यालय, लखनऊ]

शिक्षा को सामान्यतया दो भागों में बाँटा जा सकता है—एक तो लिखने-पढ़ने की अथवा पुस्तक की शिक्षा और दूसरी रहन-सहन अथवा आचार-विचार की शिक्षा। इन दोनों में किसका महत्त्व अधिक है, यह प्रायः स्पष्ट है। मनुष्य की पढ़ाई-लिखाई व्यर्थ है, यदि उसका रहन-सहन ठीक न हो। इसके विरुद्ध यदि मनुष्य का रहन-सहन ठीक हो तो चाहे वह पढ़ा-लिखा न भी हो, फिर भी वह आदर और श्रद्धा का पात्र होता है। अनेक भक्तों, साधु-सन्तों के जीवन इसके प्रमाण हैं। मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पत्ति उसका आचार है और उसका सम्बन्ध शिक्षा के दूसरे भाग से है।

आजकल की शिक्षा में पढ़ने-लिखने पर बल दिया जाता है। परिस्थितियाँ और साधन ऐसे हैं कि उसके आगे पढ़ा नहीं जा सकता। विद्यार्थी पाँच-छह घण्टों के लिए विद्यालयों में जाते हैं। एक के बाद दूसरा घण्टा लगता जाता है; बदल-बदल कर

अध्यापक आते-जाते हैं और उनके साथ विषय भी बदलते जाते हैं। कक्षा का सारा दृश्य चित्र-पट जैसा बदलता रहता है। उसमें स्थायित्व नहीं होता। एक अन्तर पैंतीस-चालीस मिनट का होता है। विद्यार्थियों की संख्या चालीस पैंतालीस होती है। अध्यापक का विद्यार्थी से साक्षात् परिचय भी नहीं हो पाता। पाठ्य विषय इतना होता है कि निरन्तर पढ़ाते रहने पर भी कठिनता से पूरा हो पाता है। फिर, विद्यार्थी के रहन-सहन पर ध्यान देने का अवसर कहाँ ? विद्यालय के पाँच-छह घण्टे के अतिरिक्त विद्यार्थी कहाँ रहता है, क्या करता है, उसकी संगति कैसी है, उसका जीवन किस दिशा की ओर जा रहा है, उसकी प्रवृत्तियाँ क्या हैं, आदि बातों का आजकल की शिक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं। जो परिणाम है हमारे सामने है। प्रायः सभी समझदार व्यक्ति शिक्षा-प्रणाली की असारता को कोसते रहते हैं।

उपर्युक्त कमी बहुत अंश तक दूर हो सकती है यदि अध्यापक और विद्यार्थी का सम्पर्क अधिक लम्बा कर दिया जावे। दूसरे शब्दों में यदि विद्यार्थी चौबीस घण्टे अध्यापक की देख-रेख में रहें तो उपरिनिर्दिष्ट शिक्षा के दूसरे भाग की भी पूर्ति हो सकती है। अर्थात् विद्यार्थी के आचार-विचार का निर्माण किया जा सकता है। विद्यार्थी के चौबीस घण्टे अध्यापक के पास रहना और अध्यापक का विद्यार्थी के आचार-विचार का निर्माण करना तभी सम्भव है, जब सब विद्यार्थी आश्रमों अथवा छात्रावासों में रहें। गुरुकुलों की यह एक बड़ी विशेषता थी कि सबके सब विद्यार्थी गुरु के पास आश्रमों में ही रहा करते थे। गुरु उनकी पूरी दिनचर्या पर दृष्टि रखता था। इसलिये उन्हें जैसा चाहता था, बना सकता था। गुरु का नाम 'आचार्य' इसीलिये है कि वह विद्यार्थी के आचार को बनाता है (आचारं ग्राहयति) केवल कुछ घण्टे साथ रहकर विद्यार्थी के जीवन को नहीं बनाया जा सकता। आजकल भी कुछ संस्थायें ऐसी हैं जिनके सब विद्यार्थी अपने छात्रावासों में ही रहते हैं। ऐसी संस्थायें पब्लिक स्कूल्स् (Public Schools) कही जाती हैं। ये सभी संस्थायें प्रायः पश्चिमीय रहन-सहन के आदर्श पर चलती हैं, जिसके परिणाम स्वरूप वहाँ के विद्यार्थियों का रहन-सहन वैसा ही होता है। भारतीय ढंग से चलने वाली तो बहुत कम संस्थायें ऐसी हैं, जिनके सभी छात्र वहाँ के छात्रावासों में रहते हों। वर्त्तमान जागृति में सर्व-प्रथम आर्यसमाज द्वारा स्थापित गुरुकुलों में यह प्रयोग किया गया था। वहाँ के विद्यार्थियों पर यहाँ के रहन-रहन, वातावरण का प्रभाव पड़ा। उनका रहन-सहन अन्य विद्यालयों के विद्यार्थियों से सर्वथा भिन्न बन गया। संस्थाओं के अपने आदर्श होते हैं। विद्यार्थियों के आचार-विचार को उन आदर्शों के अनुसार तभी बनाया जा सकता है, जब चौबीसों घण्टे उन पर दृष्टि रखी जा सके।

आश्रम अथवा छात्रावास में रहने के अन्य अनेक लाभ हैं, जो घर पर रहकर पढ़ने वाले विद्यार्थियों को प्राप्त नहीं हो सकते। एक बड़ा गुण जो आश्रमवासियों में आता है "स्वावलम्बन" है, अर्थात् आश्रमवासी विद्यार्थी अपने पैरों पर खड़ा होना सीखता है। घर पर रहने वाले विद्यार्थी के आराम, सुख-दुःख का ध्यान माता-पिता रखते

हैं। वे इस बात की चेष्टा में रहते हैं कि बालक को कोई कष्ट न होने पावे। यह विशेष परवा बालक को पशु-सा बना देती है। उसके अन्दर दुःख, असुविधा आदि का सामना करने का भाव जाग्रत नहीं होता वह कभी कष्ट-सहिष्णु नहीं हो सकता। एक और बात है, जिस प्रकार एक बड़े पेड़ की छाया में घास-फूँस आदि के छोटे पौधे नहीं पनप सकते, उसी प्रकार माता-पिता के लाड़-प्यार में पले बालक पूरी तरह विकसित नहीं हो पाते। किसी अनजान स्थान पर पहुँचने पर आश्रमवासी विद्यार्थी हाथ-पैर पटककर अपने आपको सुखी बनाने का यत्न करेगा, किन्तु माता-पिता की देख-रेख में पला बालक हाथ पर हाथ रखकर बैठ जायेगा। इस प्रकार दोनों के चरित्र में स्पष्ट अन्तर हो जाता है।

आश्रम में रहने वाले विद्यार्थी को विभिन्न स्थानों से आये हुए भिन्न-भिन्न प्रकृति के विद्यार्थियों के साथ रहना पड़ता है। उसे बाहर की दुनिया के सम्पर्क में आने का अधिक अवसर मिलता है। इससे उसके भावों में उदारता आती है; उसका दृष्टि-कोण विस्तृत हो जाता है, कूप-मण्डूकता उससे दूर हो जाती है। उसे विभिन्न प्रकृति के व्यक्तियों के साथ उचित व्यवहार करना आ जाता है। उसे दूसरों की हँसी, क्रोध, द्वेष, प्रेम आदि का पात्र बनना पड़ता है, जिससे उसे भावी जीवन के वास्तविक रूप का आभास मिल जाता है, और वह उसके लिये तैयार हो जाता है। आश्रम में रहते हुए ही उसे विभिन्न स्थानों के बारे में अनेक जानकारियाँ हो जाती हैं। वह वहाँ रहते हुये ही दूर-दूर के स्थानों की मानसिक सैर कर लेता है। इससे उसके व्यावहारिक ज्ञान में वृद्धि होती है।

चौबीस घण्टे एक साथ रहने के कारण आश्रम-वासियों में "पारस्परिक सहयोग" की भावना उदित होती है। वे एक दूसरे के सुख-दुःख में साथी होने का यत्न करते हैं। बीमारी आदि के अवसर पर आश्रमवासी विद्यार्थी जिस प्रकार से एक दूसरे के सहायक होते हैं, घरों में रहने वाले उस तरह नहीं हो पाते। उनके जीवन में ऐसे अवसर कम आते हैं। आश्रम का जीवन विना सहयोग के चल ही नहीं सकता। वहाँ एक दूसरे के कार्यों में सहयोग देना आवश्यक-सा हो जाता है। "मनुष्य सामाजिक प्राणी है"—यह आश्रम-वास में चरितार्थ होता है। वहाँ व्यष्टि-समष्टि में सम्मिलित हो जाती है; व्यक्ति का अलग अस्तित्व नहीं रहता।

आदर्श आश्रमों में एक और अच्छी बात होती है—वहाँ सबका रहन-सहन, कपड़े-लत्ते, खान-पान एक-सा होता है। वहाँ से ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, जात-पाँत का भेद-भाव बहुत अंश तक जाता रहता है। उन आश्रमों में तो जिनमें विद्यार्थी रुपये-पैसे रख सकते हैं, और इच्छानुसार व्यय कर सकते हैं, ऐसा नहीं होता, लेकिन गुरुकुल-प्रणाली पर चलने वाले आश्रमों में ऐसा होता है। यह कितनी अच्छी बात है कि कम से कम विद्यार्थी-जीवन में तो किसी के मन में ऊँच-नीच का भेद-भाव न आवे। और जब नींव में यह बात आजावेगी तो भावी जीवन में उसका प्रभाव न रहे, ऐसा नहीं हो सकता। कृष्ण और सुदामा ऐसे ही आश्रम में रहे थे। जैसी मैत्री आश्रम-वासियों में होती है; वैसी घरों

में रहने वाले विद्यार्थियों में नहीं देखी जाती। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि वे दिन-रात साथ रहते हैं।

आश्रम-वासियों का जीवन नियमित होता है। प्रत्येक आश्रम की निश्चित दिनचर्या होती है, जिसमें प्रातः उठने के समय से लेकर रात्रि को सोने के लिए जाने तक के प्रत्येक कार्य का समय निश्चित रहता है। इससे जीवन में एक ढंग आ जाता है, और प्रत्येक कार्य को समय पर करने की बान पड़ जाती है, जिसका प्रभाव शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर अच्छा पड़ता है। आश्रम के विभिन्न कार्यों के समय की द्योतक घण्टियाँ बाद के जीवन में भी कानों में गूँजती रहती हैं। आश्रम-जीवन की यह विशेषता भारत-वासियों के समय पर काम न करने के कलंक को दूर करने में सहायक हो सकती है। आश्रम की दिनचर्या के प्रत्येक कार्य सबके लिए अनिवार्य होते हैं, इच्छा न होने पर भी उनमें भाग लेना होता है। इससे व्यायाम आदि जीवन के लाभ-प्रद कार्यों में सम्मिलित होने से आश्रम-वासियों को उनका लाभ होता है; घरों पर रहकर पढ़ने वाले छात्रों की कोई निश्चित दिनचर्या नहीं होती, इनके लिए व्यायाम आदि भी अनिवार्य नहीं होते।

आश्रम की निश्चित दिनचर्या के कारण विद्यार्थियों पर नियन्त्रण भी अच्छा हो जाता है। वे जो चाहें नहीं कर सकते। बराबर गुरु की दृष्टि में रहने के कारण वे समय को जैसे चाहें नहीं बिता सकते। जब चाहें इधर-उधर घूमने नहीं जा सकते। जब चाहें खेल-कूद या बातचीत में समय नष्ट नहीं कर सकते। निश्चित समय से बाहर सो भी नहीं सकते। इससे जीवन में संयम आता है और प्रत्येक कार्य व्यवस्थित रूप से होता है। विद्यार्थी अनुशासन में रहना सीख जाता है, जो कि व्यक्ति और राष्ट्र दोनों के जीवन के लिए अत्यावश्यक है।

विद्यार्थी के जीवन को तपस्या का जीवन कहा गया है। विद्याध्ययन की उपमा 'लोहे के चने चबाने' से दी जाती है। संस्कृत का एक-एक श्लोक इस बात की पुष्टि करता है—'सुखार्थिनः कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतः सुखम्'। आश्रम-जीवन विद्यार्थी को तपस्वी बनाता है। वहाँ रहने वाला विद्यार्थी आलस्य की अँगड़ाइयाँ नहीं ले सकता। उसे प्रत्येक समय सतर्क रहना पड़ता है। घण्टी बजी कि अगले कार्य के लिए चल पड़ा। दूसरे, उसके साथी भी उसे पड़ा नहीं रहने दे सकते।

प्राचीन समय के गुरुकुल नगर से दूर हुआ करते थे, जिससे वहाँ रहने वालों को स्वच्छ जलवायु मिलता था। नगर की गन्दगी से दूर रहने के कारण विद्यार्थियों का स्वास्थ्य भी अच्छा रहता था। आजकल के आश्रम नगर से उतनी दूर नहीं होते, फिर भी उनका जलवायु उतना बुरा नहीं होता, जितना गलियों के घरों का। इस दृष्टि से भी विद्यार्थी के लिए आश्रामवास हितकर है।

उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि शिक्षा को पूर्ण एवं सफल बनाने के लिए विद्यालयों को अपने विद्यार्थियों के रहने के लिए आश्रमों का प्रबन्ध करना चाहिये। गुरुकुल-प्रणाली में ऐसा होता है। यह उसकी एक बड़ी विशेषता है।

त्रि-सत्य

[आचार्य श्री पं० हरिदत्त शर्मा शास्त्री, एम० ए०, नवतीर्थ,
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, डी० ए० वी० कालिज, कानपुर]

आध्यात्मिक उन्नति या आध्यात्मिक सुख के लिए अध्यात्मवादियों ने पाँच मार्ग खोज निकाले। जिनमें साकार की उपासना को सबने ही अपना साधन बनाया। इन पाँचों आचार्यों ने दक्षिण दिशा से चल कर भक्ति-वल्ली के प्रतान तन्तुओं में मानवीय संसार को बाँधना अपना कर्त्तव्य समझा। ये पाँच व्यक्ति शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य तथा माध्वाचार्य थे। जितने अनुयायी आचार्य शङ्कर को मिले इतने अन्य व्यक्तियों को नहीं। इनके अनुगामी एक से एक उत्तम थे। आनन्दगिरि ने आचार्य शंकर का ऐसा अनुकरण किया है, जैसा मल्लिनाथ ने कालिदास का। शङ्कर के प्रत्येक ग्रन्थ पर इनकी टीका मिलती है। वाचस्पति मिश्र ने भी शाङ्कर भाष्य पर टीका लिखी है। लोग कहते हैं, कि इस टीका का नाम उन्होंने अपनी सहधर्म-चारिणी 'भामती' के नाम पर रख दिया है। वाचस्पति रात्रि में भी लिखने का कार्य करते थे, वे शास्त्र-चिन्तन में इतने व्यस्त रहते थे, कि दावात की स्याही तथा दीपक का तेल कब निपट गया, इसका भी उन्हें ध्यान न रहता था। इस अभाव की पूर्त्ति उनकी नव विवाहिता वधू भामती करती रहती थीं। उन्होंने अपने ग्रन्थ की समाप्ति पर निगाह उठाकर देखा तो विदित हुआ, कि पतिव्रता शिरोमणि भामती अपने आराध्य पतिदेव के पास खड़ी हैं। वे उनकी इस निरपेक्ष तपस्या से प्रसन्न हुए और उन्होंने भामती को अमर कर दिया। 'भामती' की टीका कल्पतरु, परिमल, विट्ठलेशी आदि आज भी उपलब्ध होती हैं। मधुसूदन सरस्वती ने भी 'अद्वैत सिद्धि' की रचना की, जिस पर गौड़ ब्रह्मानन्दी टीका बड़ी प्रसिद्ध है। जिसे 'मघवामूल विडौजा टीका' कहें तो कोई आश्चर्य नहीं होगा। चित्सुखाचार्य की चित्सुखी, उसकी नयनप्रसादिनी टीका, खण्डन खण्ड खाद्य उसकी टीका शङ्कर मिश्र प्रणीत शाङ्करी तथा विद्यासागरी, ये सब शङ्कर मत के परिपोषक हैं। शङ्कर के एक शिष्य त्रोटकाचार्य ने शङ्कर की जो स्तुति की है, वह तो अद्भुत है तथा त्रोटक छन्द का उद्भव वहीं से हुआ यह भी प्रसिद्धि है।—

"भगवन्! उदधौ भृत्ति जन्म जले,
सुख दुःख झषे पतितं व्यथितम्।
कृपया शरणागतमुद्धर माम,
अनुशाध्युपपन्नमनन्य गतिम्॥

वाचस्पति मिश्र की इसी प्रकार निराकार स्तुति भी है

"परामृष्टः क्लेशैः कथमपि न यो जातु भगवान्,
न धर्माधर्माभ्यो त्रिभिरपि विपाकै नर्चतयोः।

परं वाचां तत्वं समधिगमपत्यो मितिपदम्,
नभस्वामौ विष्णुं नमभरगुरुणामपि गुरुम् ।

इस 'न्याय कणिका' के पद्य में "क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः" "तस्य वाचकः प्रणवः" "स पूर्वेषामपिगुरुः कालेना नवच्छेदात्" इन व्यास-सूत्रों का बड़ा सुन्दर अनुवाद किया है, तथा यहाँ पर 'विष्णु' शब्द व्यापक देवाधिदेव वाचक है। शब्द सादृश्य से किसी को भ्रान्ति नहीं करनी चाहिए। 'सत्यार्थ प्रकाश' का प्रथम समुल्लास ऐसी भ्रान्तियों के उन्मूलन के लिए ही बनाया गया है। तात्पर्य यह कि साकारोपासना को लेकर यह पाँचों मत चले। शङ्कर ने अद्वैत मत को अपनाया। उनका कहना है कि संसार में वास्तविकता नहीं। न जीव में ही वास्तविकता है। जीव तो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब या परिच्छेद रूप है। उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जैसे प्रतिबिम्ब स्थल में बिम्ब ही सत्य होता है, प्रतिबिम्ब मिथ्या, वैसे ही जीव वस्तुतः ब्रह्म से भिन्न पदार्थ नहीं। यही अद्वैत है, रही माया या प्रकृति की बात, यह माया भी तो अपनी वास्तविक सत्ता नहीं रखती। पृथ्वी, जल, तेज आदि जो कुछ भी दिखाई देता है, इसकी प्रतीति स्थाणु में पुरुष की प्रतीति के समान मिथ्या है। बाह्य पदार्थ तब ही तक भासित होता है, जब तक आत्मज्ञान न हो। वह आत्मज्ञान 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'तत्वमसि' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'अयमात्मा ब्रह्म' इन चार वाक्यों से प्रमाणित किया जाता है, यह चारों वाक्य चारों वेदों के सारभूत हैं, प्रकृति ज्ञानी के लिये होती हुई भी मिथ्याभूत है क्योंकि निष्प्रयोजन है, फिर इस प्रकृति की सत्ता है भी तो अज्ञानकृत, मायाकृत या अविद्याकृत। अतः संसार में अद्वैत ही सारभूत तत्त्व है। इस प्रकार अपना मत स्थापन करने के बाद रामानुज सम्प्रदाय का मत आता है। उनका कहना है कि भक्ति, भज्यमान की पृथक् सत्ता के बिना संभव नहीं, अतः त्रिपुटी का प्रत्यक्ष अवश्य मानना चाहिए। यह त्रिपुटी मुक्तिकाल में अपनी सत्ता नहीं छोड़ती अतः मुक्त पुरुष का परमात्मा के साथ जो ज्ञानकृत अभेद होता है, वही विशिष्टाद्वैत है अतएव—

"सत्यपि भेदापगमे नाथ नवाहं न मामकीनस्त्वम्,
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः।"

यह उक्ति संसार में प्रसिद्ध है। जैसे शङ्कराचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर गीता, उपनिषद् और ब्रह्म-सूत्रों पर भाष्य लिखे हैं, वैसे ही सब ने (माध्व, निम्ब, वल्लभ, रामानुज ने) भी लिखे हैं। आर्यसमाज के भी श्री ब्रह्ममुनिजी ने ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य बनाकर प्रस्थानत्रयी को भाष्यान्वित करने का नया पग उठाया है। उपनिषदों का भाष्य तो पं० भीमसेनजी, पं० शिवशंकरजी और पं० आर्यमुनिजी ने कर ही दिया था, तथा आधुनिक लोगों में स्वा० दर्शनानन्दजी, पं० देवेन्द्रनाथ शास्त्री, पं०सत्यव्रत विद्यालङ्कार आदि ने भी आर्य सिद्धान्तानुसारी भाष्यों का निर्माण किया है। गीता पर पं० मुक्तिरामजी (वर्त्तमान स्वा० आत्मानन्दजी) तथा कई अन्य विद्वानों ने आर्यभाष्य किया है। अतः आर्यसमाज ने भी अध्यात्म-क्षेत्र में तत्त्वत्रय-प्रतिपादन-परक प्रस्थान

त्रयी उपस्थित कर दी है। यह बड़े हर्ष की बात है। रामानुज ने चित्, अचित् और ब्रह्म या ईश्वर या विष्णु इन तीन तत्त्वों को स्वीकार किया है। रामानुज को भक्ति-मार्ग प्रतिष्ठापनाचार्य कहा जाता है। इसके अनुयायी विष्णु पुराण का भी वेद के समान पाठ करते हैं। माध्वाचार्य ने द्वैतमत का प्रतिपादन किया है। इनके मत में ६ पदार्थ माने हैं।

"अविद्यातच्चितोर्योगः षडमस्कामनादयः"

अर्थात् ईश्वर, जीव, प्रकृति इन तीनों का भेदत्रय यह सब मिलकर ६ पदार्थ अनादि हैं। इस द्वैतवाद को यदि आर्यसमाज का त्रैतवाद कहा जाय तो कुछ अनुपपत्ति न होगी। जैसे नैयायिकों का वेदों को पौरुषेय मानना और आर्यसामाजिकों का अपौरुषेय मानना दोनों बराबर हैं। इस द्वैत के जानने के बाद अब द्वैताद्वैत का भी जान लेना उचित है, यह द्वैताद्वैत निम्बार्क मत को अभिप्रेत है। वे जीव को भोक्ता प्रकृति को भोग्य तथा ईश्वर को नियन्ता नाम से सम्बोधित करते हैं। भेदाभेद का अर्थ गुण-गुणी का भेद और अभेद है। जैसे जीव ज्ञान गुण वाला है, वह ज्ञानाश्रय है तथा तप्तायः पिण्ड के समान ज्ञान-स्वरूप भी। जीव का स्वरूप अणु है। यही बात रामानुज भी मानते हैं। ईश्वर के या वासुदेव के वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि ४ भेद मानते हैं। जिन्हें हम जीव, बुद्धि, अहङ्कार, मन, इन नामों से भी पुकारते हैं। मुनि का साधन शरणागति ही है। वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय को जन्म दिया। इसका अर्थ यही है कि जीव ईश्वर व प्रकृति के सम्पर्क में रहने पर भी उनके गुणों से आहत नहीं होता। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मरूप ही हो जाता है, उसके प्रकृति के अशुद्ध रूप को छोड़कर शुद्ध, नित्य, निरञ्जन आदि रूपों में शुद्धता ही रहती है। अतः यह शुद्धाद्वैत है। इसका धर्मग्रन्थ भागवत भी है। भागवत पाठ से भगवत्प्राप्ति अति शीघ्र होती है। इन मतों के ज्ञान के साथ आर्यसमाज के तत्त्वत्रय के सिद्धान्त को भी जानना चाहिए। इन सब मतों में शङ्कर ने ज्ञान को प्रधान माना है। रामानुज आदि ने भक्ति को प्रधान कहा है। वल्लभ पुष्टि मार्गीय कहाते हैं, क्योंकि वे पुष्टि-भक्ति के अनुयायी हैं। इन सब मतों में कुछ ऐसी बातें हैं, जिन्हें हम प्रत्यक्षापलाप कह सकते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष को कुछ नहीं कहने का साहस आर्य को नहीं हो सकता। वह तो 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' इस वेदमन्त्र के अनुसार तथा क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और ईश्वर को मानता हुआ, त्रि-तत्त्ववादी है। 'सत्यार्थप्रकाश' के सप्तम समुल्लास में इस तत्त्व-त्रय को सविस्तर समझाया गया है। विशेष रूप से जिज्ञासुओं को वहीं से अध्ययन करना चाहिए। यही तीन पदार्थ सत्य हैं, अतः हम इन्हें त्रिसत्य के नाम से भी पुकार सकते हैं। तीनों की सत्ता को मानते हुए अपलाप करना सत्यमार्ग के पथिक का कर्त्तव्य नहीं है।

जीवन की पूर्णिमा

[डा० मुंशीराम शर्मा एम. ए., पी-एच, डी., अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, डी. ए. वी. कॉलिज, कानपुर]

अमावस्या और प्रतिपदा के दिन चन्द्र के दर्शन पृथ्वी के प्राणियों को नहीं होते। द्वितीया के दिन उसकी अत्यन्त क्षीण कला दिखाई देती है। चन्द्र का स्वल्पांश प्रकाशमय, परन्तु अधिकांश अन्धकाराच्छादित रहता है। द्वितीया के पश्चात् चतुर्दशी तक शनैः शनैः प्रकाश का भाग बढ़ता जाता है और अन्धकार का भाग घटता जाता है। पूर्णिमा के दिन चन्द्र का सम्पूर्ण बिम्ब प्रकाश से ओत-प्रोत हो उठता है और अन्धकार का लवलेश भी उसके अन्दर नहीं रहता। उस दिन चन्द्रमा को देखकर समुद्र का हृदय बल्लियों उछलने लगता है, चन्द्रकान्त मणि द्रवित होने लगती है, ओषधियों के अंग-अंग रससिक्त हो जाते हैं और निखिल प्राणी-जगत् अपार आह्लाद का अनुभव करता है।

पूर्णिमा का नाम पूर्णिमा चन्द्र की समस्त कलाओं के परिपूर्ण विकास के कारण ही पड़ा है। इस दिन चन्द्रमा अन्धकार से एकान्त वियुक्त और प्रकाश से एकान्त संयुक्त होता है। इस दिन इसकी दुग्धधवल, आनन्दमयी तथा अमृत-स्पन्दिनी छटा देखते ही बनती है। क्या मेरे जीवन में भी कभी ऐसी ही प्रकाशमयी पूर्णिमा दिखाई देगी ? मेरे जीवन की पूर्णिमा कब होगी ? मेरा जीवन अन्धकार से शून्य तथा प्रकाश से परिपूर्ण किस दिन होगा ?

जीवन में अन्धकार का भाग अविवेक और अज्ञान की अवस्था है। जैसे-जैसे ज्ञानार्जन द्वारा अविवेक का अंश कम होता जाता है, वैसे ही वैसे जीवन प्रकाशित होता जाता है। पर, ज्ञानार्जन खेल नहीं है। इसके लिए घोर तपश्चर्या करनी पड़ती है।

ज्ञानार्जन कुछ सूचनाओं को एकत्रित करने का नाम नहीं है। सूचनाओं का भार-वहन करने वाले गर्दभ रूपी मानव तो यहाँ अनेक दिखाई पड़ जायेंगे, पर ज्ञानी शब्द को सार्थक सिद्ध करने वाले मानव विरले ही मिलेंगे। सुकरात यूनान के अन्दर अपने समय का अप्रतिम विद्वान् था, पर जब अन्य मानव उसे विद्वान्, ज्ञानी या ऋषि कहकर पुकारते थे, तो उसे आश्चर्य होता था। उसे अपनी ज्ञान-सीमा का पता था और अपने अज्ञान का भी ज्ञान था। एक दिन वह ज्ञान की परख करने के लिए यूनान के तथा-कथित ज्ञानियों, अपने विषय के पारंगत अध्यापकों के पास पहुँचा। उनसे वार्त्तालाप करके वह इस परिणाम पर पहुँचा कि ये अध्यापक जो अपने-अपने विषय के विद्वान् कहे जाते हैं, कितने अज्ञान हैं। ये ज्ञानी बनने का ढोंग करते हैं, पर, हैं नितान्त अज्ञानी। ये जिस बात को नहीं जानते, उसके जानने का भी दम भरते हैं। इनमें और मुझमें बस एक ही अन्तर है ये अपने अज्ञान को भी ज्ञान समझते हैं, पर, मुझे अपने अज्ञान का ज्ञान है। ये उस बात को भी कहते हैं, जिसे नहीं जानते। मैं उतना ही कहता हूँ, जितना जान पाया हूँ और यह भी मुझे समझ है कि ज्ञान के अनेक स्तर, ज्ञान का अधिकांश भाग अभी जानने को पड़ा है, जिसे मैं अभी तक जान नहीं पाया।

भर्तृहरि का निम्नाङ्कित श्लोक इस विषय में अधिक प्रसिद्ध है :—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्,
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदव लिप्तं मम मनः
यदा किञ्चित्-किञ्चित् बुधजन सकाशादवगतम्,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः

जब मुझे कुछ भी नहीं आता था, तब मतवाले हाथी के समान मैं अपने ज्ञान के नशे में चूर रहता था और अपने को सर्वज्ञ समझता था। पर, जब मैंने ज्ञानियों का सम्पर्क किया और उस सम्पर्क से कुछ-कुछ बोध होने लगा, तब समझ में आया कि मैं कितना मूर्ख हूँ। फिर जैसे ज्वर उतर जाता है, वैसे ही ज्ञानी बनने का मेरा सारा नशा ठंडा पड़ गया।

ज्ञान के क्षेत्र में भी कई स्तर हो सकते हैं। कौन मानव किस स्तर पर है, इसका ज्ञान उसे स्वयं होना चाहिए। प्लेटो ने ज्ञान के चार प्रकारों का वर्णन किया है। पहले प्रकार का ज्ञान आभास मात्र होता है। वह ज्ञान नहीं, ज्ञान की परछाईं है। वास्तविक ज्ञान उससे कोसों दूर है। दूसरे प्रकार का ज्ञान किसी वस्तु के सम्बन्ध में प्रत्येक मानव के अपने-अपने दृष्टिकोण पर अवलम्बित है। मैं एक वस्तु को एक विशेष दृष्टिकोण से देखता हूँ। दूसरा व्यक्ति, आवश्यक नहीं कि उसी दृष्टिकोण से देखे। किसी वस्तु का जो रंगरूप मेरे सामने आता है, दूसरे के सामने सम्भव है, उससे भिन्न रंगरूप आवे। ये दोनों प्रकार के ज्ञान भिन्न-भिन्न मानवों की भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ कहे जा सकते हैं, इन्हें ज्ञान का रूप नहीं दिया जा सकता। तीसरे प्रकार का ज्ञान एक जाति का ज्ञान है। यह सम्मतियों से ऊपर है और सामान्य ज्ञान कहा जा सकता है। अमुक वस्तु घड़ी है क्योंकि उसी प्रकार की अनेक घड़ियाँ मैंने देखी हैं। यह 'फ़ाउन्टेनपेन' है, क्योंकि इसी तरह के अनेक फ़ाउन्टेनपेन होते हैं। यह सामान्य ज्ञान है, परन्तु इस ज्ञान में एक वस्तु अपनी अन्य समानधर्मा वस्तुओं की प्रतिनिधि बनकर उन वस्तुओं का एक सामान्य ज्ञान कराती है। अतः इस ज्ञान में एक आश्रय रहता है। चौथे प्रकार के ज्ञान में यह आश्रय भी नहीं रहता। वहाँ कोई वस्तु प्रतिनिधि बनकर नहीं आती। जब मैं कहता हूँ कि दो और दो मिलाकर चार होते हैं तो यह ज्ञान सर्वोच्च कोटि का है। क्योंकि इसमें किसी वस्तु के आश्रयण की आवश्यकता नहीं है। इस ज्ञान को साक्षात् ज्ञान भी कहते हैं। कठोपनिषद् के ऋषि ने प्लेटो से बहुत पहले ज्ञान के सम्बन्ध में कुछ-कुछ ऐसी ही बात लिखी थी। इसके अनुसार कुछ मानव, दर्पण में पड़े हुए, प्रतिबिम्ब की भाँति अपनी ही परछाईं अन्यों में देखा करते हैं। कुछ मानव ऐसे हैं, जो जागरण की अवस्था में भी स्वप्न देखा करते हैं, आदर्शों के पीछे भागते हैं। कुछ मानव जल की भाँति अपने अन्दर पड़े हुए प्रतिबिम्ब रूपी प्रभावों और संस्कारों को सुन्दर रूप प्रदान करते हैं और कुछ मानव ऐसे हैं जो छाया और आतप की भाँति वस्तुओं का स्पष्ट प्रत्यक्ष किया करते हैं। पहली कोटि के मानव मनुष्य-लोक के निवासी हैं, मानवता के अत्यन्त सामान्य स्तर से सम्बन्ध रखते हैं। द्वितीय प्रकार के मानव पितृलोक के निवासी हैं। ये एक आदर्श के

पीछे चलने वाले हैं, और उसकी प्राप्ति में, यदि आवश्यकता पड़े तो, अपने जीवन की बलि भी चढ़ा देते हैं। तृतीय कोटि के मानव गंधर्व लोक के वासी हैं, स्वर की साधना करने वाले और वाणी पर आधिपत्य रखने वाले हैं। इनमें संगीतज्ञ तथा कवियों की गणना होती है। चतुर्थकोटि ब्रह्मलोक के निवासियों अर्थात् ज्ञान के क्षेत्र में विचरण करने वाले दार्शनिकों की है, जो निदिध्यासन के समय ज्ञान की साक्षात् उपलब्धि करते हैं।

ज्ञान को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष देखना प्रकाश में आना है। इस प्रकाश के समय समस्त अज्ञान-जन्य हीन ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं। मानव विशुद्ध बुद्धि के प्रकाश में सत् को सत् और असत् को असत् रूप में अनुभव करता है या प्रत्यक्ष देखता है। जो मानव प्रयत्न करता हुआ इस अवस्था को प्राप्त हो गया, वह धन्य है। उसके जीवन की पूर्णिमा उसके अन्दर तो खिल ही उठती है, अपने चतुर्दिक भी ज्ञानालोक की किरणें विकीर्ण करने लगती है।

यजुर्वेद के ३२ वें अध्याय में इस अवस्था का वर्णन निम्नाङ्कित मन्त्रों द्वारा किया गया है :—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्य आत्मना आत्मानमभि संविवेश॥
परिद्यावा पृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान् परि दिशः परिस्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्॥

जीव जब भिन्न-भिन्न योनियों में घूमता हुआ, भिन्न-भिन्न लोकों, दिशाओं एवं प्रदिशाओं को देखता हुआ, ऋत की प्रथमजा तक पहुँचता है, तभी वह इसका आश्रय लेकर आत्म-ज्ञान प्राप्त करता है और आत्म-ज्ञान द्वारा ही परमात्मा में प्रवेश करता है।

द्यावा-पृथिवी, समस्त भुवन, दिशा और स्वर्लोक को सब ओर समझकर वह शीघ्र ही ऋत के फैले हुए तन्तु को चीर डालता है। उसके पश्चात् वह प्रभु के दर्शन करता है।

इन मंत्रों में ऋत की प्रथमजा तक पहुँचना आवश्यक माना गया है। इसके बिना जीवात्मा को अपने अस्तित्व का साक्षात् ज्ञान नहीं हो पाता। इसके पूर्व तो वह नाना लोकों और योनियों में आवागमन के क्लेश-जाल को भोगता हुआ, अपने को प्रकृति के साथ एक समझा करता है। जगत् और कर्म तन्तु सब के सब ऋत तत्त्व का ही फैलाव है। आत्मा का अपना स्वरूप तो चिति का है, चैतन्य का है। ऋत की प्रथमजा का आश्रय लेकर ही जीवात्मा को इसका ज्ञान होता है। ऋत की प्रथमजा क्या है? ब्रह्माण्ड में वह व्यापक द्यौतत्त्व है और पिण्ड में इसी को धी कहते हैं। धी के पर्यायवाची शब्द तो अनेक हैं, पर, वे सब एक ही अवस्था का द्योतन नहीं करते। बुद्धि, मेधा, प्रज्ञा तीनों हमें तीन स्तरों का ज्ञान कराते हैं। बुद्धि श्रवण से सम्बन्ध रखती है, मेधा

मनन से और प्रज्ञा निदिध्यासन से। सामान्य रूप से जो कुछ ज्ञान हमें इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है (सुनने, देखने, चखने, सूँघने, छूने आदि द्वारा), वह मन की कोठरी में एकत्र हो जाता है। जब हम एकत्रित सामग्री पर स्वयं चिन्तन करते हैं, मनन करते हैं, तो वह पचकर, आत्मसात् होकर हमारी बुद्धि का अंग बन जाता है, हमारे अन्दर धारण हो जाता है। इस स्थिति को मेधा (मे = मेरे अन्दर जो धा = धारित हो गया) कहते हैं। यह धारण किया हुआ या पचाया हुआ ज्ञान जब निदिध्यासन द्वारा साक्षात्-कार की अवस्था को प्राप्त करता है, तो मेधा से भी ऊपर प्रज्ञा कहलाता है। प्रज्ञा सहज प्रकाश की अवस्था है। किसी वस्तु का ज्ञान इसी अवस्था में हस्तामलकवत ज्ञान का रूप धारण करता है। इसी अवस्था में जीव अपने को ऋत के फैले हुए तन्तु से, प्रकृति और आत्मतत्त्व उसे पृथक्-पृथक् दिखाई पड़ने लगते हैं। आत्म-ज्ञान के पश्चात् अगला पड़ाव परमात्म-ज्ञान का ही है। अपने स्वरूप में अवस्थित होकर जीव एक ओर प्रकृति का परित्याग करता है और दूसरी ओर परमात्मा का दर्शन करता है।

श्रद्धा का सम्बल लेकर जीव छन्दों, ऋचाओं तथा स्वर-संसार की मूलभूत ध्वनियों में प्रवेश करता है। ऋचाओं का ज्ञान उसे ब्रह्माण्ड के मूल में निहित ऋत की प्रथमजा तक पहुँचता है। ऋत की प्रथमजा का आश्रय आत्मज्ञान करता है और आत्म-ज्ञान परमात्मतत्त्व का ज्ञान कराता है। ऋत की प्रथमजा पर पहुँचते ही उसे सत् का प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। सत् के प्रकाश से श्रेष्ठतर आत्मप्रकाश है और सब से श्रेष्ठ परमात्म-प्रकाश।

अथर्ववेद के नीचे लिखे मंत्र में इस प्रकाश का विशद वर्णन उपलब्ध होता है:—

ईजानश्चित मारुक्ष दग्निं नाकस्य पृष्ठात् दिव मुत्पतिष्यन्।
तस्मै प्रभाति नभसो ज्योतिषीमान् स्वर्गः पंथा सुकृते देवयानः॥

त्याग और तपस्या के साथ यज्ञ करता हुआ, साधक जब चैतन्य की अग्नि पर आरोहण करता है, प्रमाद, राग-द्वेष के तमोगुण तथा रजोगुण पर विजय प्राप्त करता हुआ जब सत के प्रकाश में चेतनता की झलक देखता है, तभी वह नाक की पीठ पर बैठकर दिव की ओर, नाक से भी ऊपर की ओर उड़ता है। उस समय उसके समक्ष नभ में ज्योति चमकती दिखाई पड़ती है। यही देवयान है जो उस सुकृती को आनन्द की ओर ले जाता है।

नाक क्या है? निरुक्ति द्वारा क सुख है, तो अ + क दुःख है और जो न + अ + क है अर्थात् दुःख रहित अवस्था है, वही नाक है। संसार सुख और दुःख दोनों का सम्मिश्रण है। जहाँ एक होगा वहाँ दूसरा भी होगा। दोनों का युग्म है। सुख-दुःख दोनों साथ-साथ रहते हैं। नाक संसार की सुख-दुःखमयी अवस्था से ऊपर की अवस्था द्यौ की है। देवयान-पथ का पथिक, कर्ममार्ग से ऊपर उठकर ज्ञानमार्ग का आश्रय देने वाला यात्री, इस द्यौ के प्रकाश का अनुभव करता है और आत्मानन्द ही परमात्मानन्द में मग्न करने वाला है। जीवन की पूर्णिमा यही है। पवमान सोम की आनन्ददायिनी,

अमृत-स्पन्दिनी, रसमयी, प्रपंचोपशममयी अद्वैत अवस्था इसी का नाम है, जिसमें तारे नहीं, एक चन्द्र चमकता है, विविध सुखों की टिमटिमाती ज्योति नहीं, आनन्द अजस्र आलोक जगमगाता है, इन्द्रिय-देवों का वैभव-विलास नहीं, एक आत्म-प्रकाश दिखाई देता है।

प्रकृति में पूर्णिमा का चन्द्र चमकता है। मेरे जीवन की पूर्णिमा का यह चन्द्र कब चमकेगा ? इस प्रश्न का उत्तर हमें अपनी जीवनचर्या से देना होगा और अवकाश प्राप्त करने पर अपने से पूछना होगा कि हम इस दिशा में कितना आगे बढ़ सके हैं।

वाणी का प्रभाव

[व्याख्यान-वाचस्पति श्री पं० प्रकाशवीरजी शास्त्री, चँदोसी (मुरादाबाद)]

संगीत की स्वर-लहरियों पर उषा का सात्त्विक वातावरण झूम रहा था, स्तब्धता के उन क्षणों में पक्षियों का कलरव भी कुछ देर को रुक-सा गया था, श्रोता गायक की भाषा में आँख मींचे आत्म निवेदन कर रहे थे, पर आँख खोल कर कभी-कभी गायक पर घृणा भरा दृष्टिपात भी कर लेते थे। नगर के जिस कोने पर सत्वगुणी कार्यक्रम चल रहा था, सहस्रों नर-नारियों के मध्य वहाँ ध्यान-मग्न तपःपूत एक महात्मा भी देवमूर्ति की भाँति उच्चासन पर विराजमान थे और सबके साथ संगीत का आनन्द ले रहे थे। कुछ ही क्षणों में संगीत समाप्त हुआ। श्रोताओं के साथ महात्मा की भी आँखें खुलीं और गायक पर जा लगीं। प्रतिदिन की भाँति प्रशंसा सुनने के आदी संगीतज्ञ ने आज भी कान खोल कर महात्मा से कुछ शब्द सुनने चाहे। साधु के ओठ खुले और गंभीर ध्वनि में वह बोले—अमीचन्द ! हो तो तुम हीरे, पर कीचड़ में पड़े हो। रोम-रोम हिल उठा अमीचन्द तहसीलदार का और वह मारे शर्म के धरती में गड़ा-सा जा रहा था। अन्दर बैठकर कोई नोंच-सा रहा था ! क्यों मैंने यह भूलें कीं ? पापाचरण में रत मुझे उस समय क्यों सुबुद्धि न आई ? पर, ख़ैर, जो होना था सो हो गया, अब तो आँखें खोल कर चलूँ। धिक्कारा हुआ-सा अमीचन्द घर पहुँचा, शराब की बोतलें उठा कर बाहर फेंकी, वेश्याओं को छुट्टी दी और स्वयं भी पापों से ही नहीं तहसीलदारी से भी छुट्टी ले ली मीरा की भाँति मस्त होकर गा उठा—

नहीं प्यारी तहसीलदारी नहीं जजी दरकार,
जो राखो अपने चरणों में किंकर चौकीदार।

यह ही थे वह अमीचन्द "आज मिल सब गीत गाओ" और "जय जय पिता परम आनन्द दाता" के गायक जिन्हें ऋषिदयानन्द के उक्त एक वाक्य ने ही चलते चलते साधक बना दिया। बलवती वाणी से निकले शब्द पत्थर की लकीर बन कर गड़ गये।

सन्तों की सूक्तियाँ, शूरवीरों के उद्बोधन, समरांगण की ललकारें, कवियों की कवितायें और मा की लोरियाँ आदि विभिन्न रूपों में प्रयुक्त वाणी राष्ट्र की उन्नति का कारण बनती है। इसके सद्प्रयोग से जहाँ राष्ट्र उन्नति करते हैं, वहाँ असद् प्रयोग से अवनति की पराकाष्ठा करके ही दम लेते हैं। वैदिक वैजयन्ती कन्धों पर रख यूरोप के अन्धकारमय वातावरण में अलख जगाने वाले, पुलस्त्य, व्यास और नारद आदि ऋषियों ने जिस भारत को जगद्गुरु के स्थान पर पहुँचाया था, कपिल-कणाद और गौतम ने जहाँ बैठकर आत्मा-परमात्मा के रहस्यों का उद्घाटन किया था, उसी पावन भारत मही में वाणी के कुप्रयोग से लंका और कुरुक्षेत्र के भयानक युद्ध भी हुए। शताब्दियाँ क्या सहस्राब्दियों तक भी उनके घाव न भरे जा सके। कैकेयी के वचनों की क़ीमत राजा दशरथ को ही नहीं पीढ़ियों तक को चुकानी पड़ी। झरोखे में बैठी द्रौपदी ने पांडवों के चामत्कारिक राजप्रासाद में भूल करने पर "अन्धों के अन्धे ही होते हैं" यदि ये शब्द न कहे होते तो संभव है, महाभारत की नौबत ही न आती। लोहे का लगा तीर निकलता देखा गया, पर वाणी का बाण जीवन-भर कसकता रहता है। प्रताप और मानसिंह, पृथ्वीराज और जयचन्द के इतिहास तो अभी बहुत पुराने नहीं पड़े हैं। वाणी के बाणों से ही जयचन्द और मानसिंह परायों से मिलकर घर का सत्यानाश करा बैठे। पानीपत की तीसरी लड़ाई में भौंसला वंश के मराठों ने यदि भरतपुर के राजा सूरजमल और इन्दौर के होल्कर को चुभते शब्द न कहे होते तो वह रात ही रात में क्यों अपने घर लौट आते। सुनते हैं, पाकिस्तान-निर्माण की श्री जिन्ना की हठ का कारण भी एक बहुत बड़े राष्ट्रिय नेता का ताना देना ही बना। प्रभु जाने यह कहाँ तक सत्य है?

"वाचा वदामि मधुमत्" वाणी से मैं मधु की भाँति मीठा बोलूँ और "जिह्वा मूले मधूलकम्" आदि श्रुति-वाक्यों में वाणी की शोभा मीठा बोलने में मानी गई है। यश और श्री की यह जननी है। शतपथ में "वाग्वै कामधेनु" वाणी को सकल कामनाओं की पूर्ति का साधन माना गया है। कोई कार्य ऐसा नहीं जो मीठी वाणी से हल न हो सके। चाणक्य ने अपनी नीति की पुस्तकों में राजदूत का विशेष लक्षण मृदुभाषी होना माना है। पांडवों ने दौत्य कार्य के लिये इसी से योगेश्वर कृष्ण को संभव है अपना प्रतिनिधि बनाया हो। प्रिय भाषा में कहे गये वाक्य विरोधी पर भी अपना प्रभाव किये बिना नहीं रहते। अप्रिय सत्य भी होगा तो गले से नीचे नहीं उतर पायेगा और "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्" व्यासजी के इस उपदेश के अनुसार प्रिय वाणी में कहा गया दोष भी मनुष्य सुगमता से स्वीकार कर लेता है। मीठे वचनों को तुलसी ने वशीकरण मन्त्र कहा है और रहीम ने कड़वी वाणी को जूती खाने का सस्ता नुस्खा भी लिखा है। उर्दू में भी इसी आशय का एक शेर आया है—

कुदरत को ना पसन्द है सख़्ती बयान में,
इससे नहीं लगाई है हड्डी ज़बान में।

बात की बात में बात का बनना और बिगड़ना इसी का नाम है। युद्ध से विमुख

अर्जुन को "सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ ! लभन्ते युद्धमीदृशम्" श्रीकृष्ण के इन शब्दों ने मैदान में लाकर खड़ा कर दिया था। एक साधारण-से लकड़हारे को वाणी की चोट ने महाकवि कालिदास और प्रेम में अन्धे युवक को सन्त तुलसीदास बना दिया। बात ही तो थी, लग गई, और भारत राष्ट्र को दो चमकते रत्न मिल गये। वीरभूमि राजस्थान के तो कण-कण में वह ललकारें और हुङ्कारें आज भी सुनाई देती हैं। प्रणय की प्रथम रात्रि में शूरवीर चूड़ावत जब कर्तव्य-पथ से फिसलने-से लगे और प्रतिद्वन्द्वी के धौंसों पर पड़ती चोट को सुनकर भी हाड़ी रानी के स्नेह-पाश में बँधे कहने लगे—"मैं कहाँ तक मेवाड़ को सभालूँ? सारा ठेका मैंने ही थोड़े ही ले लिया है? सारा जीवन तो लड़ते लड़ते बीत गया और आज सुख के इन क्षणों में भी फिर वही चुनौती? में लड़ने नहीं जाऊँगा।" नवोढ़ा रानी क्षत्रिय-कुमार की यह दुर्बलता देख कर अवाक् रह गई और सोचने लगी युद्ध के नाम पर भी इसे फुरहरी न चढ़ी। हाड़ी रानी का चेहरा तमतमा उठा और आवेश में पलँग से हट कर अलग खड़ी हो गई—

बोली—रजपूतण नाथ आज तैं मती पधारो रणमाईं,
तलवार बतायो हूँ (मैं) जास्यूँ थें चुड़ी पहर लो घर माईं।

व्यङ्ग्य भरी भाषा ने चूड़ावत को झिंझोड़-सा दिया और सीधा हाथ तलवार की मूँठ पर जा पड़ा। बस, फिर क्या था कुपित क्षत्रिय शत्रु-दल की मौत बनकर टूट पड़ा। जयपुर के महाराज जयसिंह को "अली कली तें ही बिंध्यो" बिहारी की मीठी चोट रास्ते पर ले आई। भूषण और चन्दबरदाई ने शिवाजी महाराज और पृथ्वीराज चौहान को कभी दुर्बल नहीं होने दिया। समर्थ गुरु रामदास का आशीर्वाद और माता जीजाबाई की लोरियों ने तो शिवा को शिवा बनाया ही था पर, भूषण ने भी शिवाजी के साहस को अन्त तक नहीं टूटने दिया। चन्दबरदाई ने गज़नी में भी पहुँचकर पृथ्वीराज की मूँछें नीचे नहीं झुकने दीं। जाते-जाते भी शत्रु को यमपुर का मार्ग दिखाकर ही गये।

यूरोपीय राष्ट्रों के आधुनिक स्वरूपों के निर्माता भी प्रायः सब ही वाणी के धनी हुए हैं। रूजवेल्ट, हिटलर, मुसोलिनी, स्टालिन और चेम्बरलेन तथा आजके वृद्ध महारथी चर्चिल, टीटो, डीवेलरा कुशल राजनीतिज्ञ होने के साथ सफल वक्ता भी हैं। फ्राँस को नेपोलियन की तलवार ने ही प्रेरणा नहीं दी उसकी भाषणशैली मुर्दों में भी जान डालने वाली थी। राइन नदी की घाटियों में रहने वाली जर्मन जनता को उसके पुराने इतिहास सुना-सुनाकर हिटलर जब बोलता था, सारा जर्मन राष्ट्र हिलोरें-सी लेने लगता था और उसके संकेतों पर प्राण न्योछावर करने को उद्यत हो जाता था। हिटलर चला गया पर बर्लिन के खँडहरों में उसकी हुङ्कारें आज भी गूँज रही हैं। वह उठेगा और फिर उठेगा। आज का भारत भी जिनकी तपस्याओं का फल है, वह गोखले, तिलक, लाजपतराय, गांधी, मालवीयजी, सावरकर, भाई परमानन्द आदि देश के उन सफल वक्ताओं में रहे हैं जिनकी वाणी में सींक खड़ी करने की शक्ति थी। स्वर्गीया सरोजिनी नायडू की भाषणकला पर तो आज भी सारा यूरोप मुग्ध है। स्वा० विवेकानन्द ने शिकागो कान्फ्रेंस में भारत की जय का नारा सब से एक साथ बुलन्द करवाया था। हिटलर ने

इसी से शायद अपनी आत्मकथा में यह लिखा है—यदि मुझसे अच्छे विद्वान् और अच्छे वक्ता में से किसी एक को चुनने की बात कही जाय तो मैं अच्छे वक्ता को बिना किसी हिचक के चुन लूँगा। राष्ट्र को शीघ्र उठाने में कुशल वक्ता जितने सफल हो सकते हैं उतने कुशल विद्वान् नहीं।

आर्यसमाज के संगठन को भी वक्ताओं से बहुत बल मिला है। यों भी समाज-सुधार के कार्यक्रम को अपनाकर चलने वाले इस संगठन का काम विचारों में परिवर्तन करना ही विशेष रहा है जो प्रचार-शैली द्वारा सुगमता से साध्य है। ऋषि दयानन्द स्वयं भी एक निर्भीक वक्ता और गंभीर विचारक थे। स्वा० श्रद्धानन्द, स्वा० दर्शनानन्द, पं० गणपति शर्मा, पं० लेखराम और महात्मा हंसराज आदि की वक्तृताओं ने देश के रूढ़िवाद को ही नहीं हिलाया अपितु देश की शिक्षाप्रणाली को भी नई दिशा में मोड़ा था। उनकी वाणी में वह जादू था कि जहाँ बैठ गये वहीं जंगल में मंगल हो गया। बारह आने पैसे अंटी में लगाये एक साधु गुरुकुल ज्वालापुर खड़ा कर गया और अपने दो बच्चों को साथ लेकर बियाबान जंगल में एक साधु ने काँगड़ी में धूनी रमाकर गुरुकुल बना डाला। ठीक ऐसी ही एक घटना सासनी के जंगलों में घटी। हाथरस के किसी सेठ ने एक लाख रुपया किसी सत्कार्य में लगाना निश्चय किया था, ठीक उन्हीं दिनों हाथरस नगर में वाग्मिप्रवर स्वा० दर्शनानन्दजी के भाषणों की धूम मची हुई थी। सेठजी स्वामी के भाषणों से अत्यन्त प्रभावित हुए और स्वामीजी के चरणों में एक लाख रुपये की थैली रखकर बोले—महाराज ! मेरा यह पैसा किसी शुभ काम में लगवा दीजिए। स्वामीजी ने कहा सेठजी लड़कों के तो कई गुरुकुल खुल गये, लड़कियों का कोई गुरुकुल नहीं है, वह आप खुलवादें। आदेश की देर थी, "शुभस्यशीघ्रम्" की उक्ति के अनुसार हाथरस और सासनी के मध्य भूमि खरीदी गई और गुरुकुल का निर्माण आरम्भ हो गया। कन्या-गुरुकुल खुला और चला भी पर किसी दिन रात को डाकुओं ने सब कार्यकर्ता वहाँ से परेशान करके भगा दिये। गुरुकुल चल भी न पाया था और टूट गया, बाकी वहाँ खड़े रह गये गुरुकुल के भवन जो किसी साहसी झाँसी रानी की बाट-सी जोहने लगे। उधर बरेलदेव की बरेली में अपनी सम्भाषण-शैली और होनहार प्रवृत्तियों से एक उत्साह पूर्ण महिला आर्यजगत् में अपना विशिष्ट स्थान बनाती जा रही थी। स्त्री सुधार-महाविद्यालय बरेली उसे अपना बनाकर रखना चाहती थी, पर उसे तो एक नगर की सीमा से निकल भारत में अपना प्रकाश फैलाना था। आचार्य रामदेव की पारखी आँखें उस पर पड़ीं और वह बरेली से देहरादून के कन्या गुरुकुल में उसे ले गये। एक ही वर्ष गुरुकुल पर वह अपने सद्गुणों और कार्यदक्षता से छा-सी गई परन्तु सर्वथा मनोनुकूल वातावरण न पाकर वहाँ से भी नया ही कन्या गुरुकुल खोलने की धुन में चल खड़ी हुई ! व्रत बहुत बड़ा था, सहयोगी कोई था नहीं पर, साहस का पारावार न था। कुछ ऐसी दैवी प्रेरणा हुई, हाथरस आर्यसमाज के उत्सव में भाषण देते समय अपना यह व्रत वह कह उठीं बस, फिर क्या था, अन्धा क्या चाहे दो आँखें, समाज वालों को भी ऐसी ही किसी दृढ़व्रती देवी की खोज थी। तुरन्त ताँगे पर बैठकर वह

गुरुकुल गईं, और उसके ठीक तीसरे दिन अपनी दो भतीजी, सौ रुपये और ईश्वर पर अडिग विश्वास लेकर गुरुकुल की वर्त्तमान यज्ञशाला में लक्ष्मी साक्षात् आ विराजीं। गुरुकुल का मुरझाया वातावरण फिर हरा होने लगा और (महात्मा) नारायण का सात्त्विक आशीर्वाद ले कार्य आरम्भ हुआ जिससे—

माया फिरी ऋषि की वह
सूखे वृक्ष लगे लहराने।

यह पवित्र संस्था अब अपने जीवन के पच्चीस वर्ष पूरे कर रजत-जयन्ती मनाने जा रही है। इस बीच में सैकड़ों स्नातिकायें यहाँ से शिक्षा प्राप्त कर राष्ट्र की सेवा में लग चुकी हैं और भविष्य में भी दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति यह संस्था करेगी ऐसा विश्वास है। यह और भी सौभाग्य की बात है कि अदम्य साहस की प्रतिमूर्ति, मधुर भाषिणी माता लक्ष्मीदेवीजी का गंभीर व्यक्तित्व आज भी उसी दृढ़ता से गुरुकुल का संचालन कर रहा है। उनका सौम्य स्वभाव और हँसमुख चेहरा सहसा किसे अपनी संस्था से स्नेह करने पर विवश नहीं कर देता। "वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि" माताजी ने संस्थाओं के जीवन में आने वाले अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं, पर ऐसी घटनायें तो साहसियों को और अधिक दृढ़ करने ही आती हैं। प्रभु उनके इस गुरुकुल को राष्ट्र का प्रकाश-स्तम्भ बनाये और दीर्घ जीवन प्रदान करे तथा शीघ्र वह समय आये जब—

झाँसी की रानी लक्ष्मी की
गाथा इतिहास सुनाएगा,
कन्या गुरुकुल की लक्ष्मी को
जग संगीतों में गाएगा।

अनुशासन का महत्त्व

[श्री पं० नरदेव स्नातक, संसद-सदस्य, मुख्याधिष्ठाता, वृन्दावन-गुरुकुल विश्वविद्यालय]

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज से पृथक् उसका विकास सम्भव नहीं। समाज में रह कर ही वह पल्लवित और पुष्पित होता है। समाज में रहने के लिए उसे बहुत कुछ अधिकारों के रूप में प्राप्त होता है। इन अधिकारों के साथ ही साथ अपना जीवन सफल और सुखी बनाने के लिए कर्त्तव्य भी लगे हुए हैं। इन कर्त्तव्यों का नियमित रूप से पालन करना ही अनुशासन है।

अनुशासन प्रकृति की देन है। प्रकृति का चक्र अनुशासन की कीली पर चल रहा है। यही कारण है कि समस्त नक्षत्रों का उदय-अस्त, वस्तुओं का क्रमशः परिवर्तन, रात और दिन का आगमन सभी परमपिता के अनुशासन में यथावत् चलते रहते हैं और

अनुशासनहीनता का परिणाम है भयंकर प्रलय देवताओं की निर्वाध विलास-निमग्नता के भयंकर प्रलय का दृश्य उपस्थित हुआ।

मनुष्य प्रकृति की गोद में पला है, अतः नियमों के अन्दर रहना आवश्यक है। यदि प्रकृति का चक्र नियमित न होता तो सृष्टि विशृङ्खल हो जाती। रवि, चन्द्र, नक्षत्र अपने स्थान से स्खलित हो जाते। ठीक इसी प्रकार अनुशासनहीन मानव उच्छृङ्खल और मर्यादाहीन होता है। अनियमित जीवन कभी सुख और शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ नियम और कानूनों का निर्माण होता है। सृष्टि के आरम्भ में प्राणी स्वच्छन्द विचरण करता था, किन्तु ज्यों-ज्यों मानवता का विकास हुआ, मनुष्य ने अनुशासन-नियमों की आवश्यकता अनुभव की। फलस्वरूप नियमों का निर्माण हुआ। नियमों के अभाव में संसार में दानवता का तांडव नृत्य होता। प्रत्येक व्यक्ति अपने को नियामक और राजा समझता। अनेक कानून और नियमों के बन जाने पर भी हम देखते हैं, प्रति दिन विचित्र घटनाएँ घटित होती रहती हैं जो अनुशासन-हीनता का परिणाम मात्र हैं। प्रायः देखा जाता है कि इक्का, ताँगा, मोटर, गाड़ी आदि अपने नियत-स्थान पर चलते रहते हैं, मूक पशु अपने स्वामी के इच्छानुसार समय पर कार्य करता है, किन्तु मनुष्य इतना अनुशासनहीन और अमर्यादित है कि वह आँख बन्द करके विचित्र गति से चलता है, जिसका परिणाम होता है प्रति दिन नूतन घटनाएँ। अनियमित और अमर्यादित जीवन—जीवन नहीं होता। अनुशासन में रहकर मनुष्य संयम और शिष्टता सीखता है जो जीवन को सौन्दर्य प्रदान करते हैं।

सभ्य कहलाये जाने वाले इस वर्त्तमान युग में जितनी अधिक अशान्ति, अनाचार और अनुशासनहीनता है, उतनी किसी भी युग में नहीं रही। प्रत्येक व्यक्ति कहता है, आज प्रगति का युग है; सभ्यता का युग है और राजनैतिक युग है, किन्तु यह सब विडम्बना मात्र है। विशेष रूप से अपने देश भारतवर्ष को इस समय इन सब बुराइयों का केन्द्र कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं, उसका एकमात्र कारण अनुशासनहीनता है। अनुशासन के विषय में हमारा देश इतना पिछड़ा हुआ है कि इस प्रवृत्ति को सँभालने में अभी सदियाँ बीत जायँगी। साधारण व्यक्तियों का तो कहना ही क्या, शिक्षित और समर्थ व्यक्ति भी इस रोग से पीड़ित हैं। सब अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग अलापते हैं। अनुशासन में रहना अपमान समझते हैं। प्राचीन काल में जहाँ विद्यार्थी गुरुओं के चरण-चिह्नों—संकेत मात्र पर, चलना अपना गौरव समझते थे, वहाँ आज इसी देश में स्कूलों और कालिजों का शिक्षित तथा सभ्य विद्यार्थी समुदाय अनुशासनहीनता में अग्रगामी है। उन्हें चिन्ता नहीं नियमों की—आदेश की। इच्छानुसार कार्य न होने पर विरुद्ध प्रतिक्रिया के लिए तत्पर रहते हैं। हमारे राष्ट्र-नायक प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने देश के नवयुवकों पर अनुशासनहीनता का दूषित प्रभाव देख अनेक बार रोष प्रकट किया है और चेतावनी दी है कि यदि हमारा युवक-समाज अनुशासन में रहना नहीं सीखेगा, तो वह कभी उन्नत न हो सकेगा।

अभी थोड़ा समय व्यतीत हुआ, जब हमारे प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू

रूस, यूगोस्लाविया, रोम, आस्ट्रिया, इंगलैण्ड, मिश्र आदि देशों का दौरा करके अपने देश लौटे तब उन्होंने उन देशों के नागरिकों तथा छात्रों की अनुशासन-प्रियता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। वहाँ शिक्षा संस्थाओं तथा विश्व-विद्यालयों आदि का उन्होंने निरीक्षण किया और वहाँ की अनुशासन-प्रियता की प्रवृत्ति देख कर भारतवासियों को उनका अनुकरण करने के लिए निर्देश किया। प्रधान मन्त्री की रूस-यात्रा फ़िल्म को देखने से प्रतीत होता है कि वे देश अनुशासन-प्रियता के कारण ही वैभवशाली एवं समृद्ध बने हुए हैं। यदि हमारे नागरिक विदेशों के नागरिकों का अनुकरण करें तो अपने देश का गत गौरव पुनः प्राप्त कर सकते हैं। आज हमारे नेताओं तथा राष्ट्रनायकों का समस्त देश के लिए यही सन्देश है।

इसमें सन्देह नहीं कि यदि किसी देश और जाति को सभ्यता के उन्नत शिखर पर पहुँचाना है तो अनुशासन उसकी महौषधि है। जिस परिवार में बच्चे माता-पिता के अनुशासन में रहते हैं, उसमें सुख-शान्ति निवास करती है। व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाने के लिए अनुशासन परमास्त्र है। बगीचा भी माली के अनुशासन में सुन्दर वाटिका का रूप धारण कर लेता है, अन्यथा वे ही वृक्ष झाड़-झंखाड़ और जंगल के नाम से पुकारे जाते हैं। सारांश यह कि संस्कृति तथा सभ्यता का विकास और शिक्षा की परख अनुशासन में ही सम्भव है, अन्य प्रकार नहीं।

विदेशों में आर्यसमाज

[श्री प्रेमनारायण अग्रवाल, एम. ए.]

आर्यसमाज का प्रचार संसार के सभी देशों में है। इंगलैण्ड, अमेरिका एवं मुसलमानी देशों में भी उसके प्रचारक गए हैं, उनमें इसके अनुयायी हैं। और इसका प्रचार-कार्य हो रहा है, पर सबसे अधिक इसका प्रचार उन देशों में हुआ, जहाँ प्रवासी भारतीय रहते हैं। संसार के विभिन्न देशों में रहने वालों की संख्या इस समय करीब ५० लाख है, पर, कुछ देश ऐसे हैं, जिनमें भारतीयों की संख्या हजारों-लाखों में है। मौरीशस में भारतीयों की आबादी अन्य सभी देश-वासियों को मिलाकर भी ज्यादा है। फ़िजी में भारतीय कुछ जगह ४६ प्रतिशत हैं। पूर्वीय अफ्रीका, दक्षिणी अफ्रीका, ट्रिनीदाद, ब्रटिश गायना, डच गायना आदि देशों में भी इनकी आबादी लाखों है। इन देशों में यदि आप पहुँच जायें तो ऐसा प्रतीत होगा मानो आप भारत के ही किसी भाग में अपने ही देश वासियों के बीच में रह रहे हैं। किसी विदेश में नहीं।

ये प्रवासी भारतीय यहाँ से जिस अवस्था में गये थे, जिस प्रकार वहाँ बसे, जिस प्रकार उन्होंने अपनी उन्नति की, इस समय जो उनकी दशा है और उन देशों का जो भेदभाव और ज्यादतियों का रवैया है, वह सुखद घटना नहीं है। आज से १२१ वर्ष

पूर्व सबसे पहले कितने ही भारतवासी मौरीशस में मज़दूर बना कर भेजे गए थे, इन विना पढ़े-लिखे, सीधे-सादे भारतीयों को यहाँ से बहला कर, धोखा देकर, विदेश में काम करने के लिए भेज दिया गया था। बाद में और भी कई देशों में ये भेजे गए, इन भारतीयों के सर्वाङ्गीन जीवन-विकास में आर्यसमाज ने सराहनीय काम किया है। उनकी उन्नतावस्था का श्रेय बहुत कुछ आर्यसमाज को ही है। अगर आर्यसमाज वहाँ न पहुँचता तो इतने भारतीयों की क्या दशा होती, उसकी कल्पना मात्र से रोमांच हो जाता है। उनमें से भारतीयता कभी की लुप्त हो गई होती, और अधिकतर भारतीय प्रभु ईसा मसीह के अनुयायी होकर, भारतीय सभ्यता-संस्कृति के विरुद्ध जिहाद बोलने में जरा भी न हिचकिचाते।

वास्तव में ईसाइयों ने इन भारतीयों के लिए, बहुत कुछ रुपया, समय और शक्ति का उपयोग किया था। जब भारतीय वहाँ पहुँचे, तो ईसाई लोग वहाँ पहिले से ही डटे हुए थे और वहाँ के आदिम निवासियों की 'सेवा' में रत थे। भारतीयों की असहाय और गिरी हुई अवस्था देखकर, इनमें भी इन्होंने 'मानव-कल्याणकारी' कार्य प्रारम्भ कर दिया। भारतीयों की वेश-भूषा तो वहाँ पहुँचकर अँग्रेजी ढंग की ही हो गई थी। वह चाहे पढ़े-लिखे हों या नहीं, चाहे मज़दूरी का ही काम करते हों, पर पहनते थे कोट-पतलून। उनके रहन-सहन का ढंग भी अँग्रेजी ही हो गया था। ईसाइयों ने उनके धार्मिक विचारों को भी बदलकर अपना रंग जमाना शुरू कर दिया था।

ऐसे कुसमय में, जब भारतीय अपनापन खो रहे थे, आर्यसमाज का प्रचार प्रारम्भ हुआ। भारत से जाने वाले मज़दूरों में उसने धार्मिक प्रचार कार्य करना शुरू किया। इस दिशा में मिल-जुल कर सब इनका आनन्द लेने लगे। कुछ वर्षों बाद प्रवासी भारतवासियों ने अपनी दशा सुधारने के लिए स्वयं प्रयत्न प्रारम्भ किया। उन्होंने भारत से धर्म-प्रचारक बुलाये। शिक्षक, वकील, डाक्टर आदि आमन्त्रित किये। जिनकी वहाँ कमी थी और जिनके लिए उन्हें अँग्रेजों पर निर्भर रहना पड़ता था। भारतीयों ने अपने चतुर्दिक विकास के लिए सभी आवश्यक कार्य देर-अबेर से प्रारम्भ कर दिये। और स्वयं अपनी अयोग्यता के कारण भारत से विभिन्न प्रकार के योग्य भारतीयों को बुलाने में दिल खोल कर रुपया खर्च किया। कुछ भारतीय अपने आप पहुँचे कुछ प्रचारक संस्थाओं द्वारा भेजे गए। इन आगन्तुओं ने प्रवासियों के साथ पूर्ण सहयोग करके, उनका उत्साह बढ़ाया, और उनके कार्यों को प्रोत्साहन दिया तथा, सफलता पूर्वक संचालन में यथेष्ट भाग लिया। परिणाम यह हुआ, कि प्रवासी भारतीयों की स्थिति एकदम बदल गई। एक ओर जहाँ उनकी धार्मिक दशा सुधरी, दूसरी ओर उनमें शिक्षा का खूब प्रचार हुआ। अपने देश के प्रति प्रेम और सद्भावनाओं का संचार हुआ, अपनी सभ्यता और संस्कृति में उनका अनुराग पैदा हुआ, और इस प्रकार उनकी आशातीत उन्नति हुई

प्रवासी भारतवासियों के इस कार्य में विभिन्न भारतीय प्रचारकों, धर्मावलम्बियों और नेताओं ने कार्य किया। पर, सबसे आगे आर्य समाज रहा उसके सिद्धान्तों ने

भारतीयों को अपनी ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया, और उनकी तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में वह भले प्रकार रम गया। प्रवासियों के जाति-पाँति विरोधी वातावरण में आर्यसमाज ही टिक सकता था, जो स्वयम् इस बुराई के विरुद्ध युद्ध कर रहा था।

इस समय इन उपनिवेशों में आर्यसमाज की जितनी अधिक प्रतिष्ठा और मान्यता है, उतनी भारत के अन्दर ही कितने ही शहरों या प्रदेशों में न होगी। वहाँ आर्य-समाज एक जीती-जागती अत्यन्त प्रगतिशील और प्रभावशाली संस्था है। इसके अनुयायियों की आर्यसमाज के प्रति आस्था अनेक भारतीय आर्यों से अधिक है। आर्यसमाज ने भारतीयों में भारतीय त्यौहारों को ठीक ढंग से मनाने का प्रचार किया, उनके सामाजिक जीवन में सामञ्जस्य व व्यवस्था स्थापित की, उनके वैवाहिक सम्बन्धों का उचित रूप से सन्तुलन किया, और उनमें भारतीय सभ्यता व संस्कृति का समावेश करके, मातृभूमि के प्रति प्रेम उत्पन्न किया। अब उनकी वेश-भूषा बाहरी ठाठ-बाट भले ही अँग्रेजी ढंग के हैं, पर, उनके अन्दर भारतीयता कूट-कूट कर भरी हुई है। वे भारत के भविष्य से अपना भविष्य भी बँधा समझने लगे हैं, और भारतीयों के भारत में होने वाले कार्यों में बराबर उत्साह पूर्वक सहयोग देते हैं। प्रवासी भारतीयों ने भारत के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन में भी धन-जन सब प्रकार से भाग लिया था। भारत की अनेक संस्थाओं में इन्होंने हजारों-लाखों रुपये लगाये हैं। अब भी प्रधान मंत्री के कोष में प्रतिवर्ष लाखों रुपया प्रवासी भारतीयों से प्राप्त होता है। वह भारत के दुःख से दुखी और सुख से सुखी होते हैं। स्वतन्त्र भारत से उनको बहुत आशायें हैं, भारतीय स्वतन्त्रता ने उनको मान-प्रतिष्ठा में पर्याप्त वृद्धि कर दी है। आज वह स्वतन्त्र भारतीयों की सन्तान हैं। यह बात उन्हें पग-पग पर अनुभव होती है।

आर्यसमाज ने उनमें हिन्दी का प्रचार किया। प्रायः प्रत्येक उपनिवेश में हिन्दी जानने वाले काफ़ी भारतीय मिल जायेंगे। कुछ उपनिवेशों में तो हिन्दी ही भारतीयों की प्रधान भाषा हो, इसलिए शिक्षण संस्थाओं में हिन्दी का ही प्राधान्य रहता है।

इसने अनेक स्कूल-कालिज खुलवाये हैं। करीब-करीब प्रत्येक देश में आर्यसमाज की शिक्षण संस्थायें हैं। सहस्रों गुरुकुल और डी० ए० वी० कालिज हैं जिनमें बालक-बालिकायें शिक्षा पाते हैं। आर्यसमाज ने अनेक प्रवासी भारतीयों को भारत में उच्च-शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा, क्योंकि वहाँ उच्च शिक्षा का प्रबन्ध अभी तक सन्तोष-जनक नहीं है। आर्यसमाज ने वहाँ कितने ही वाचनालय व पुस्तकालय खोले और कितने ही समाचार पत्र भी प्रकाशित किये।

आर्यसामाजिक प्रचारकों को इस कार्य में ईसाई मिशनरियों से भी खूब टक्कर लेनी पड़ी। क्योंकि ईसाइयों की आर्य समाजियों से सीधी प्रतिस्पर्धा थी और इनसे उनके प्रचार-कार्यों में बाधा भी पड़ती थी। ईसाई अपने उद्देश्यों में असफल होने लगे, परन्तु वहाँ उन्हें गोरी सरकार का सहयोग प्राप्त था। अतः उसके सहयोग से उन्होंने आर्य-समाज को जगह-जगह दबाने का प्रयत्न किया। फ़िजी में आर्यमिशनरी पं० श्रीकृष्ण शर्मा ने जोर-शोर से शुद्धि-आन्दोलन द्वारा ईसाई हुए भारतीयों को फिर वापस लेना प्रारम्भ

किया, और जब कुछ अंग्रेज परिवारों को प्रभावित करके आर्यसमाज में दीक्षित किया तो फिजी की सरकार चौकन्नी हो गई। उसने पं० श्रीकृष्ण शर्मा को पुनः फिजी में वापस आने से रोक दिया और उनका पासपोर्ट भारत सरकार को लिख कर जब्त करा दिया। और भी कई प्रचारक जो भारत से फिजी जाने को तैयार थे, नहीं जाने दिये गये। परन्तु इससे आर्यसमाज के पुरुषार्थी प्रचारकों का जोश ठंडा नहीं हुआ, और प्रचार-कार्य दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता गया। आज प्रवासी भारतीयों में आर्यसमाज का खूब प्रचार है। प्रत्येक उपनिवेश के प्रायः प्रत्येक ग्राम में आर्यसमाज के भव्य भवन बने हुए हैं। और इनके द्वारा कोई न कोई संस्था भारतीयों की सेवा का काम कर रही है। आर्यसमाज के शिक्षणालयों व अन्य संस्थाओं से केवल आर्यसमाज ने लाभ नहीं उठाया वरन् सभी धर्मावलम्बी लाभान्वित हुए हैं। आर्यसमाज की सभी संस्थाओं के द्वार सभी भारतीयों के लिए समान रूप से खुले हैं और सभी के साथ एक-सा व्यवहार होता है।

कभी-कभी कहीं-कहीं एक-आध शिकायत भी होती है। पर इतने बड़े कार्य में इस प्रकार की इक्का-दुक्का शिकायतों से हम आर्यसमाज के विशाल एवम् सराहनीय कार्य की उपेक्षा नहीं कर सकते और न इससे उसके कार्य का श्रेय ही कम हो सकता है। वास्तव में आर्यसमाज ने विदेशों में, खासकर प्रवासी भारतीयों में वह कार्य किया है जिसे कोई भी भारतीय संस्था नहीं कर पायी और यदि यह न किया जाता तो भारत की बहुत बड़ी हानि होती।

भारत से दूर उपनिवेशों में रहने वाले, प्रवासी भारतवासियों की प्रगति के संबध में, ऊपर की पंक्तियों में एक अति साधारण-सी झलक मात्र दिखाई गयी है। सारी स्थिति का वर्णन करने के लिये बहुत बड़े ग्रन्थ की आवश्यकता है। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा संसार के सब आर्यसमाजों की शिरोमणि सभा है। इस सभा से हमारी साग्रह और सविनय प्रार्थना है कि वह विदेशों और विशेष कर उपनिवेशों में किये गये आर्य-समाज के कार्यों का एक परम प्रामाणिक इतिहास शीघ्र तैयार करावे। निश्चय ही यह श्रम-साध्य है, परन्तु अति आवश्यक है, इससे आर्यसमाज की गौरव-वृद्धि होगी।

जीवन में धर्म की महत्ता

[आचार्य विश्वश्रवाः, प्रधानमन्त्री, सार्वदेशिक धर्मार्यसभा, देहली]

इस सृष्टि के अब तक के लगभग दो अरब वर्षों के इतिहास में अनेक नर-नारी आये और चले गये। पर, इतिहास के पृष्ठों पर कुछ ही नर-नारी दिखाई देते हैं। तो क्या इतने ही व्यक्ति संसार में आये और गये। आये हज़ारों पर जिनके जीवन में धर्म की महत्ता थी उनके शरीर को तो भौतिक अग्नि भस्म करने में समर्थ हुआ पर उनके अमर नाम और स्मरणीय कीर्ति को कोई न मेट सका।

जिन्होंने सुख और आराम से अपने जीवन बिताए, जो कष्टों से डरे, धर्म से विमुख होकर प्रलोभनों में फँसे वे इतिहास के पृष्ठों से उठ गये। पर, जिन्होंने सुख की अपेक्षा दुःख को, आराम की अपेक्षा कष्टों को, और प्रलोभनों की अपेक्षा त्याग को धर्म के कारण विशेषता दी, वे अमर हो गये, इतिहास के पृष्ठों ने उन्हें स्थान दिया और वे दूसरों के लिए भी अनुकरणीय पात्र बने।

क्या कारण है सृष्टि में हुई असंख्य नारियों में से सुलभा, मन्दालसा, लोपामुद्रा, सीता, सावित्री, अनसूया, द्रौपदी, गान्धारी, लक्ष्मीबाई, पद्मिनी, गार्गी, दमयन्ती आदि कुछ ही नाम जीवित जाग्रत दिखाई दे रहे हैं। क्या कारण है, कि आज नारियाँ इन नामों को रखने में अपना गौरव समझती हैं। क्या इसका एकमात्र यह उत्तर नहीं है कि इनके जीवन में धर्म की महत्ता थी। इन सब देवियों के जीवन में सुख और आराम से रहकर जीवन-यात्रा की प्रवृत्ति नहीं थी, जिन्होंने अपने पातिव्रत-धर्म और कुल-मर्यादा की रक्षा और देश-गौरव के लिये अपने जीवन में सुख का एक दिन भी नहीं देखा या आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर वेद-शास्त्र की रक्षा के कारण सुख के मार्ग गृहस्थाश्रम की ओर झाँका तक नहीं, अतः वे अजर हैं—अमर हैं। आज भी इन देवियों के नाम ले-लेकर और इन के गीत गा-गाकर यह देश संसार की सभ्यता में हिमालय के शिखर पर है। इन देवियों ने अपनी तपश्चर्या से अपने को ही अमर नहीं किया, प्रत्युत अपने देश को भी जीवन प्रदान किया।

विश्वामित्र, जमदग्नि, कश्यप, वशिष्ठ, दयानन्द आदि तथा मान्धाता, हरिश्चन्द्र, राम, कृष्ण आदि ही क्या सृष्टि में पुरुष हुए, क्यों ये ही जीवित हैं अन्य नाम सुनाई नहीं देते। इसका भी उपर्युक्त ही कारण है।

इन देवियों और महापुरुषों के जीवन की महत्ता है कि इन्होंने अपने शत्रुओं को राम+रावण, कंस+कृष्ण, गान्धी+गोडसे, श्रद्धानन्द+अब्दुल रशीद, दयानन्द+जगन्नाथ (रसोइया), युधिष्ठिर+दुर्योधन, प्रह्लाद+हिरण्यकशिपु, सीता+मन्थरा इस प्रकार इन दिव्य विभूतियों ने अपने विरोधियों को भी इतिहास में अमर बना दिया। इसीलिए कहा है:—

एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः,
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत् तु गच्छति।

हम देखते हैं कि भौतिक पदार्थों में से भी यदि उनका धर्म निकल जाए तो वे कुछ और ही हो जाते हैं। अग्नि में से यदि उसका धर्म निकल जाए तो वह अग्नि न कहा कर भस्म कहाता है। धर्म-रहित व्यक्ति ऐसा ही है जैसे काग़ज का फूल, काठ का घोड़ा, मट्टी का हाथी अथवा भुसभरा चर्म्म-मृग।

आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्,
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनः पशुभिः समानः।

परम पिता परमात्मा ने भी मनुष्य का जीवन धर्मोपार्जन के लिये ही दिया ; अतः

यह कर्म-योनि भी कहाती है, अन्य सब केवल भोग-योनियाँ ही हैं। इस रहस्य को न समझने वाले व्यक्ति केवल भोगवाद में जीवन व्यतीत करते रहते हैं। तब प्रभु भी यही सोचता है कि जब इसे भोग ही पसन्द है, तब भोग-योनि में ही जाओ।

अतः जो व्यक्ति अपने जीवन को महत्त्वपूर्ण बनाना चाहता है, वह उसे धर्मपूर्ण बनाए। जो व्यक्ति देश के इतिहास के पृष्ठों पर जीवित रहना चाहता है, वह अपने जीवन में धर्म को स्थान दे। जो मर कर भी परलोक सुधारना चाहता है, वह अपने जीवन को धर्ममय बनाए।

जिस समय आर्यसमाज का विस्तृत इतिहास लिखा जायगा, उस समय कन्या-गुरुकुल, सासनी (अलीगढ़) की संस्थापिका माता श्रीमती लक्ष्मीदेवीजी का नाम नहीं छिपाया जा सकता, जिन्होंने एक जंगल में बैठकर निराशा को आशा में परिणत कर दिया। कौन अनुमान कर सकता था कि इन खेतों में बैठकर भारतीय कन्याएँ पवित्र वेदों का गान करेंगी, किस की कल्पना में आया था कि इस जंगल में बस कर बालिकाएँ कपिल, कणाद, गौतम आदि के सूत्रों का अध्ययन करेंगी? क्या यह किसी के विचार में था कि साधारण भूमि में अष्टाध्यायी और महाभाष्य पढ़ा जायगा? क्या किसी को यह स्वप्न भी आ सकता था कि इस निर्जन भूमि में देवताओं की वाणी गूँजेगी। यह आशातीत बात थी कि यहाँ स्वाहाकार से गगन भर जायगा, यह सारा श्रेय किस को है :—

माता लक्ष्मीदेवी को, जिन्होंने सुख की अपेक्षा न कर नारी-जगत् के कल्याण के लिये, नहीं-नहीं, मनुष्यों का सुखद गृहाश्रम बनाने के लिये तपस्या का जीवन व्यतीत किया। अन्यथा वे भी साधारण नारियों के समान सुख का जीवन व्यतीत कर सकती थीं। अतः उन तपोमूर्ति माता लक्ष्मीदेवीजी के 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' में यह पुष्पाञ्जलि समर्पित है।

अन्त में अपनी पुत्रियों—माता लक्ष्मीदेवीजी की शिष्याओं से एक शब्द कहकर विराम लेता हूँ—गुरु द्रोणाचार्य द्रुपद के सम्बन्ध में अपनी इच्छा स्वयं पूरी नहीं कर सके, तब उनके शिष्य अर्जुन ने गुरु की इच्छा पूर्ति की। गुरु विरजानन्द देश के सम्बन्ध में अपनी जिन इच्छाओं को पूरी न कर पाये उनकी पूर्ति उनके शिष्य दयानन्दर्षि ने की। क्या माता लक्ष्मीदेवीजी की शिष्याओं में कोई शिष्या ऐसी है जो सांसारिक, सुख को नगण्य मानकर, धर्म को ही आदर्श समझे और आर्यसमाज के इतिहास-पृष्ठों पर माता लक्ष्मीदेवीजी के साथ-साथ अपना नाम भी छोड़ सके। यह कार्य वही शिष्या कर सकेगी जिसके जीवन में धर्म की महत्ता और महर्षि दयानन्द पर अटूट श्रद्धा होगी। इसे भविष्य ही बतायेगा।

भारतीय समाज में नारी का स्थान

[श्री डा० सूर्यदेव शर्मा, एस. ए., एल. टी., डी. लिट् , सिद्धान्त-वाचस्पति, शास्त्री, साहित्यालंकार, अजमेर]

भारतीय समाज में नारी का स्थान विभिन्न कालों में उच्चावच कटिबन्ध में दोलायमान होता रहा है। प्राचीन वैदिक साहित्य में नारी को जो स्थान मिला है, वह अत्यन्त गौरवास्पद है, किन्तु मध्यकालीन युग में तथा कुछ अंशों तक आधुनिक युग में भी पुरातन आर्य परम्पराओं के विपरीत समाज में नारी की अवहेलना की जाती रही है। यह क्यों और कैसे हुआ, यह विचारणीय है।

प्राचीन काल में वेदमन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों में कई स्त्रियों का भी स्थान है। वे पुरुषों के साथ वेद पढ़तीं और यज्ञों में भाग लेती थीं। वे स्वयंवर की विधि से अपना विवाह करती थीं तथा गृहस्थाश्रम के समस्त कर्त्तव्यों को भले प्रकार समझती और निबाहती थीं। मनुस्मृति के नवें अध्याय में स्त्रियों की उत्तम स्थिति पर कैसा सुन्दर प्रकाश डाला गया है, वहाँ लिखा है :—

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ (मनु० ६ । २६)

अर्थात् स्त्रियाँ गृहस्थ में सौभाग्यशालिनी, पूजा करने योग्य, लक्ष्मी के तुल्य घर की शोभा होती हैं। एक दूसरे स्थान पर भी मनु महाराज ने लिखा है:—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।

अर्थात् जिस घर में स्त्रियों की पूजा होती है, उसमें देवताओं का निवास होता है। इसीलिए अथर्ववेद ११ । १ । १७ में स्त्रियों को:—"शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमाः" अर्थात् शुद्ध, पवित्र, पूजनीय कहा गया है।

इसी प्रकार वैदिक साहित्य के अन्य ग्रन्थों में, शास्त्रों, उपनिषदों, ब्राह्मणों और यहाँ तक कि रामायण और महाभारत में भी स्त्रियों के लिये अनेक आदर और प्रतिष्ठा सूचक श्लोक और शब्द कहे गये हैं, जिनसे प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों की उच्च स्थिति का भले प्रकार ज्ञान हो जाता है। स्त्रियों को सदा पुरुषों का सहायक और सहयोगी होना चाहिये, जैसा कि महाभारत के शान्ति पर्व में लिखा है:—

धर्मार्थ काम कालेषु, भार्या पुंसः सहायिनी ।
विदेशे गमने चास्य, सैव विश्वास कारिका ।

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम के प्रत्येक समय में स्त्री पुरुष की सहायिका होती है और विदेश-गमन में तो वही सबसे विश्वासपात्र है। इसी भाव को लेकर अंग्रेजी के महाकवि मिल्टन ने अपने महाकाव्य Paradise Lost में लिखा है:—

"O fairest of creation, last and best of all God's works" अर्थात् सृष्टि में सबसे सुन्दर विभूति, ईश्वर की रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ और अंतिम नारी ही है।

किन्तु आश्चर्य यह है कि मध्य कालीन भारत में स्वामी शंकराचार्य के नाम से प्रचलित "प्रश्नोत्तरी" नामक पुस्तिका में नारी को नरक का द्वार बतलाया गया है। "द्वारं कि मेकम, नरकस्य ? नारी।" जिस नारी को वेद में देवी, ज्योतिः, शुद्धा, पूता, यज्ञिया आदि कहा गया है, उसको मध्य काल में नरक का द्वार बतलाया गया।

इसी प्रकार स्वार्थी लोगों ने लिख मारा "स्त्री शूद्रौ नाधियताम।" अर्थात् स्त्री और शूद्रों को पढ़ने का अधिकार नहीं है। और तो और महाकवि तुलसीदासजी भी इसी प्रवाह में बहते हुए कह गए:—

ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी। सम्भवतः ऐसे ही मध्य कालीन विचारों को पढ़कर पंडिता रमाबाई ने अमेरिका में लिखे हुए अपने ग्रन्थ "High caste Hindu Woman" में लिखा है कि मैं सत्यता पूर्वक कह सकती हूँ, मैंने भारत में कोई ऐसी पवित्र धार्मिक पुस्तक नहीं पढ़ी जिसमें मुझे स्त्रियों के प्रति घृणा की भावना न मिली हो। भला पंडिता रमाबाई की दृष्टि वैदिक साहित्य की ओर कैसे जा सकती थी ?

आधुनिक युग में सर्व-प्रथम ऋषि दयानन्द ने उच्च वैदिक आदर्श को हमारे सम्मुख उपस्थित किया और उनके संस्थापित आर्यसमाज ने स्त्री-शिक्षा को अपने हाथ में लिया और सैकड़ों की संख्या में कन्या-पाठशालायें, कन्या-गुरुकुल, कन्या-विद्यालय और कन्या-कालेज खोले गए। जालन्धर तथा बड़ौदा के कन्या-महाविद्यालय, कन्या-गुरुकुल देहरादून, इन्द्रप्रस्थ, प्रयाग, लखीमपुर आदि उच्च कोटि की आर्यसमाज की कन्या-शिक्षा संस्थाओं में से आज तक सहस्रों कन्याएँ सुशिक्षित होकर निकल चुकी हैं। ऐसी ही उच्च संस्थाओं में से कन्या-गुरुकुल-हाथरस एक परमोच्च संस्था है, जिसने गत २५ वर्षों में आर्यसमाज के शिक्षा-क्षेत्र में जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, वह भूरि-भूरि प्रशंसा के योग्य है। इसकी इस महती सफलता का श्रेय कुल-संस्थापिका एवं आजीवन सफल संचालिका सार्थकनामा पूज्य माता श्री लक्ष्मीदेवी जी को ही है। आपने अपना समस्त जीवन स्त्री शिक्षा के लिए तथा वैदिक आदर्श को पुनर्जीवित करने के लिए समर्पित कर रखा है। ऐसे नारी-रत्नों को परमात्मा चिरायु करे।

धर्म की आवश्यकता

[आचार्य श्री पं० द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री, मेरठ]

भारतीय संस्कृति में धर्म का सर्वोच्च स्थान है। मानवता के कल्याण के लिये धर्म ही ऐसी वस्तु है जिसके पालन से मनुष्य सर्वतोमुखी उन्नति कर सकता है। धर्म को सब तत्त्वों का मूल समझना चाहिये। जिस प्रकार मूल के विना वनस्पति-जगत् पनप नहीं सकता, उसी प्रकार धर्म के विना मानव-समाज पल्लवित, पुष्पित एवं सुफलित नहीं हो सकता।



स्नातिका-मण्डल (तृतीय)
इसमें स्वर्गीया स्नातिका सीताकुमारी भी दायीं ओर हैं।



स्व० पं० मथुराप्रसादजी भार्गव   स्व० डा० कृष्णप्रसादजी   स्व० पं० द्वारकाप्रसादजी भार्गव
[गुरुकुल के अनन्य हितैषी]

'मूलं नास्ति कुतः शाखा'

की कहावत इस विषय में अक्षरशः सत्य है। यद्यपि इस वर्त्तमान भौतिक युग में, विज्ञान के सार्वभौम साम्राज्य में, धर्म की चर्चा करना एक परिहासजनक बात समझी जायगी। आधुनिक वातावरण में पले हुए मस्तिष्कों में तो इस धर्म की चर्चा को देख कर निश्चय से यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि जबकि धर्म को आधुनिक वैज्ञानिक एवं राजनैतिक संसार ने अपने साम्राज्य से अर्द्धचन्द्र देकर बहिष्कृत कर दिया है, और जिसके विरुद्ध समुन्नत एवं समृद्धिशाली राष्ट्रों में घोषणा की जाती है कि धर्म एक विष है (Religion is opium), और ईश्वर एक धोका है (God is fraud) ईश्वर को आस्मान् से और धर्माचार्यों को पृथ्वी से मिटादो। (God from heaven and priest-craft from earth should be abolished) के नारे लगाये जाते हैं और जिस धर्म को सब अनर्थों का मूल समझा जाता है, ऐतिहासिक रक्तपातों का मूल कारण बताया जाता है उसी धर्म की चर्चा करने से अब क्या लाभ है। कोई और काम की बात कहिये। ईसाई धर्म ने योरोप में रक्तपात किया, इस्लाम का इतिहास भी धर्म के कारण ही खून से रँगा हुआ है। श्रीमान्, आज तो हमें आप अर्थशास्त्र की समस्या को समझावें, कामशास्त्र के रहस्यों पर प्रकाश डालें, राजनीति शास्त्र की कूटनीति की गुत्थियाँ खोलें। यन्त्र-शिल्प-कलाओं की चर्चा करें; विद्युत् एवं एटम् शक्तियों के आविष्कारों का मार्ग प्रदर्शन करें, जिससे हमारा आठ वर्ष का यह शिशुराष्ट्र भी समृद्धि-सम्पन्न राष्ट्रों का मुकाबिला कर सके। विशाल वाणिज्य का दिग्दर्शन करावें। जिनके द्वारा हमारे देश का कल्याण हो। आज का महान प्रश्न तो भाव और अभाव का है (The burning question of haves & have-nots) का है। धनपतियों व निर्धनों का है। अब धर्म की इन दकियानूसी बातों को छोड़िये। धर्म ने ही तो हमारा नाश किया है। आप फिर इसी को हमारे सर क्यों मढ़ते हैं। इत्यादि

धर्म के विषय में भ्रान्त धारणाः—यद्यपि एक दृष्टि से ऊपर जो कुछ कहा गया है वह बिल्कुल ठीक है। राष्ट्र के उत्थान के लिये उक्त सब बातों का होना आवश्यक है, तथापि प्रश्न तो यह है कि क्या धर्म इन बातों का विरोध करता है? कदापि नहीं, धर्म तो उलटा इन बातों का सहायक है, यदि ये बातें धर्म पूर्वक की जायें तो अधिक सफल हो सकती हैं। धर्म तो प्रत्येक व्यक्ति को सत्य एवं संयम सिखाता है। धर्म के विषय में यह एक भ्रान्त धारणा है कि धर्म ने विश्व को बड़ी हानि पहुँचाई है। इसके लिए प्रथम धर्म के स्वरूप को यथार्थतया समझ लेना चाहिए। धर्मशास्त्र के सर्वसमादृित आचार्य मनु भगवान धर्म का लक्षण इस प्रकार करते हैं।

धृतिः क्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्य मक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥

वास्तव में यह धर्म का यथार्थ लक्षण है इसको यदि आप समझलें तो धर्म के

विषय में फैला हुआ भ्रम दूर हो सकता है। धर्म के वास्तविक स्वरूप से परिचित कराने के लिए इसकी विशद एवं शास्त्रीय व्याख्या की जाती है।

(१) धृति—धैर्य, सङ्कट उपस्थित होने पर धैर्य धारण करने से ही काम बनता है अतः मनुष्य का धैर्य प्रथम कर्त्तव्य कर्म है, धर्म है।

(२) क्षमा—परेणापकारे कृते तस्य, प्रत्युपकाराचरणं क्षमा।

अपकार करने वाले के प्रति भी उपकार करना क्षमा कहाती है।

(३) दम—विकार हेतु विषय सन्निधानेऽपि अविक्रियित्वं मनसो दमनं दमः।

विकार हेतुओं के उपस्थित होने पर भी मन को विकृत न होने देना अथवा शीतातपादि द्वन्द्व सहनं दमः। शीत, आतप आदि द्वन्द्वों को भी सत् कार्य सिद्धयर्थ सहन करने का नाम दम है जिसे सहिष्णुता भी कह सकते हैं। अस्तेयम अन्यायेन धनादि ग्रहणं स्तेयं तद्भिन्नमस्तेयम्। अन्याय से परद्रव्यापहरण न करना अस्तेय है अर्थात् चोरी या बलात् किसी के द्रव्य को न लेना। शौच-शारीरिक तथा मानसिक शुद्धि को शौच कहते हैं। इन्द्रियनिग्रहः—विषयग्रस्त न होना ही इन्द्रिय निग्रह है। धीः—स्वाध्याय द्वारा ज्ञान-सम्पादन करना धीः है। सत्यम्—यथार्थाभिधानम् सत्यम विना किसी छल-प्रपञ्च के यथार्थ बात कहना सत्य है। अक्रोधः—व्यर्थ क्रोध न करना ये दस धर्म के लक्षण हैं। विचारिये इनमें कौन-सी बात से आपका मतभेद है ? ये वे गुण हैं, जिनमें व्यक्ति तथा समष्टि दोनों का समुत्थान निहित है। यदि समस्त राष्ट्र इस धर्म के स्वरूप को आचरण में लायें और पूर्ण रूप से क्रियान्वित करें तो सारी समस्यायें हल हो जावें। हमारा विश्वास है यदि इन तत्त्वों का मानवता में प्रचार हो तो यह संसार ही स्वर्ग बन जावे। कहीं दुःख-क्लेश लड़ाई-झगड़े, युद्ध एवं संग्रामों का निशान भी न रहे। उपर्युक्त सभी कार्य धर्म-सम्पन्न होने से सर्वाङ्ग सुन्दर एवं पूर्ण होते हैं अन्यथा विकलिताङ्ग होते हैं। इसी लिये तो महर्षि व्यास ने धर्म के द्वारा ही सब कार्यों की सिद्धि होना बताया है।

ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येषः नैव कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किन्न सेव्यते॥

जिस धर्म का यथार्थ पालन करने से अर्थ तथा काम आदि सभी सिद्ध होते हैं उस धर्म का पालन क्यों नहीं करते ?

धर्म का राजनीति से कोई विरोध नहीं। धर्म से विज्ञान का भी कोई विरोध नहीं। धर्म तो ऐहिक तथा पारमार्थिक दोनों प्रकार की उन्नति करना सिखाता है। शास्त्रकारों ने भी धर्म का लक्षण यह किया है।

यतोऽभ्युदय निश्रेयस् सिद्धि स धर्मः

भारतीय सभी दार्शनिक, धर्म का और ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं। सभी शास्त्रकारों की घोषणा है :—

धर्म एव हतोहन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः। (मनुः)

धर्म का हनन करो तो धर्म तुम्हारा हनन करेगा। यदि उसकी रक्षा करोगे तो वह तुम्हारी अवश्य रक्षा करेगा, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं। धर्म के स्वरूप को समझाने के लिये मनु भगवान् ने एक दूसरा भी अति सुन्दर लक्षण किया है :—

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्,
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

धर्म का सर्वस्व-सार सुनो और सुनकर उस पर आचरण करो, वह यह है कि जो अपने प्रतिकूल कार्य हों उनको दूसरे के लिये कभी मत करो। जैसे आप चाहते हैं कि आपको कोई धोखा न दे, आपकी कोई चोरी न करे, आपको कोई सताये नहीं, आपके साथ कोई अनुचित व्यवहार न करे, आपकी बेटी, बहू-बहन को कोई बुरी दृष्टि से न देखे, आपसे कोई द्वेष न करे, आपके ऊपर अन्याय तथा अत्याचार न करे, तो आप भी किसी के साथ उन बातों को न करें। कितना उत्तम भाव है। यदि सभी इस प्रकार करने लगें तो संसार में कोई अशान्ति नहीं हो सकती। मनु महाराज ने एक और भी बहुत सुन्दर लक्षण धर्म का किया है।

श्रुति स्मृति सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।

अर्थात् वेद तथा धर्मशास्त्रों ने जिसका प्रतिपादन किया है, वही धर्म है और अपनी आत्मा को जो प्रिय है, वह भी धर्म है। विशुद्ध आत्मतत्त्व को अर्थात् रजोगुण तथा तमोगुण से अनभिभूत पुनीत आत्मा को धार्मिक तत्त्व ही प्रिय हो सकता है। अधार्मिक बातें वह कभी पसन्द नहीं कर सकता। इसका तात्पर्य है कि अन्तरात्म-ध्वनि ही धर्म है। जब कोई ऐसा प्रसंग आवे, कि धर्म क्या, अधर्म क्या इसका निर्णय करना हो तो अपनी अन्तरात्म-ध्वनि को टटोलिये, वह आपको वास्तविक धर्म-उपदेश करेगी। जो कभी भ्रान्त नहीं हो सकता। यह भी धर्मतत्त्व-परीक्षण की एक उत्तम कसोटी है।

यहीं तक नहीं प्रत्युत् मानव-जीवन का सार ही एकमात्र धर्म है। प्रायः सभी आचार्यों ने धर्म की महिमा गायी है। चाहे वे दार्शनिक हों, चाहे राजनैतिक या साहित्यिक, आस्तिक हों या नास्तिक। तार्किक हों या शाब्दिक। प्रत्यक्षवादी हों या परोक्षवादी, सभी ने धर्म की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है और परम धर्म या मुख्य धर्म की ओर सङ्केत करते हुए सारभूत तत्त्व को बतलाते हुए यहाँ तक कहा है:—

अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्म दर्शनम्।

(मनु)

योगानुष्ठान से अन्ततोगत्वा जो आत्मदर्शन है, आत्मस्वरूप को पूर्णतया समझ लेना है वही मनुष्यमात्र का 'परमधर्म' है।

स्वयं आचार्य चाणक्य–लोक-विश्रुत कूटनीतिज्ञ कौटिल्य अपने कौटलीयार्थशास्त्र का उद्देश्य बताते हुए उसे राजनैतिक विजयों व साम्राज्य-सत्ता-सिद्धियों के प्राप्त करने का ध्येय नहीं बताता किन्तु उसका निम्नलिखित प्रयोजन बताता है :—

धर्मार्थं कामश्च प्रवर्त्तयति पाति च,
अधर्मानर्थविद्वेषानिदं शास्त्रं निहन्ति च।

अर्थात् यह शास्त्र, धर्म, अर्थ और काम इन तीनों की रक्षा एवं पालन का मार्ग है। इससे अधर्म का विनाश होता है। गीता में भी योगिराज कृष्ण का यही उपदेश है:—

'धर्म संस्थापनाय सम्भवामि युगे-युगे'

अतः मानवता के कल्याण के लिये एकमात्र धर्म ही परम साधन है।

परिस्थिति की पुकार !

[श्री मदन मोहन सेठ, एम० ए०, रिटायर्ड डिस्ट्रिक्ट और सेशन्स जज]

आर्यसमाज सदैव प्रगतिशील रहा है। मानव-जीवन की विभिन्न दिशाओं और दशाओं में, जितना काम आर्यसमाज ने किया, उतना वर्त्तमान युग में कदाचित किसी और सभा-संस्था ने नहीं किया। शिक्षा-सुधार, समाज-संशोधन, स्त्री जाति-उन्नति, अछूतोद्धार, संस्कृत और हिन्दी प्रचार, मिथ्या विश्वास-निवारण, देश-कल्याण, स्वातन्त्र्य-भावना जागरण, प्राचीन संस्कृति-विस्तार, मानवता-प्रचार इत्यादि सभी ओर इसकी प्रगति और प्रवृत्ति रही है। गोरक्षा पर तो आर्यसमाज ने विशेष रूप से बल दिया। अभिप्राय यह है कि उन्नति या विकास सम्बन्धी ऐसा कोई कार्य या क्षेत्र न था, जिस ओर आर्यसमाज का ध्यान न गया हो और उस दिशा में उसने कुछ न कुछ काम न किया हो।

आज देश स्वतन्त्र है, हम 'स्वराज्य' प्राप्त कर चुके हैं। परन्तु स्वतन्त्रता और 'स्वराज्य' का सब से पहले संकेत करने वाले आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द ही थे। खैर ये सब तो पिछली बातें हैं। सोचना यह है कि अब आर्यसमाज की क्या दशा है? वह कहाँ है? परतन्त्र भारत में आर्यसमाज का बहुत बड़ा विरोध था। विरोधी मत-सम्प्रदायों और अँग्रेज सरकार की ओर से भी। सरकार ने बहुत चाहा कि किसी प्रकार भारतोन्नति का उद्घोष करने वाला यह प्रगतिपूर्ण समाज नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाय। परन्तु अटल और अखण्ड वैदिक सिद्धान्तों तथा आर्य्यों के अदम्य उत्साह और निर्भय कर्म-योग के आगे सब को नत-मस्तक होना पड़ा।

आज स्वतन्त्र भारत में भी आर्यसमाज मौजूद है। उसकी अनेक शिरोमणि सभाएँ और संस्थाएँ हैं। गुरुकुल, कालिज एवम् हाईस्कूल हैं। पहले की अपेक्षा आर्य-समाजों और आर्यसमाजियों की संख्या भी अधिक है। कोई विरोध करने वाला भी नहीं है। फिर क्या कारण है कि समाज की प्रगति कुछ शिथिल-सी दिखाई देती है।

उसमें वह कर्मण्यता नहीं जो कभी थी और जिसके कारण वह विरोधियों को भी प्रभावित करता था। जब किसी व्यक्ति, समुदाय या संस्था को संघर्षों का सामना करना पड़ता है, तो उसमें जीवन-जागृति और कर्मण्यता की भावना उदय होती है, और जब मार्ग में किसी प्रकार की बाधा नहीं रहती तो सब में शिथिलता-सी आ जाती है। आर्य-समाज की भी यही हालत है।

मैंने लगातार छह वर्षों तक आगरा में रहकर आगरा कालिज में अध्ययन किया। यह आधी शती से पहले की बात है। उस समय आगरा के आर्य भाइयों और मेरे साथी आर्यकुमारों में, आर्यसमाज तथा वैदिक धर्म के प्रति असीम श्रद्धा थी। हम लोगों ने एक 'आर्यमित्र-सभा' खोल रखी थी, जिसमें प्रायः सब ही आर्य नवयुवक बड़े उत्साह से भाग लेते थे। विद्यार्थियों में बड़ा जीवन था। उस समय सम्भवतः आगरा में एक आर्यसमाज था, हींग की मन्डी में। उसी में सब आर्य भाई-बहन एकत्र होते और अपनी सामुदायिक शक्ति द्वारा नगर में वह काम करते थे कि विरोधी भी दाँतों तले उँगली दबा जाते थे। सारे नगर में आर्यसमाज की ही चर्चा और उसी का प्रभाव था। अब सुना है, आगरा में आठ आर्यसमाज हैं, परन्तु प्रगतिशीलता की अत्यन्त कमी है। आगरा ही क्यों अन्य नगरों की भी यही दशा है।

उस समय के विद्यार्थियों ने, पराई शिक्षण-संस्थाओं में पढ़ते हुए जो काम किये उन्हें आज बीसियों डी० ए० वी० हाईस्कूलों और डी० ए० वी० कालिजों के विद्यार्थी नहीं कर पा रहे। इसका मुख्य कारण संलग्नता का अभाव, धार्मिक प्रवृत्ति (मिशनरी स्प्रिट) की कमी और उत्साह का ठंडा पड़ जाना है। आज का विद्यार्थी ज्यों-त्यों परीक्षोतीर्ण होकर नौकरी प्राप्त करने को ही जीवन का अन्तिम ध्येय समझ बैठा है। उसे अन्य दिशाओं में काम करने की ओर रुचि ही नहीं होती, अथवा पढ़ाई से अवकाश ही महीं मिलता। मिलता भी है तो वह सिनेमा-संसार को समर्पित कर दिया जाता है। परीक्षा में पास होने और नौकरी पाने की लालसा तो पहले छात्रों में भी थी, परन्तु वे आर्यसमाज और अन्य सार्वजनिक सभा-संस्थाओं में भी खूब काम करते थे।

आज आर्यकुमार-परिषद हैं। आर्यकुमार-सम्मेलन भी होते रहते हैं। परन्तु उनमें जीवन नहीं, केवल रस्म-अदायगी है। एक समय ये सभाएँ शक्ति की पुञ्ज थीं। यही हमारी आर्य-प्रतिनिधि सभाओं की दशा है। जब उत्तर प्रदेश में ढाईसौ आर्यसमाज थे, तब दो-ढाईसौ प्रतिनिधि वार्षिक वृहदधिवेशन में भाग लेते थे और आज एक सहस्र से अधिक आर्यसमाजों में से केवल डेढ़ सौ-दोसौ प्रतिनिधि आते हैं। इससे हमारी शिथिलता स्पष्ट है। मेरी समझ में आर्य्यसमाज की शिथिलता दूर करने का एक ही उपाय है। छात्र-छात्राएँ, काम-काजी लोग, कार्य-निवृत्त (रिटायर्ड) व्यक्ति—स्त्री-पुरुष अपने समय का सर्वांश, अधिकांश या अल्पांश, जैसा भी ठीक समझें, नियमित रूप से आर्यसमाज की सेवा में लगावें। 'रिटायर्ड' से अभिप्राय सरकारी नौकरी से निवृत्त होने वालों का ही नहीं, बल्कि उन सब ही से है जो अपनी गृहस्थ-सम्बन्धिनी जिम्मेवारी पूरी कर चुके हैं

और जिन्हें वैदिक परिभाषा में 'वानप्रस्थी' कहते हैं। यों तो कोई व्यक्ति मृत्यु पर्यन्त भी घर के बखेड़ों से दूर नहीं हो पाता। अब हमें महात्मा मुन्शीराम, म० हंसराज, पं० लेखराम, पं० कृपाराम, ला० लाजपतराय, पं० गुरुदत्त, मनीषी नारायणप्रसाद आदि महान् नेताओं के चरण-चिन्हों पर चलना पड़ेगा। जिन्होंने संन्यास न लेकर या संन्यास लेने से पूर्व भी वैदिक धर्म की महान् सेवा की। इस दिशा में श्री पं० धुरेन्द्र शास्त्री का नाम कैसे भुलाया जा सकता है, जिन्होंने अपना सारा जीवन ही समाज-सेवा में समर्पित कर दिया। पूज्य आर्य्य संन्यासियों और अन्य त्यागी तपस्वी आर्य्य भाई-बहनों की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। आचार्या बहन लक्ष्मीदेवीजी भी उसी कोटि में हैं। और भी अनेक हैं, जिनसे आर्यसमाज की गौरव-वृद्धि हुई है।

सन्त विनोवा भूमि-भिक्षा में संलग्न हैं। आर्यसमाज की वर्त्तमान परिस्थिति निःस्वार्थ आर्य कार्य-कर्त्ताओं से 'समय' की भीख माँगती हैं। वृद्ध, युवक, नवयुवक, ब्रह्मचारी, विद्यार्थी, नर-नारी, कुमार-कुमारिका धनी-निर्धन सब ही को परिस्थिति की पुकार सुन उसकी झोली में सोत्साह समय—केवल 'समय' की—भीख डालनी चाहिए। श्रद्धापूर्वक दिया हुआ 'समय' ही 'जीवन-दान' है। जब जीवन ही दे दिया तो तन, मन, धन कहाँ रह जायगा। आओ, समाज-सेवा के लिये समय-दान दें और लोक-कल्याण-कामना में प्रवृत्त होकर महर्षि दयानन्द तथा महात्मा गाँधी के आदेश एवम् उपदेश के पवित्र पूर्ति-पथ पर अग्रसर हों।

गीता में नारियों का स्थान

[वाग्मिप्रवर श्री पं० विहारीलालजी शास्त्री, काव्यतीर्थ, उझियानी]

यद्यपि गीता दार्शनिक विचारों की पुस्तक है, तथापि उसमें स्थान-स्थान पर ऐसे-ऐसे वाक्य भी आ जाते हैं, जिनसे समाज का सम्बन्ध हो सकता है। यथा गीता का एक श्लोक है :—

मां तु पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोजयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम् ॥ अ० ९ श्लो० ३२।

अर्थ—हे अर्जुन मेरा आश्रय लेकर अर्थात्, मेरी शरण आकर अथवा सर्वतोभाव से मेरी भक्ति में लगकर, जो पाप-योनि अन्त्यज, चाण्डाल आदि हैं, और स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र वे भी परम गति अर्थात् मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं।

'अपि' शब्द बतलाता है कि अन्य ब्राह्मण, क्षत्रिय तो मोक्ष पा ही जाते हैं, पर, ये पापयोनि आदि भी मुक्ति-लाभ कर सकते हैं। अगले श्लोक में आया है :—

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।

अनित्यमसुखं लोक मिमं प्राप्य भजस्व माम् ।। अ० ६ श्लो० ३३ ।।

इस श्लोक से यह परिणाम निकलता है कि गीता की दृष्टि में वैश्य और शूद्र तथा चाण्डाल विना मेरी शरण के मुक्ति नहीं पा सकते। "तु" शब्द चाण्डालों, स्त्रियों और वैश्यों को ब्राह्मण, क्षत्रिय से पृथक् कर रहा है। भाव यह निकल रहा है कि मुक्ति के अन्य उपाय, यज्ञ, तप, योग आदि तो ब्राह्मण, क्षत्रियों को परम गति दे सकते हैं, पर, मेरी शरणागति चाण्डाल, स्त्री और वैश्य को भी मुक्ति प्रदान कर सकती है।

इस श्लोक की रचना के समय अथवा गीता-काल में वैश्य, स्त्री और अन्त्यज मुक्ति-भागी अथवा तप के अधिकारी नहीं माने जाते होंगे। कहाँ तो वेद का विधान कि स्त्री अधिकारिणी है, यज्ञ सपत्नीक होता है, स्त्रियाँ तप कर सकती हैं, ब्रह्मज्ञान का उनको भी अधिकार पुरुषों के समान ही है, गार्गी, सुलभा, मैत्रेयी इसके उदाहरण हैं। पर, गीता के समय में ये विचारी अन्त्यजों की पंक्ति में खड़ी कर दी गयीं। पुण्य ब्राह्मणों और भक्त राजर्षियों की पंक्ति से इन्हें पृथक् कर दिया गया। वैश्य भी द्विज हैं। पर, यह श्लोक उन्हें अन्य दो द्विजों (ब्राह्मण-क्षत्रियों) से पृथक् कर रहा है। उस समय भी सामाजिक हीनावस्था का इस श्लोक में एक शोचनीय चित्र है। "स्त्री शूद्रौ नाधीयताम्" से भी भयंकर गीता की व्यवस्था है। इसमें स्त्री और शूद्र ही नहीं, वैश्य भी घसीट लिये गये। गीता का पाठ अधिकतर स्त्रियाँ किया करती हैं, पर, कभी उनका ध्यान इस ओर नहीं जाता कि गीता उन्हें किस पंक्ति में खड़ा कर रही है।

हमारा अनुमान है कि यह श्लोक उस समय गढ़ा गया होगा, जिस समय वेद-विरुद्ध सम्प्रदाय वैष्णव आदि मत प्रचलित हुए होंगे। वैदिक कर्मकाण्ड यज्ञादि, औपनिषद् ब्रह्मज्ञान तथा पातञ्जलि योग आदि से हटाकर वैष्णव मत के पूजा-पाठ वा भक्ति-मार्ग में इन्हें लगाने को यह चाल चली गई होगी। इन्हें बताया गया होगा कि तुम्हारे लिये मुक्ति-मार्ग केवल कृष्ण-भक्ति ही है। सस्ता नुसखा स्त्रियों, वैश्यों और अन्त्यजों के लिये रखकर स्वमत में खींचने का यह सरल उपाय है और दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में भी स्त्री शरीर से जीव मोक्ष लाभ नहीं कर सकता यह मान्यता है।

अतः जैन मत से हटाने का भी यह उपाय अच्छा सोचा गया है। आज भी वैष्णव मत में अधिकांश वैश्य, शूद्र तथा स्त्रियाँ ही पाई जाती हैं। ब्राह्मण तो वे ही लोग इस मत में अधिक हैं कि जिनको गुरुआई मिली हुई है। इस श्लोक में रामकृष्ण की जन्मदात्री, ब्रह्मज्ञानी महर्षियों की माता, मन्दालसा जैसी माताएँ जिन्होंने अपने पुत्रों को लोरियों में ब्रह्मज्ञान का उपदेश सिखा दिया, उन्हें गीता ने खड़ा कर दिया अन्त्यजों के पास !

वेदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में भी स्त्रियों के लिये कुछ शब्द ऐसे आये हैं जिनसे स्त्रियों का अपमान-सा होता भास होता है। यथाः—न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्तिशाला वृकाणां हृदयान्येता ऋ० मं० १० सू० ६५ मं० १५। स्त्रियों की मित्रता कुछ नहीं ; ये बन्दर के-से हृदय वाली होती हैं। शतपथ ब्राह्मण में इसी पर पुरुरवा की कथा है। परन्तु यहाँ

नारी जाति के लिये यह शब्द नहीं हैं ; किन्तु नारी विषय के लिये कहा गया है। विषय रूपसे नारी का सेवन बुरा है। विलासिता की निन्दा यहाँ की गई है। उर्वशी अप्सरा है अर्थात् वेश्या। वेश्या-विलास की हीनता यहाँ प्रदर्शित की गई है। परन्तु गीता के उपर्युक्त श्लोक में तो नारी जाति मात्र को ब्राह्मण-क्षत्रियों से हीन बताया गया है।

परन्तु हम गीता को दोष नहीं दे सकते। महाभारत-काल से पहले ही स्त्री का अपमान होने लगा था। स्वयंवरों में अपहरण, जुए में दाव पर लगाना, सभा में अपमान ये सब बातें प्रकट करती हैं कि बल से गर्वित होकर पुरुषों ने नारियों को हीन समझना प्रारम्भ कर दिया था। वेदों के अप्रचार का यह फल था। भारत ही नहीं, अन्य देशों में भी नारी-विलासिता की वस्तु रह गयी थी। बाइबिल और कुरान में भी नारी की उत्पत्ति आदम की पसली से बताकर स्त्री की हीनता ही प्रकट की गयी है। आदम के नथनों में तो ईश्वर ने साँस फूँका अर्थात् पुरुष का प्राण ईश्वर का प्राण है। परन्तु नारी में किसका प्राण है इसकी चर्चा बाइबिल और कुरान में कहीं नहीं मिलेगी। ऐसे समय में जबकि समाज में स्त्री का स्थान गिर चुका था, गीता ने स्त्रियों को आश्वासन दिया। वैष्णव धर्म ने उन्हें भक्ति द्वारा मोक्ष-प्राप्ति की प्रेरणा की। गीता का यह श्लोक तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब है।

नारी का महत्त्व तो वे यज्ञ-ऋषि ही जान सकते थे। ऋषियों के प्रतिनिधि ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में नारी की महिमा दिखा कर इन्हें पूज्य और प्रतिष्ठित किया। आज नारी की महिमा जाग रही है। उसका गौरव बढ़ रहा है। वह समय दूर नहीं है, जब नारी वैदिक समय के गौरव को पुनः प्राप्त करेगी। इसके लिये शिक्षा की आवश्यकता है। नारियों में जागृति उत्पन्न करने की आवश्यकता है। आर्ष साहित्य का प्रचार और मत तथा सम्प्रदायों के साहित्य का निषेध ही नारी महिमा को पुनः प्रतिष्ठित करने में सहायक होगा। वह समय पुनः आ सकता है, जब कि नारियाँ वेद-द्रष्ट्री ऋषिकायें, आचार्यायें, उपाध्यायें, और ब्रह्मवादिनी हुआ करती थीं।

उसी समय को लाने के लिये वेद-विद्या कन्याओं को पढ़ाई जा रही है। तदर्थ ही तपस्विनी लक्ष्मीदेवीजी ने गुरुकुल खोला है। उनकी साधना सफल हुई है और आगे-आगे उनके कार्य का अधिक विकास होगा ऐसी आशा है। तब नरों की निर्मात्री शक्ति नारी का गौरव चमकेगा और वह पूज्य पद पर प्रतिष्ठित होगी।

सह-शिक्षा का प्रभाव

[कविविनोद, वैद्यभूषण पं० ठाकुरदत्त शर्मा, वैद्य (अमृतधारा) देहरादून]

शिक्षा-क्षेत्र में बालक-बालिकाओं की सह-शिक्षा का प्रश्न सदैव से एक विवाद का प्रश्न रहा है परन्तु भारतीय दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में सुनिश्चित विचार-धारा का पोषक है।

भारतीय शिक्षा-क्षेत्र में सुचलित वर्त्तमान सह-शिक्षा का प्रभाव निस्सन्देह बुरा और अनुचित ही हुआ है। यदि भारतीय जनता यहाँ यूरोप-अमरीका जैसी प्रथा और रीति-नीति लाना चाहती है तो सह-शिक्षा होनी ही चाहिये। और यदि भारत की मान-मर्यादा को स्थिर रखना है तो सह-शिक्षा अत्यन्त हानिकारक है।

विलास-प्रियता की वृद्धि—लड़कियाँ और लड़के स्कूल-कालेजों में बन-ठन कर आना चाहते हैं, जिससे एक दूसरे को सुन्दर लगें। इसका कुपरिणाम दोनों के अन्दर काम-वासना की प्रवृत्तियाँ बढ़ना और ब्रह्मचर्य का नष्ट होना है। इधर लड़के, उधर लड़कियाँ जब अपनी-अपनी टोलियों में एकत्र होते हैं, तो इसी विषय की चर्चा छिड़ती रहती है। शनैः-शनैः उनका मेल-जोल होना आरम्भ हो जाता है। दोनों परस्पर विवाह शीघ्र तो चाहे न करें किन्तु कुछ शेष भी नहीं रहता और असावधानी से कई लड़कियाँ कुल की सारी कीर्त्ति और प्रतिष्ठा पर पानी फेर देती हैं। गान्धर्व विवाह सम्पन्न हो जाते हैं, जिन्हें जब जी चाहा छोड़ भी देते हैं।

निर्लज्जता की पराकाष्ठा—उर्दू के दैनिक 'प्रताप' में कुछ दिन हुए एक लेखमाला निकल रही थी कि फैशन की बढ़ती हुई प्रवृत्ति का उत्तरदायित्व किस पर है? किसी ने पतियों को, किसी ने माता-पिताओं को और किसी ने लड़कियों को दोषी ठहराया। पर सच तो यह है कि यह काल का प्रवाह है, समय का प्रभाव है। लड़कियाँ माता, पिता भाई, सगे-सम्बन्धी किसी का भी कहना नहीं मानतीं। मैं तो लड़कियों को माता, पिता, भाई आदि के साथ निर्लज्जता पूर्वक घूमती देख कर हैरान हो जाता हूँ। यदि इस उच्छृङ्खलता को हृदय से बुरा भी मानें फिर भी रोक नहीं सकते। कालेजों में एक दूसरे की देखा-देखी फैशन बढ़ता है। लड़के और लड़कियों के सम्मिलित नाटक और नृत्य ऐसे ढंग पर होते हैं कि रंग-मंच की नायिकाओं और नायकों को नीचा देखना पड़ता है। स्कूलों और कालेजों में पारितोषिक-वितरणोत्सव पर किसी विद्या की परीक्षा नहीं ली जाती, वरन् नाटक, नाच-रंग का प्रदर्शन करना आवश्यक माना जाता है।

और वेश-भूषा? यह भी ऐसी होती है कि भाई-बहन का नाता साथ-साथ पढ़ने वाले कभी समझ नहीं सकते। शिर तो पूरा नंगा, छाती का पर्याप्त भाग भी नंगा, बाँह नग्न और अब तो पेट भी नग्न रहता है। उधर लड़कों के वस्त्राच्छादन में एक पतलून और दूसरी बुशशर्ट या कमीज रह गये हैं। लड़के और लड़कियों के सम्मिलित स्नान

११

के लिए जाते समय जो वस्त्र धारण किये जाते हैं, उनसे तो स्पष्ट झलक जाता है कि वे क्या बनने जा रहे हैं ?

वैवाहिक गम्भीरता भी नष्ट—विवाह की धार्मिक पवित्रता के स्थान पर आजकल कभी तो एक से कोर्टशिप हो रही है और कुछ क्षण के बाद किसी अन्य से। एक समय आता है जब कि दोनों परस्पर विवाह करने का वचन दे देते हैं। माता-पिता किसी कारणवश इसको अनुचित समझते हैं। परन्तु उनकी कुछ नहीं चलती, टका-सा जवाब मिल जाता है। काम के वशीभूत हुए सद्बुद्धि से काम ले ही नहीं सकते। परिणाम होता है, अन्त में दुःख। तब माथा पटकते और रोते हैं। कोई स्त्री की हत्या कर डालता है, कोई स्त्री पुरुष का काम तमाम कर देती है। किसी-किसी का पारस्परिक सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। पुरुष दूसरा विवाह कर लेता है। ऐसा पग अभी स्त्रियाँ कम उठाती हैं। मनचले तरुण और तरुणियों के ऐसे विवाह स्वर्गधाम बनने के स्थान पर नरक-निकेतन बन रहे हैं।

आचार-भ्रष्टता—मैं तो समझता हूँ कि जिस कार्य से आचार भ्रष्ट हो, ब्रह्मचर्य्य नष्ट होकर स्वास्थ्य बिगड़े, कुल की मान-मर्य्यादा मिटने लगे उसमें अन्य चाहे जितने लाभ हों, वह सर्वथा त्याज्य है। जवान लड़के-लड़कियों का सहवास कभी हितकर नहीं हुआ। फिर आजकल तो जब कि लोग धर्म और ईश्वर से विमुख होते जा रहे हैं यह कुप्रथा अत्यन्त हानिकारक है।

कहाँ तक लिखा जाय ? गम्भीरता पूर्वक विचार कीजिये और पीछे पग उठाइये।

दक्षिण देश में आर्यसमाज

[श्री पं० नरेन्द्रजी, एम-एल-ए, प्रधान, आर्य्य प्रतिनिधि सभा, हैदराबाद प्रदेश, एवम् उपप्रधान, सार्वदेशिक सभा, देहली]

यद्यपि ऋषि दयानन्द वर्त्तमान सौराष्ट्र प्रदेश में उत्पन्न हुए थे; तथापि उनका कार्यक्षेत्र मुख्यतः उत्तरीय भारत रहा। इसे यों कह सकते हैं कि हिन्दी भाषा से प्रभावित क्षेत्र में ही मुख्यतः ऋषि दयानन्द घूमे। मैं यह समझता हूँ कि दूरदर्शी ऋषि ने इस प्रान्त को इसीलिये पकड़ा कि इसमें एक राष्ट्रभाषा हिन्दी रूप में स्वतः ही विकसित हो रही थी। जो हो, ऋषि पश्चिमी-भारत में पूने से, मध्यभारत में नागपुर से और पूर्वीभारत में कलकत्ते से आगे नहीं बढ़े। बम्बई से कलकत्ता, मध्य-प्रदेश द्वारा जाने वाली रेलवे लाइन से वे आगे नहीं बढ़े।

वस्तुतः यही दक्षिण-भारत है। कलकत्ते से आगे मद्रास लाइन पर चिकाकोल से आन्ध्र-राष्ट्र शुरू होता है। देहली-मद्रास लाइन पर स्थित वल्हारशाह से आगे आन्ध्र-

भाषा-भाषी प्रान्त और उधर पूना से आगे समुद्रतट की ओर एवं बम्बई, मद्रास रेल-पथ पर गुलबर्गा से आगे कर्नाटक राष्ट्र प्रारम्भ हो जाता है। कुछ आगे दक्षिण की ओर जाने पर तामिलनाड पूर्वीसमुद्र तट पर रामेश्वरम् धनुषकोडी तिरुचेन्दूर तक, पश्चिमी समुद्र-तट पर इरनाक्यूलम् से तिरुवनन्तपुरम्, कन्याकुमारी तक 'मलयालम देश' है। इधर ऋषि के पद नहीं पहुँचे।

वर्त्तमान हैदराबाद प्रदेश भी वस्तुतः दक्षिण भारत का ही अंश है। इसे हम दक्षिण भारत का मुख-द्वार कह सकते हैं। इसमें मुख्यतः आन्ध्रभाषा, उससे कम कर्नाटक और उससे कम मराठी भाषा बोली जाती है, बंगाल की बंगाली भाषा की तरह इस प्रदेश की कोई भाषा विशेष नहीं। १८ वीं शती के अन्त में मुसलमानी शासन के अधीन हो जाने के कारण यहाँ 'उर्दू' का ज़ोर हो गया। यह प्रान्त भी ऋषि दयानन्द के पवित्र चरणों की धूलि से वंचित रहा।

परन्तु आज से सत्तर वर्ष पूर्व ही इसमें आर्यसमाज का बीज पड़ गया। वह बम्बई पूना की ओर से और वर्त्तमान उत्तर प्रदेश की ओर से आया। सब से प्रथम समाज 'धारूर' में खुली। उसमें आने वाले यू० पी० के राजपूत हैं; परन्तु उनके किसी पूर्वज ने ऋषि दयानन्द के व्याख्यान पूना में सुने थे। दूसरा समाज सुलतान बाज़ार हैदराबाद शहर का है।

दक्षिण देश के द्वार इस हैदराबाद स्टेट में बड़ी तीव्रता और दृढ़ता से समाज फैला। सामान्य पढ़े-लिखे उर्दू-दाँ होने के कारण हिन्दी भाषा समझ सकते थे। आर्य-समाज का सारा साहित्य हिन्दी में है; क्योंकि प्रचार भी हिन्दी भाषाभाषी प्रान्त में हुआ, परिणामतः प्रचारक भी हिन्दी भाषा-भाषी ही थे। उनकी पहुँच ही उस प्रदेश तक हो सकती थी, जहाँ तक हिन्दी भाषा या उससे मिलती-जुलती भाषा का बोलबाला हो। इसलिए यद्यपि स्वयं ऋषि इस प्रदेश में नहीं आये, तथापि हिन्दी भाषा के कारण यहाँ पर अच्छा प्रचार हो गया। इस प्रदेश में भी जहाँ पर उर्दू हिन्दी का विशेष प्रचार नहीं था—तैलंगाना प्रान्त वहाँ पर अपेक्षाकृत समाज का बहुत कम प्रचार है। पचास वर्ष के प्रचार के बावजूद भी नौ ज़िलों वाले इस तैलंगाना में पाँच-सात समाजें ही चालू हैं। मुरठवाड़ा जहाँ की लिपि भी देवनागरी है, पाँच ज़िलों वाला प्रान्त होते हुए भी वहाँ सर्वत्र समाजें हैं, सौ से कम संख्या नहीं। इन समाजों में पुराना आर्य-साहित्य भी है। तेलंगाना में न समाजें और न साहित्य।

जो प्रचार की गति भारत के अन्य प्रान्तों में है, वह यहाँ नहीं। जितनी शक्ति उधर समाज के सर्वविध प्रचार के लिए व्यय हुई, उतनी इधर नहीं।

हैदराबाद से आगे के दक्षिण भारत में आर्यसमाज का नियमित प्रचार ४० वर्ष पूर्व तक नहीं था। सब से पूर्व मोपला-विद्रोह के समय मालावार में समाज पहुँचा। स्वर्गीय अमर-जीवी स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज स्वयं भी एक वार दक्षिण देश में प्रचारार्थ पधारे थे।

श्री पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, श्री पं० धर्मदेव विद्यामार्त्तण्ड, श्री पं० मदनमोहन विद्यासागर वेदालंकार, श्री पं० केशवदेव ज्ञानी इधर प्रचारार्थ रहे। ये सब गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक हैं। अभी-अभी श्री पं० सत्यपाल वेद-शिरोमणि प्रचारक नियुक्त हुए हैं; जो गुरुकुल वृन्दावन के स्नातक हैं। स्व० स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज, श्री नारायण स्वामीजी महाराज ने भी प्रचार-यात्रायें कीं। श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्यायजी ने तो कई बार दौरा किया और दक्षिण-प्रचार के संगठन में पर्याप्त काम किया।

इस आन्ध्र-कर्नाटक-तामिल, मलयालम चार भाषाभाषी विस्तृत दक्षिण भारत में कुल दो प्रचारक हैं। आन्ध्र में श्री पं० मदनमोहन विद्यासागर और कर्नाटक में श्री पं० सत्यपाल शर्मा। श्री पं० मदनमोहनजी ने अपने प्रचार-काल में लगभग २३ स्थानों में समाज स्थापित कीं, और तेलगू भाषा में ३० से अधिक उत्तम पुस्तकें प्रकाशित कराईं। आन्ध्रदेश में प्रचार का बहुत बड़ा श्रेय दक्षिणी आर्य विद्वान् पं० गोपदेवजी को है। आप बाल ब्रह्मचारी योगी हैं, सारा भारत-भ्रमण किये हैं। दर्शन-शास्त्रों के महान् पण्डित हैं। तेलगू भाषा में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग दर्शनों के आर्य भाष्यकार हैं। आजकल श्री पं० मदनमोहनजी और आप दोनों 'सत्यार्थ-प्रकाश' का तेलगू संस्करण करने में लगे हैं। आप स्वतन्त्र प्रचारक हैं।

इस सारे दक्षिण भारत में इस समय चार समाजें ही ऐसी हैं, जिनके पास अपने भवन हैं। आर्यसमाज मद्रास, इसके मालिक ट्रस्टी हैं। आर्यसमाज कूचिपूड़ी (वाया तेनाली), आर्यसमाज बैंगलूर और मैंगलूर।

इतने बड़े दक्षिण भारत में आर्यसमाज का प्रचार आसान नहीं। एक दो स्नातकों को भेज उनसे प्रति-वर्ष समाजों की स्थापना की आशा समुचित नहीं। अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। उत्तरीय भारत से दक्षिण भारत आचार-विचार, वेशभूषा, रहन-सहन, भाषा-संस्कृति सब दृष्टियों से भिन्न है। प्रचार-योजना बनाते समय ये सब बातें सामने रखनी चाहिये।

उत्तरीय भारत में ही भारतीयों के सब अवतार हुए हैं; परन्तु वर्त्तमान दार्शनिक "हिन्दू दृष्टिकोण" के सभी आचार्य दक्षिण देशोत्पन्न हैं। श्री शंकर, श्री रामानुज, श्री मध्व, श्री निम्वार्काचार्य आदि सभी दाक्षिणात्य हैं। इसलिये इनके प्रतिपादित मतों का प्रचार इस प्रदेश में खूब है और जगह-जगह पर इनके मठ हैं। इन्होंने अपने जीवन-काल में सारे भारत में भ्रमण किया और उत्तरीय भारत को अपने मत का बनाया और वहाँ भी अपने-अपने मठ स्थापित किये। परन्तु ऋषि दयानन्द दक्षिणी और उत्तरीय भारत के मध्य सौराष्ट्र के होते हुए भी उत्तरीय भारत में अधिक रहे। दक्षिण भारत में वे स्वयं आ न सके और उनके उत्तराधिकारियों ने अपने को अपने-अपने प्रान्तों में ही ऐसा फँसाया कि 'दक्षिण-प्रदेश' प्रचार की हवा से अछूता ही रहा।

अब समय है कि हम एक व्यवस्थित क्रमबद्ध योजना इस प्रान्त में प्रचार की बनावें। योजना की रूपरेखा—

(१) इस समय आन्ध्र और कर्नाटक प्रान्त में जो प्रचार हो रहा है, उसे और अधिक व्यवस्थित किया जाना चाहिये। मध्य प्रदेश-आ० प्र० नि० सभा, बम्बई आ० प्र० नि० सभा और हैदराबाद आ० प्र० नि० सभा तीनों को मिलकर इस प्रचार का उत्तरदायित्व लेना चाहिये। परन्तु यह सब सार्वदेशिक सभा के तत्त्वावधान में होना चाहिये।

(२) इसके लिये नियत पुरोगम बनाकर पंचवर्षीय योजना निश्चित कर लेनी चाहिये। इस समय पूर्व योजना के अनुसार कुछ मुख्य स्थान नियत करके उन स्थानों पर क्रमबद्ध प्रचार धड़ल्ले से किया जाना चाहिये। उसके लिये,

(१) उच्चस्तर के वैदिक विद्वान् ही प्रचारक नियुक्त किये जावें; जो अँग्रेजी जानें या न जानें; परन्तु संस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान् हों। वे अच्छे व्यक्तित्व वाले हों, स्वभाव के मिलनसार और मधुर दृढ़-संकल्प हों, सदाचारी हों।

(२) ऐसा साहित्य प्रान्तीय भाषाओं में हो, जो कि प्रचलित अवैदिक मतमतान्तरों का खण्डन करे। उसके साथ-साथ वेद-धर्म-पोषक साहित्य भी प्रचुर मात्रा में हो।

(३) आर्यसमाज को चाहिये कि कुछ ऐसे विद्वान् चुनें, जो इन देशों में ही जाकर बस जावें। आर्यसमाज को उनके स्थिर निवास का प्रबन्ध कर देना चाहिये।

आज का प्रचार तो दो नदियों के बीच में बहने वाले नाले के रूप में है। इसे नदी का रूप देना होगा, तभी दक्षिण भारत में 'मत' और 'विज्ञान' के नाम से फैले अन्धविश्वास, कुप्रथायें, अवैदिक-मतमतान्तर और नास्तिकवाद की समाप्ति होगी। और ऋषि दयानन्द प्रतिपादित वेदधर्म की ज्योति से दक्षिण भारत आलोकित हो सकेगा।

आदर्श कैसे स्थापित रहेगा ?

[श्री पं० धर्मपाल विद्यालंकार, काँगड़ी गुरुकुल-विश्वविद्यालय]

कन्या-गुरुकुल सासनी, हाथरस अपनी रजत-जयन्ती मना रहा है। आर्यसमाज के इतिहास में कन्याओं की शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में उसने अपना विशेष स्थान बना लिया है और उसकी संस्थापिका आचार्या लक्ष्मीदेवीजी ने जिस कठोर तपस्या से इस संस्था को महत्त्वशाली बनाया है, उससे न केवल स्वयं उनका ही रक्षिका मातृरूप प्रस्फुटित हुआ है, अपितु आर्यसमाज की भी ख्याति हुई है। लगभग एक चौथाई शताब्दि पूर्व आर्यजगत् में यह आन्दोलन था कि देवियों को आर्य किस प्रकार बनाया जावे। आचार्या लक्ष्मीदेवीजी ने यह उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य, उत्तर प्रदेश में अपने ऊपर स्वीकार किया और इस कार्य के लिये अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया।

विदेशी अँग्रेजी राज्य में गुरुकुल जैसी स्वतन्त्र संस्थाओं की जितनी अधिक आवश्यकता थी, उससे अधिक आवश्यकता इस समय अनुभव की जाने लगी है। भारत

ने इस समय पश्चिमीय समाज-व्यवस्था के आदर्श को स्वीकार करने का निश्चय कर लिया है और पश्चिमीय देशों की प्रगतिशीलता और उन्नति को आदर्श मानकर नवीन धर्मशास्त्र का निर्माण भी कर लिया गया है। देश की मानसिक दशा ऐसी है कि पश्चिमीय जगत् के आचार-विचार में आस्था रखने वाले महानुभाव समय को संक्रान्ति-काल का नाम देकर अपनी मनमानी बात को प्रचलित करने तथा दूसरों को भुलावे में डालने का यत्न करते हैं। इस समय तो ऐसा ही प्रतीत हो रहा है कि देश ने यह निश्चय कर लिया है कि चाहें कोई बात कितनी ही अच्छी क्यों न हो उसको अवश्य परिवर्तित करना ही है। परिणाम यह है कि व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में पूर्व की अनुभूत और कल्याणकारी परम्पराओं व आदर्शों की रक्षा करना लगभग असम्भव-सा यदि नहीं है तो अत्यन्त कठिन अवश्य हो गया है—भारत में भारतीयता का विनाश प्रत्यक्ष में लक्षित होने लगा है। यह स्थिति लगभग उन सभी स्थानों व संस्थाओं में भी देखी जाती है जो भारतीयता की रक्षा के लिये स्थापित की गई थीं और जो यह बतलाती हैं कि देश में विचारों की दिशा का प्रवाह किस ओर है।

ऋषि दयानन्द के अनुयायी आर्यपुरुषों ने बालकों के गुरुकुल और कन्या-गुरुकुल आदि संस्थाओं की स्थापना द्वारा प्राचीन आर्य सदाचार स्थापित करने और बालक-बालिकाओं में "सादा जीवन और उच्च विचार" की परिस्थिति उत्पन्न करने का प्रयास किया था—विचारणीय यह है कि इस उद्देश्य में कितनी सफलता कहाँ तक प्राप्त हुई ? यदि नहीं हुई तो क्यों ?

आज सर्वत्र पश्चिमीय आचार-विचार के आदर्श मानसिक रूप में स्वीकार कर लिये गये हैं—कुछ शर्म, लिहाज, संकोच व इसी प्रकार के अन्य कई कारण हैं कि जिन से हम अपने मंचों पर, साहित्य में भारतीयता का राग अलापते तो हैं; परन्तु हृदय पश्चिमीय आचार-विचार और वेश-भूषा में रँग चुका है। यह तो सम्भव ही नहीं है कि वेश-भूषा विदेशी अपनाई जावे और विचार भारतीय रह सकें। न यही सम्भव है कि विचारों में विदेशीय आदर्श स्वीकार कर लिया जावे और वेश-भूषा भारतीय रह सके।

आज यह सब बदला हुआ है और परिणाम यह है कि हमारी सांस्कृतिक संस्थाएँ अपने जीवन का अन्तिम श्वास लेती हुई-सी जान पड़ती हैं। बिना सरकारी सहायता के स्वतन्त्र शिक्षण संस्थाओं का जीवन संकटापन्न हो उठा है। राजनीति के वर्त्तमान घुमाव के कारण शिक्षा-शास्त्रियों का प्रभाव अत्यन्त न्यून और राजनैतिक नेताओं का अत्यधिक हो गया है। शिक्षा, विद्या के लिये न होकर केवल राजनीति व रोजगार के लिये दी जाने लगी है। जब यह स्थिति है, तब जो महानुभाव भी अपने भारतीय आचार-विचार के आदर्श में आस्था रखते हों, उनके लिए कितना अधिक त्याग, परिश्रम करने की आवश्यकता होगी इसका अनुमान करना कुछ कठिन नहीं है। यदि उन्हें हँसी का पात्र भी बनना पड़े तो भी आश्चर्य की बात न होगी। क्या आर्य पुरुष इस विषम परिस्थिति से निकल सकेंगे और अपनी इन आदर्श संस्थाओं की रक्षा कर सकेंगे ?

आर्ष शिक्षा-प्रणाली अनिवार्य है

[पूज्य श्री स्वा० ब्रह्मानन्दजी महाराज दण्डी, आर्ष गुरुकुल, एटा]

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तोऽप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् अपघ्नन्तो अराव्णः। सामवेद।

"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्"—विश्व को आर्य-अर्थात् श्रेष्ठ, धर्मात्मा, परोपकारी विद्वान् बनाओ यह ईश्वर का आदेश है। भगवान् की यह आज्ञा आर्यों के लिए है। 'आर्य्यः ईश्वरपुत्रः'—यह वाक्य निरुक्त का है। भगवान् का आदेश प्रियपुत्र आर्यों को है। यास्क मुनि ने आर्य्य को ईश्वर-पुत्र कहा है। आत्मिक शक्ति-सम्पन्न, कर्मशील, आलस्य-प्रमाद से रहित विद्वान् को आर्य्य कहते हैं। आर्य ही, अनार्य को श्रेष्ठ-आर्य बना सकता है। ईश्वर का यह आदेश नित्य है। सृष्टि के आदि में ईश्वर ने अपना ज्ञान वेद सर्व-प्रथम अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरः इन चार देव ऋषियों को प्रदान किया। अर्थात् इन ऋषियों ने ही पूर्व सृष्टि में अपने अन्तःकरण को शुद्ध-पवित्र बनाया था। वे आर्य्य थे, आर्यों को ईश्वर ने अपना ज्ञान देकर आदेश दिया, तुम विश्व को आर्य बनाओ। उक्त चारों ऋषियों से जिसने चार वेद सृष्टि के आदि में पढ़े, वह आदिश्रुत ऋषि ब्रह्मा हुआ और उससे अध्ययन करके उत्तरोत्तर जैमिनि पर्यन्त ऋषि होते चले आये। जैमिनि के पश्चात् ऋषि होना बन्द हो गया। महाभारत को पाँच हजार वर्ष हो गये। इस बीच में कोई ऋषि नहीं हुआ। ऋषि का शास्त्रोक्त लक्षण है—

"ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो मन्त्रान् सम्प्राददुः"

निरुक्ताचार्य्य मन्त्रों के द्रष्टा अर्थात् साक्षात् करने वाले को ऋषि कहते हैं। अर्थात् शब्द, अर्थ, प्रसंग और औचित्य इसके अनुसार जिसने वेदार्थ किया हो, वह ऋषि है। ऋषि का लक्षण महाभारत में भी किया गया है। महाभारत-काल में एक बृहत्सभा हुई, उसमें सबके भाषणों के पश्चात् शाम्भव्य नाम के ऋषि बोलने खड़े हुए और उन्होंने कहा—

ततः स्वाचरणो विप्रः सम्मतोऽर्थ विशारदः
साम्भव्यो ह्वृचो राजन् वक्तुं समुचक्रमे

इस श्लोकानुसार जिसमें योग्यता हो वह ऋषि होता है, अर्थात् सदाचारी, ब्राह्मण, सर्वसम्मत, अर्थ-विशारद, राजनीति का पण्डित और ईश्वरीय ज्ञान वेद का ज्ञाता वह बहुत ऋग्वान् हो। जैमिनि के पश्चात् इस युग में १३० वर्ष पूर्व ऋषि, दयानन्दजी महाराज हुए। एक-एक वेद एक-एक ऋषि के द्वारा प्राप्त हुआ। किन्तु ऋषि दयानन्द द्वारा चारों वेद प्राप्त हुए। अतएव स्वामी दयानन्द को महर्षि उपाधि से अलंकृत किया गया और यह कथन सत्य हो गया कि ब्रह्मा से लेकर महर्षि दयानन्द पर्यन्त जो भी हुए हैं, उन सबका माननीय वैदिक धर्म था, अर्थात् एक धर्म—एक ईश्वर। आपस में कुछ भी मत-भेद न था। सबके सब आर्ष विद्वानों से आर्षग्रन्थ पढ़ कर ही ऋषि बने थे। आर्ष-ग्रन्थों के परम भक्त श्री स्वा० विरजानन्दजी दण्डी से आर्ष-ग्रन्थ अष्टाध्यायी, महा-

भाष्यादि पढ़कर ही तो ऋषिवर दयानन्द ऋषि बने। श्री स्वा० विरजानन्दजी महाराज आजन्म ब्रह्मचारी रहे, और ऋषि दयानन्द को उन्होंने आजन्म ब्रह्मचर्य्य धारण करने की शिक्षा दी। "आचार्य्यो ब्रह्मचारी" इस वेद-वाक्य को चरितार्थ किया। ऋषि दयानन्द ने केवल दो बातों का प्रचार किया, एक ईश्वर और दूसरा ईश्वरीय ज्ञान, वेद। ईश्वर के स्थान में पाषाणादि की पूजा की जाने लगी थी, और वेद की जगह क़ुरान पुराण, बाइबिल, ग्रन्थ साहबादि को ही ईश्वरीय ज्ञान मान बैठे थे। वेद और ईश्वर को जानने के लिए ऋषि ने गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का उपदेश दिया क्योंकि इसके बिना मनुष्य मनुष्य नहीं बन सकता, और उसे वास्तविक शान्ति नहीं मिल सकती। 'सत्यार्थ प्रकाश' में वर्णित दयानन्द की शिक्षा-प्रणाली आर्य्यों ने आजकल अलमारी में बन्द कर रखी है। इस शिक्षा-प्रणाली को कोई छू भी नहीं रहा है, परन्तु निराशा की कोई बात नहीं। माता विदुषी आचार्या लक्ष्मीदेवी ने 'मातृमान्' इस शतपथ वाक्य को चरितार्थ करने के लिये अपने परम पुरुषार्थ से हाथरस में, कन्या-गुरुकुल स्थापित कर ऋषि-ऋण उतारने की पूर्ण प्रतिज्ञा की है। आशा है, वे 'सत्यार्थ प्रकाश' में प्रदर्शित पाठ-विधि को अपने कन्या-गुरुकुल में रखकर 'ऋषिकाएँ' बनाने का उद्योग करेंगी। ऋषिकाओं के पुत्र ही ऋषि होते हैं। गत पच्चीस वर्षों में अनेक विदुषी स्नातिकाएँ बनाने के निमित्त, माता लक्ष्मीदेवी को श्रद्धाञ्जलि भेंट कर मैं उनका अभिनन्दन करता हूँ। परमात्मा करे माताजी अपने पवित्र उद्देश्य में पूर्णतः सफल हों।

देवियों की दुर्दशा

[दर्शनकेसरी श्री पं० धर्मदेव शास्त्री, अशोक-आश्रम, कालसी, देहरादून]

रवांई टिहरी गढ़वाल के अन्तर्गत एक तहसील है, इस तहसील में तीन परगने हैं, रवांई, जौनपुर और उत्तरकाशी। गंगा का उद्गम स्थान गंगोत्री उत्तरकाशी परगने में और यमुना का उद्गम स्थान जमनोत्री रवांई परगने है। मैं भौगोलिक दृष्टि से यह प्रदेश महत्त्व-पूर्ण है। उत्तर-प्रदेश का सीमान्त होने के अलावा यह प्रदेश भारत का भी सीमान्त है। उत्तरकाशी के पास नेलंग दर्रे पर भारत और तिब्बत की वह सीमा मिलती है, जहाँ से तिब्बत और भारत का व्यापार होता है। तिब्बत से ऊन और नमक भेड़-बकरियों की पीठ पर लादकर भारत लाते हैं, और उन्हीं के द्वारा भारत से गुड़, अनाज और दूसरी वस्तुएँ जाती हैं।

पहाड़ी जीवन अपेक्षाकृत कठिन होने से यहाँ नीचे मैदानी स्त्रियों की अपेक्षा स्त्रियों को ही नहीं पुरुषों को भी अधिक परिश्रम करना पड़ता है। यदि पूरा परिश्रम न करें तो पूरा खाना नहीं मिल सकता। सारे काम यहाँ स्वयं करने पड़ते हैं। खेती ही मुख्य धन्धा है। फ़सल काटना, उसे गाहना और फिर घर तक पीठ पर ही सब

पहुँचाना होता है। कभी-कभी घर से खेत की दूरी दस मील से भी अधिक होती है। घर पर भी पानी लाना कम कठिन नहीं क्योंकि कभी-कभी दो-दो मील से सिर पर बंटा लाना होता है। यह दो मील की दूरी भी समतल नहीं होती। पहाड़ों में पानी प्रायः सोतों से लिया जाता है। स्रोत पहाड़ की जड़ में होते हैं। जबकि रहने के घर पहाड़ की चोटी पर होते हैं। चक्की से आटा पीसने की आवश्यकता कम होती है क्योंकि यहाँ पानी से चक्की चलाने का रिवाज है; परन्तु धान कूटकर चावल तैयार करना तो अपने हाथ से करना होता है।

रवांई में धान कूटने की ऊखल लकड़ी ही की होती है, जिसमें खड़े-खड़े धान कूटना पड़ता है। मैंने ५०, ६० औरतों को एक साथ धान कूटते हुए पुरौला में देखा था। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं कि पहाड़ का जीवन अपेक्षाकृत बहुत कठिन है। जीवन-संघर्ष में स्त्री और पुरुष का समान भाग है। यह स्वीकार करते हुए भी दुःख से कहना पड़ता है कि रवांई और टिहरी गढ़वाल में स्त्रियों पर बहुत बोझ है। उनकी दशा आजीवन दासों की-सी रहती है। हल चलाना, जंगल से लकड़ी लाना और बाहरी कामों के अलावा सारा काम स्त्री को ही करना पड़ता है। पशुओं का गोबर उठाना, खेती की निड़ाई-गुड़ाई, घास-पत्ती लाना और घर का सारा काम स्त्री के ही जिम्मे है। इसके अलावा अपने एक से अधिक पतियों को प्रसन्न रखना भी उसका कर्त्तव्य है। पुरुष यह समझते हैं कि स्त्री को उन्होंने पैसे देकर खरीदा है, इसलिये उस पर उनका पूरा अधिकार है। बैल की तरह उससे पूरा काम लिया जाय तो भी अनुचित नहीं। परन्तु उससे तो बैल से भी अधिक काम लिया जाता है।

रवांई में माता-पिता अपनी कन्या को पाँच-सौ रुपये से पन्द्रह-सौ रुपये तक में बेचते हैं। जो अधिक पैसा देता है, उससे लड़की के माता-पिता को पैसा अवश्य मिलता है, पर, लड़की की दशा सुसराल में बहुत बुरी रहती है। उसे सुसराल वाले काम के लिए कभी-कभी पीटते भी हैं। उसे यह कहा जाता है, कि तुम्हारे बाप ने मुफ्त में थोड़े ही तुम्हें दिया है, जो तुम्हें मुफ्त का खाना दिया जाय।

जौनसार बावर में कन्या-विक्रय नहीं होता। इतना वहाँ अवश्य है कि कन्या के घर वाले समीपवर्ती ग्रामों के लोग बारात की शक्ल में वर के घर जाते हैं। बारात लड़के की नहीं लड़की की जाती है, इस प्रकार लड़के वाले का खर्च होता है। परन्तु इसे बुरा नहीं कहा जा सकता। यह प्रथा बहुपति प्रथा के कारण भी सम्भवतः चलती है। एक से अधिक पतियों का विवाह के लिये जाना अच्छा नहीं इससे एक ही लड़की को ले जाना ठीक है। जो लड़की दे रहा है, वह खाने का भी खर्चा दे यह बात कुछ अच्छी प्रतीत नहीं होती, परन्तु रवांई और गढ़वाल में माता-पिता अपनी लड़कियों को पाल-पोस कर बेचते हैं, इसे भी उन्होंने कमाई का जरिया बना रखा है। यह बात नैतिकता और मानवता की दृष्टि से ही नहीं नवीन भारतीय विधान के मूल सिद्धान्तों से भी मेल नहीं खाती। कन्या-विक्रय का बाप को क्या अधिकार है? ऐसा करने से स्त्री की सामाजिक अवस्था बहुत शोचनीय है, और ऐसी ही रहेगी।

टिहरी के राजा ने कानून द्वारा बाल-विवाह को निषिद्ध कर दिया था। इसलिए रवांई में बाल-विवाह प्रचलित नहीं है। माता-पिता अपनी कन्या को पढ़ाना-लिखाना व्यर्थ समझते हैं। उनके विचार से लड़की दूसरे का माल है। तब वह पढ़ाई-लिखाई का खर्चा क्यों करें; परन्तु अब यह धारणा बदल रही है और स्कूलों में लड़कियाँ भी पढ़ने लगी हैं। कुछ समझदार लोग कन्या-विक्रय को भी बन्द कराने के लिए प्रयत्नशील हैं। इसको बुरा मानने लगे हैं।

प्रसव—प्रसूतिकाल स्त्री के लिए पुनर्जन्म का समय होता है। रवांई में इस दृष्टि से उनकी स्थिति दयनीय है। नीचे मैदानी शहरों में दाई का काम करने वाली कुछ स्त्रियाँ रहती हैं, परन्तु यहाँ ऐसा कार्य करने वाली एक भी स्त्री नहीं है। परिणामस्वरूप बच्चा होने के समय अनेक स्त्रियों की अकाल मृत्यु हो जाती है और प्रायः प्रसूति के समय उचित चिकित्सा न होने से सदा के लिए उन्हें रोग-ग्रस्त हो जाना पड़ता है। प्रसूति के समय स्त्री को जो आराम मिलना चाहिए वह भी उन्हें नहीं मिलता। बहुधा पाँच रोज़ के बाद जच्चा को खेत में काम पर जाना पड़ता है।

छूट अथवा तलाक—यहाँ का आम रिवाज है। मुझे पुरौला में कुछ व्यक्ति मिले जो राजगढ़ी मुकदमा करने जा रहे थे, क्योंकि उनके ग्राम से सात पतियों की एकमात्र पत्नी को बावर का आदमी भगा ले गया था। प्रायः छूट अथवा तलाक निम्न कारणों से होती है,

(१) काम की अधिकता से, अथवा तंगी के कारण।
(२) गहने कम मिलने के कारण।
(३) अनीति अथवा प्रेम के कारण।

छूट से पूर्व रवांई में अदालत से आज्ञा प्राप्त करनी होती है; परन्तु जौनसार बावर में पूर्व पति की अनुमति ही पर्याप्त है। पूर्व पति मुँह माँगे रुपये लेकर छूट देता है। इस प्रकार रवांई और जौनसार बावर दोनों स्थानों पर छूट में भी स्त्री की स्थिति स्वतंत्र नहीं है। तलाक की स्वतंत्रता होने पर भी स्त्री तब तक नहीं छूट सकती जब तक उसे कोई पैसा देकर खरीद नहीं लेता। छूट की रस्म प्रायः लड़की के माता-पिता के घर पर ही होती है।

बहुपति प्रथा—जौनपुर और उत्तरी रवांई में यह प्रथा जौनसार बावर के समान आमतौर पर प्रचलित है। दक्षिणी रवांई में यह प्रथा उन्हीं तक सीमित है जो निर्धन हैं। सब भाइयों की एक ही पत्नी होने के कारण इसको उचित समझा जाता है। जैसा कि ऊपर कहा गया कि पहाड़ का जीवन बहुत कठिन है, आर्थिक स्थिति पेचीदा है, सामूहिक और सम्मिलित पारिवारिक जीवन यहाँ का अनिवार्य है। इसलिए यहाँ बहुपति प्रथा का आर्थिक महत्त्व है। एक वृद्ध व्यक्ति ने हमें बताया कि यदि सब भाई पृथक्-पृथक् शादियाँ करें तो पृथक् घर बनवाने होंगे तब पृथक् बरतन चाहिये, पृथक खेत चाहिये, औरतों के कारण सब भाइयों का आपस का प्रेम मिट जायगा। अब एक

ही स्त्री के कारण सब भाई मिलकर रहते हैं, एक ही घर में काम चल रहा है और जो बरतन पीढ़ियों पहले खरीदे थे उन्हीं से उनका काम चल जाता है। पृथक् शादियाँ होने पर सबके लिए उतने ही घर चाहियें।

बहुपति प्रथा का आर्थिक महत्त्व चाहे जो हो, उसके परिणाम स्वरूप स्त्रियों की हालत बहुत खराब है। भाइयों का बटवारा न होने के लिए सब की एक स्त्री होने का यह अर्थ तो स्पष्ट है कि स्त्री का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं माना गया। स्त्री के स्वास्थ्य पर इसका बहुत बुरा परिणाम हुआ है, क्योंकि बहुपतित्व अस्वाभाविक है। संसर्ग-जन्य रोग भी यहाँ प्रचुर मात्रा में हैं। प्रेम अथवा दाम्पत्य जीवन का जो जीवन में स्वतन्त्र स्थान है, वह बहुपतित्व वाले प्रदेशों में नहीं दिखाई देता।

सम्पत्ति में स्त्री का कोई अधिकार नहीं माना जाता। मायत अथवा माता-पिता के घर से जो कुछ मिलता है उसी पर स्त्री का अधिकार माना जाता है। यहाँ तो माता-पिता कन्या को बेचकर धन कमाने का धन्धा करते हैं, सन्तान पर सब पिताओं का बराबर अधिकार होता है। बहुधा स्त्री अपने बच्चों को छोड़कर दूसरे घर चली जाती है। बहुपतित्व के रहते यहाँ स्त्री का स्वतन्त्र विकास असम्भव है।

[उपर्युक्त पंक्तियाँ इस बात की स्पष्ट द्योतक हैं कि हमारे देश या प्रदेश के एक कोने में स्त्रियों की कैसी दुर्दशा है। वे कैसी संकटापन्न अवस्था में हैं। नारी जाति की इससे अधिक गुलामी और क्या हो सकती है। विद्वद्वर पं० धर्मदेव शास्त्री ने पहाड़ी जातियों के सुधार-उद्धार के लिये बहुत बड़ा काम किया है। आशा है, वे तथा अन्य क्रियाशील सुधारक भाई रवांई के अंचल से इस कलंक-कालिमा को धोने का सफल प्रयत्न करेंगे। —सम्पादक]

जीवन-विधि

[प्रिंसिपल श्री दत्तात्रेय वाब्ले, एम. ए., डी. ए. वी. कालिज, अजमेर]

संसार के प्रायः सब धर्माचार्य, सुधारक तथा तत्त्ववेत्ता मनुष्य-जीवन के महत्त्व को अनुभव करते हैं। यही कारण है कि उन सब ने मनुष्य के दैनिक तथा आजीवन कार्य-क्रम के बारे में एक सुव्यवस्थित तथा निश्चित विधि अथवा जीवन-चर्या बनाने का प्रयत्न किया है।

वैदिक आचार्यों तथा तत्त्ववेत्ताओं ने इस प्रश्न पर सम्भवतः सबसे पहले विचार किया था और उन्होंने जिस जीवन-चर्या का प्रतिपादन किया है, वह सारे संसार के लिए मार्ग-दर्शन का कार्य करती रही है। दैनिक जीवन के लिए सन्ध्योपासना आदि पंच महायज्ञ तथा आजीवन के लिए वर्णाश्रम की व्यवस्था करके वैदिक दार्शनिकों ने संसार को एक बहुमूल्य भेंट दी है।

आज वर्णव्यवस्था विकृत होकर और अनेक जाति-पाँतियों में बदल कर हमारे लिए एक अभिशाप बन गई है। इसमें सन्देह नहीं; किन्तु यह वर्ण-व्यवस्था का दुरुपयोग है जिसके लिए उसको जन्म देने वाले दार्शनिक जिम्मेदार नहीं हैं। अस्तु, मैं यहाँ पंच यज्ञों अथवा वर्णाश्रम का विवेचन न करके केवल यह बतलाने का प्रयत्न करूँगा कि उनके आधारभूत सिद्धान्तों को हम अपनी वर्तमान बदली हुई स्थिति में किस प्रकार कार्यान्वित कर सकते हैं और उनका मानव-जीवन की दिनचर्या से क्या सम्बन्ध है।

हमारी जीवन-विधि क्या हो इसका उत्तर इस बात पर निर्भर है कि हमारे जीवन का लक्ष्य या उद्देश्य क्या है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर भारतवर्ष के प्राचीन तत्त्व-वेत्ताओं ने आजीवन खोज की है और इस बारे में उनके निष्कर्षों को वही महत्त्व और अधिकार प्राप्त है, जो पाश्चात्य देशों के विचारकों को भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में प्राप्त है। यदि हम एक वाक्य में जीवन-उद्देश्य के बारे में भारतीय विचारकों की खोज के परिणाम को व्यक्त करना चाहें तो यह कह सकते हैं कि इस लोक में 'अभ्युदय' और परलोक में 'निश्रेयस' प्राप्त करना मनुष्य जीवन का लक्ष्य है। ऋषि दयानन्द आधुनिक काल के सब से पहले महापुरुष थे, जिन्होंने हमारा ध्यान फिर इस विस्मृत आदर्श की ओर आकृष्ट करके हमें नव-जीवन तथा नव-निर्माण का सन्देश दिया था।

यदि हम जीवन के उद्देश्य के इस आदर्श को स्वीकार करते हैं तो यह स्पष्ट है कि हमारी जीवन-विधि भी उसी आदर्श की प्राप्ति का साधन होनी चाहिये। दूसरे शब्दों में हमें अपना जीवन-क्रम इस प्रकार से बनाना चाहिये कि उसके द्वारा हम इस संसार में सुख, वैभव, शान्ति, बल, यश, स्वतन्त्रता और स्वस्थ तथा वीर जीवन प्राप्त कर सकें और मृत्यु के पश्चात् मोक्ष-रूपी परम सुख और शान्ति का उपभोग कर सकें। हमारे पंच महायज्ञों को यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो उनके पीछे दैनिक जीवनचर्या का यही ध्येय है। इसी प्रकार सारे जीवन को चार भागों में विभाजित करके ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास के सुन्दर कार्य-विभाजन द्वारा यही दोहरा लक्ष्य प्राप्त करने की व्यवस्था की गई है।

जैसा ऊपर कहा गया है समयाभाव से मैं इस लेख में जीवन-विधि के इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर केवल कुछ सैद्धान्तिक संकेत कर सकता हूँ, इसलिये उन सब का विस्तृत विवेचन करने का प्रयत्न न करके मैं केवल एक मुख्य बात की ओर पाठक-पाठिकाओं का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करके अपना लेख समाप्त करूँगा।

ऊपर उल्लिखित चार आश्रमों में सम्भवतः ब्रह्मचर्याश्रम सब से अधिक महत्त्व का है, क्योंकि वह अन्य तीन आश्रमों का आधार है। मकान की नींव अथवा वृक्ष की जड़ के समान उसी पर हमारे जीवन का भविष्य निर्भर है। वर्तमान परिस्थिति में सम्भव है, हम प्राचीन आश्रमों तथा गुरुकुलों की जीवन-चर्या सम्पूर्ण रूप से पालन न कर सकें। किन्तु आज भी हम अपने स्कूल, कालेजों तथा बालक-बालिकाओं के अन्य विद्यालयों में ब्रह्मचर्य के प्राचीन तपस्वी तथा नियमित जीवन के आदर्श को सामने रख

कर यथाशक्ति अपने देश के बालक-बालिकाओं के भावी जीवन का निर्माण कर सकते हैं।

इस कार्य में कन्या-गुरुकुलों तथा बालिकाओं की अन्य शिक्षण-संस्थाओं का और भी अधिक उत्तरदायित्व है। देश की लगभग आधी जनसंख्या इन बालिकाओं द्वारा पूरी होगी। अतः उनका उचित निर्माण भी उतना ही आवश्यक है, जितना शेष आधी पुरुषों की संख्या के निर्माता बालकों का। किन्तु जननी और माता के रूप में। स्त्रियों पर इन पुरुषों के निर्माण का भी एक विशेष और अतिरिक्त उत्तरदायित्व है। इसलिए उनकी जीवन-चर्या तथा शिक्षा-दीक्षा अधिक महत्त्व की है। यदि ब्रह्मचर्य के इस प्राचीन आदर्श को सामने रख कर हमने उनकी शिक्षा-संस्थाओं का संचालन किया तो न हम केवल भावी सन्तान का ही निर्माण करेंगे अपितु भावी राष्ट्र के निर्माण में भी सक्रिय सहयोग दे सकेंगे। मैं आशा करता हूँ कि कन्या-गुरुकुल हाथरस तथा उसकी संचालिका माता लक्ष्मीदेवीजी इस ध्येय को सतत अपने सम्मुख रखेंगीं।

अधिकार और कर्त्तव्य

[श्री पूर्णचन्दजी एडवोकेट, प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश]

जिस घर में नारी का सम्मान नहीं होता वह नरक के समान है। गृहस्थ-जीवन एक गाड़ी है, जिसके दो पहिए हैं,—पुरुष और स्त्री। जिस प्रकार एक पहिए की गाड़ी नहीं चल सकती, उसी प्रकार एकाकी गृहस्थ-जीवन का भी चल सकना कठिन है। कोई भी धार्मिक कृत्य या यज्ञ विना सहधर्मिणी के सम्पन्न नहीं हो सकता। प्राचीन शास्त्रों में स्त्रियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने, यहाँ तक कि वेद पढ़ने तक का अधिकार है। कुछ दिनों से स्त्रियों में पुरुषों के-से काम करने की स्पर्धा चल पड़ी है, वह उचित है या अनुचित इस प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता है।

इस आवश्यक प्रश्न पर विचार करने से पूर्व हमें 'अधिकार' और 'कर्त्तव्य' की मीमांसा करनी होगी। हमारे समाज की अवस्था इस प्रकार की है, कि उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को जन्म से मरण-पर्यन्त कुछ नियमों के अधीन रहना पड़ता है। इन नियमों या व्यवस्थाओं के आधार पर ही व्यक्तियों के कर्त्तव्य निश्चित किए गए हैं। इन कर्त्तव्यों का पालन करना स्त्री-पुरुष दोनों के लिए अनिवार्य है। पर, मनुष्य जन्म या स्वभाव से इन कर्त्तव्यों के पालन करने योग्य नहीं होता, अतः उसको इस योग्य बनाना पड़ता है। योग्य बनाने की विधि का नाम ही शिक्षा है। इस शिक्षा के प्राप्त करने का सब को समान अधिकार है, और होना चाहिए। कर्त्तव्य-पालन की शिक्षा के अतिरिक्त और भी जो सुविधायें हैं, वे भी मनुष्य को विना किसी भेद-भाव के समान रूप से मिलनी चाहिएँ। जाति, लिंग, रूप, धर्म, भाषा या वेश के आधार पर भेदक भित्ति खड़ी करना

अत्यन्त अनुचित है। स्त्री और पुरुष दोनों को शिक्षा-दीक्षा का समान अधिकार प्राप्त है। परन्तु शिक्षा-विधि ऐसी होनी चाहिए, जो दोनों की कार्य-क्षमता और परिस्थिति के अनुसार कर्त्तव्य-पालन करने में सहायक हो सके। जो कार्य लक्ष्य और परिस्थिति की उपेक्षा पूर्वक किए जाते हैं, वे सफल तो होते ही नहीं, उल्टे हानिकारक बन जाते हैं।

अब प्रश्न यह है कि स्त्री और पुरुषों के कर्त्तव्य-क्षेत्र क्या हैं? समाज-निर्माण, चरित्र-निर्माण और मनुष्य-निर्माण ही इन क्षेत्रों की आधार शिलाएं हैं। महर्षि दयानन्द ने इस बात पर बहुत बल दिया है, कि बालक की शिक्षा माता के गर्भ से ही प्रारम्भ हो जानी चाहिये। माता ही सबसे बड़ी और पहली आचार्या है। यदि बालक-बालिकाओं की निर्माण-व्यवस्था प्रारम्भ से ही उचित और उपयुक्त वातावरण में हो, तो निश्चय ही उनका भावी जीवन सफल बन सकेगा। स्त्रियों का क्षेत्र प्रारम्भ से ही मनुष्य-निर्माण करना और पारिवारिक-व्यवस्था ठीक रखना है। यदि स्त्री और पुरुष के क्षेत्र पृथक् हैं, तो उनकी शिक्षा भी पृथक् पद्धति के अनुसार होनी चाहिए। ऐसी दशा में स्त्री और पुरुषों का पाठ-क्रम पृथक्-पृथक् होगा। सह-शिक्षा की प्रचलित रीति कदापि उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती, इससे तो हानि की ही अधिक संभावना है। महर्षि दयानन्द ने बालक-बालिकाओं के विद्यालय पृथक्-पृथक् रखने पर बल दिया है। उनकी चेतावनी पर ध्यान न दिया जाने के कारण ही आज चरित्र और स्वास्थ्य की दृष्टि से समाज की दशा दिनों-दिन शोचनीय होती जा रही है।

सम्प्रति समाज की अवस्था अर्थ पर आधारित है, और इस अर्थ के कारण ही अनेक अनर्थ हो रहे हैं। कर्त्तव्य-पालन करने के उपलक्ष्य में, भिन्न-भिन्न प्रकार के पुरस्कार प्राप्त होते हैं। सम्मान के रूप में, भेंट के रूप में, वेतन के रूप में, मजदूरी के रूप में, मुनाफा या सूद के रूप में इत्यादि। इस प्रकार जो पुरस्कार मिलते हैं, उन्हीं की मात्रा या परिणाम को लक्ष्य में रखकर सफलता या असफलता का निर्णय किया जाता है। दूसरे शब्दों में अर्थ-लाभ और प्रतिष्ठा-प्राप्ति ये दो ही पुरस्कार के रूप हैं। प्राचीन पद्धति के अनुसार प्रतिष्ठा-प्राप्ति को मुख्य और अर्थ-लाभ को गौण माना गया है। ब्राह्मण के लिए प्रतिष्ठा का ही अधिक महत्त्व है, परन्तु यदि जीवन का सारा लक्ष्य अर्थ-प्राप्ति पर ही केन्द्रित कर दिया जाय और प्रतिष्ठा भी अर्थ-लाभ पर ही निर्धारित हो तो दशा चिन्तनीय हो जायेगी। विदेशों की भाँति इस देश में भी स्त्रियाँ अर्थ-प्राप्ति सम्बन्धी संघर्ष में ही विशेष भाग ले रही हैं। पुरुषों के समान ही स्त्रियों की भी शिक्षा होनी चाहिए, नौकरियाँ और व्यवसाय भी दोनों के लिए समान हों, यह एक वह प्रवृत्ति है जो सर्वत्र दिखाई देती है। गम्भीरता पूर्वक देखा जाये तो इस प्रकार का संघर्ष अर्थ-लाभ या प्रतिष्ठा-प्राप्ति दोनों दृष्टियों से हितकर नहीं है। यदि स्त्रियाँ पुरुषों के समान धनलिप्सा-वश व्यवसाय और नौकरियों की ओर दौड़ेंगी, तो सन्तान-पालन और पशु-पालन की चिन्ता कौन करेगा। निस्सन्देह नौकरियों से स्त्रियों को आर्थिक लाभ होगा, और परिवार की कुछ आय भी बढ़ेगी, परन्तु बच्चों का पालन-पोषण अशिक्षित नौकर-नौकरानियाँ करेंगी और

उनके (बच्चों के) बीमार होने पर शुश्रूषा अस्पताल में की जायगी अर्थात् 'आय बढ़ेगी और घर बिगड़ेगा', आय-वृद्धि का विचार कोरी कल्पना है। देश में व्यवसाय और नौकरियों का क्षेत्र सीमित-सा है, अतः इनके लिए जितना संघर्ष बढ़ेगा, उतनी ही आय की मात्रा भी न्यून होती जायगी।

चरित्र-निर्माण और समाज-निर्माण सम्बन्धी व्यवस्था के शिथिल होने से देश की भयंकर हित-हानि हो रही है। जो उत्थान गृहस्थ-धर्म पालन के उच्च आधार पर हो सकता है, स्त्रियों के दूसरे क्षेत्र में चले जाने से रुक जायगा। अर्थ और काम की व्यवस्था तो राज्य और लोक की ओर से होती है, परन्तु अर्थ और काम की वास्तविक व्यवस्था धर्म के आधार पर ही हो सकती है। अतः स्त्रियों के लिए प्राचीन पद्धति के अनुसार जो कर्त्तव्य-क्षेत्र निश्चित है उसी के अन्तर्गत रहकर योग्य बनना उनका अधिकार है। यदि पुरुष अपने उद्यम द्वारा परिवार को आर्थिक संकट से मुक्त रखता है, तो स्त्री पारिवारिक दशा ठीक रखने में सहायक होती है। अर्थात् गृहिणी बालक-बालिकाओं का चरित्र-निर्माण, पशु-पालन, गृह-व्यवस्था, आदि में पूरी तरह से भाग ले। पश्चिमीय देशों का अन्धानुकरण कभी श्रेयस्कर नहीं हो सकता, समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए हमें अपनी प्रणाली का ही अनुसरण करना होगा। स्त्री और पुरुषों में छोटे-बड़े का भेद नहीं है। दोनों ही समान और सम्मान योग्य हैं। दोनों ही समाज के प्रति आवश्यक अंग हैं। दोनों की ही समाज-निर्माण के लिए आवश्यकता है, परन्तु दोनों का कार्य-क्षेत्र देश, काल और परिस्थिति के अनुसार पृथक्-पृथक् होना चाहिए।

स्त्री और पुरुषों के अधिकार और कर्त्तव्य का प्रश्न बड़ा गम्भीर एवम् महत्त्वपूर्ण है, इस पर एक वृहद् ग्रन्थ लिखा जा सकता है, यहाँ तो कुछ पंक्तियों में संकेतमात्र ही किया गया है। आवश्यकता यह है कि स्त्रियों द्वारा मनुष्य मनुष्य बने, परिवार आदर्श हो, समाज में चरित्र-बल बढ़े, ऋषि दयानन्द के शब्दों में 'संसार का उपकार हो।' शारीरिक, मानसिक, आत्मिक तथा सामाजिक उन्नतियाँ ही सब उन्नतियों का मूल हैं। इन उन्नतियों का सम्पादन ही मौलिक कर्त्तव्य है, और इसे ही मौलिक अधिकार समझना चाहिये।

नारी-जागरण

[कर्मवीर श्री पं० जीयालालजी, अजमेर]

जिस घर में, जिस जाति में, अथवा जिस राष्ट्र में नारी-जाति का आदर होता है, उसमें देवता निवास करते हैं। जहाँ ऐसा नहीं होता, वहाँ अभ्युदय की सब क्रियायें निष्फल हो जाती हैं। प्राचीन काल में नारियों का पूर्ण आदर-सम्मान होता था। इसी कारण उनकी गोदें ऋषि-मुनियों तथा महान् आत्माओं से भरी रहती थीं। राम, कृष्ण, हरिश्चन्द्र, व्यास, वशिष्ठ, भीष्म आदि महापुरुषों के पाद-पद्मों से यह पुण्य-भूमि सदैव पवित्र होती रही है। जब यहाँ सत्ययुग था तब चोरी-जारी, भ्रष्टाचार आदि का कहीं नामोनिशान भी न था। पुरुष ही नहीं; इस देश में देवियाँ भी ऐसी होती आई हैं जो अबतक हमारे लिए प्रातः स्मरणीया बनी हुई हैं। ज्ञात नहीं, महान् पंडित जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य और कवि-कुल-गुरु गोस्वामी तुलसीदास ने नारी को 'नरक का मूल' व 'ताड़न का अधिकारी' किस भ्रमवश कह डाला। जो मातृशक्ति सदैव पूजा की वस्तु रही, उसके सम्बन्ध में ऐसी अनुचित और अनर्गल उक्तियाँ कभी उचित नहीं कही जा सकतीं।

परमपिता परमात्मा के अपार अनुग्रह से हमारे देश में सबसे प्रथम महर्षि दयानन्द और उनके पश्चात् महात्मा गाँधी का प्रादुर्भाव हुआ। ये दोनों महापुरुष भारतीय आदर्श के जीवित जाग्रत् प्रतीक थे। इन्होंने अपने महान् चरित्र-बल से भारत-भूमि को देव-भूमि बनाने का भरसक प्रयत्न किया। नारियों के विरुद्ध दैवदुर्विपाक से देश में जो दुर्भावना फैल रही थी, उसे इन दोनों महानुभावों ने दूर करने की सतत् चेष्टा की। हमारी अधोगति के लिए हम स्वयं ही उत्तरदायी नहीं थे, वरन् विदेशी आक्रमणकारियों ने भी यहाँ आकर हमारा भयंकर अनिष्ट किया, और यह देश पराधीनता-पाश में आबद्ध होकर अपनी सभ्यता-संस्कृति को भूलने लगा। स्वामीजी और महात्माजी दोनों देश की इस अधमावस्था को न देख सके, और उन्होंने भ्रष्टाचार एवं विदेशी दासता के विरुद्ध युद्ध ठान दिया। जो 'स्वातन्त्र्य-भावना' ऋषि दयानन्द के विशाल मस्तिष्क से उद्बुद्ध हुई, उसी की पूर्त्ति महात्मा गाँधी द्वारा होकर देश में 'स्वराज्य-सूर्य' की ज्योति जगमगा रही है।

देश के स्वतन्त्र हो जाने पर भी हमारी शिक्षा-व्यवस्था ज्यों की त्यों बनी हुई है। अँग्रेजी शासन में जो बेढंगी बातें नवयुवक छात्रों के मस्तिष्क में कूट-कूट कर भरी जाती थीं, वे ही आज भी भरी जा रही हैं। जब तक शिक्षा में धर्म के मौलिक सिद्धान्तों का समावेश न होगा, चरित्र-निर्माण पर ध्यान नहीं दिया जायेगा, तब तक राष्ट्र का कल्याण नहीं हो सकता। ज्यों-त्यों रट-रटाकार परीक्षोत्तीर्ण हो जाने का नाम शिक्षित होना नहीं है। शिक्षा वह है, जो व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बल का विकास करती है। महर्षि दयानन्द ने ऐसी ही परम प्राचीन शिक्षा-प्रणाली का समर्थन किया है। छात्रों की तरह छात्राओं के जीवन में भी प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव

होना चाहिए, उनके आगे सीता, अनुसुइया, गार्गी, मैत्रेयी आदि ब्रह्मवादिनी देवियों का आदर्श हो, वे वीर और विदुषी बनें। कन्याओं पर देश का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। वे मातृत्व की महिमा और महापुरुषों की जननी हैं। अतएव उनकी शिक्षा-दीक्षा के लिए समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। कॉलिज-स्कूलों की वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली इस दिशा में कभी सफल नहीं हो सकती। हर्ष की बात है, कि सासनी कन्या-गुरुकुल इस क्षेत्र में बहुत उपयोगी और आवश्यक कार्य कर रहा है। अन्त में मैं गुरुकुल-सञ्चालिका आचार्या माता लक्ष्मीदेवीजी का अभिनन्दन करता हूँ। वे वैदिक आधार पर कन्याओं को सुशिक्षित और सुसंस्कृत बनाने की पूरी चेष्टा कर रही हैं। अब से पच्चीस वर्ष पूर्व, परमात्मा का आश्रय और स्वावलम्बन का सहारा लेकर वे अकेली ही एक बीहड़ में बैठ गयीं, अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना किया अन्त में उन्हें सफलता देवी के दिव्य-दर्शन हुए। इस अवधि में कुल से कितनी ही स्नातिकाएँ निकलीं जो सफलता पूर्वक गृहस्थ-धर्म-पालन करती हुई आर्य आदर्शों और वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार में सहायक हो रही हैं। परमात्मा करे मातृत्व-शक्ति में प्राण-संचार करने वाली यह शिक्षण-संस्था उत्तरोत्तर सफल और समुन्नत बनती हुई, राष्ट्र-सेवा और धर्म-प्रचार में अग्रसर हो।

साधन ही साध्य क्यों ?

[श्री पं० आनन्दप्रिय बी. ए., एल-एल. बी, मन्त्री, आर्यकन्या महाविद्यालय (बड़ौदा)]

स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् कितनी ही प्रमुख आर्य संस्थाओं का विचार सरकार की मान्यता प्राप्त करने का हो गया है। इसका हेतु स्पष्ट है। आज जगत् को ऐसा शिक्षण अभीष्ट है जिसका परिवर्त्तन आर्थिक जगत् में सुलभता से हो सके।

प्राचीन आचार्य अपनी शिष्याओं को ब्रह्मनन्दिनी कहकर सम्बोधित करते थे, परन्तु वर्त्तमान शिष्या-मण्डल को अर्थनन्दिनी बनना है। इस मनोवृत्ति में उनका दोष नहीं। स्नातक या स्नातिका होने के बाद जो प्रथम प्रश्न पूछा जाता है, वह यह है—क्या आपकी उपाधि सरकार-मान्य है ? क्या आपको नौकरी मिल सकती है ?

सरकारी तन्त्र में उन्हीं को नौकरी मिलेगी जो सरकार की शिक्षण-व्यवस्था में दीक्षित होकर निकलेंगे। किसी भी गुरुकुल में अपनी कन्या को प्रविष्ट कराने से पूर्व एक अभिभावक को यह विचार कर लेना चाहिये कि वह अपनी सन्तान को किस उद्देश्य से शिक्षण देना चाहता है।

यदि अभिभावक महाशय कन्या को नौकरी कराने योग्य बनाना चाहते हैं तो उनका कर्त्तव्य है कि वे गुरुकुल का मार्ग छोड़कर सरकार-मान्य स्कूल का पथ ग्रहण करें। प्रायः कहा जाता है कि कन्याओं से नौकरी नहीं कराना; परन्तु यदि किसी संकटापन्न अवस्था में उसे नौकरी करनी पड़े तो वह उससे अपना जीवन-निर्वाह कर सके। इसका

ध्यान भी अभिभावक को रखना पड़ता है। अतः इस तर्क को अवलम्ब बना सबकी रुचि उसी शिक्षण की ओर है जो सरकार-मान्य है। गुरुकुलीय शिक्षण का आदर्श अर्थ की प्राप्ति नहीं किन्तु मानव को सच्चा मानव बनाना है। आज हमारा दुर्दैव है कि जो-जो वस्तु साधन थीं वे साध्य बन गयी हैं। जीवन के लिए रोटी आवश्यक है, पर, हमारे जीवन का साध्य रोटी नहीं हो सकती। वह केवल साधन के रूप में ही रहेगी।

हमें अर्थ की आवश्यकता है। मोक्ष की प्राप्ति में धर्म, अर्थ, काम तीनों का महत्त्व स्वीकार किया गया है। परन्तु इस समय जगत् का ध्येय अर्थ हो गया है। जिस शिक्षण का निर्माण अर्थ की नींव पर होगा वह कदापि जीव को शान्ति प्रदान नहीं कर सकेगा। इसलिये शिक्षण का भारतीय दृष्टिकोण संसार के सम्मुख प्रस्तुत कर हमें प्राचीन शिक्षण-क्रम के महत्त्व को पुनः स्थापित करना चाहिये।

गुरुकुलों के शिक्षण-क्रम का वर्त्तमान परिवर्तन उस पद्धति का अनुकरण करता है जिसका ध्येय केवल भौतिक एकीकरण है। हमारी विशिष्टता और सभ्यता ऋषि-आश्रमों की झोंपड़ियों में उत्पन्न हुई और पनपी। उस समय के गुरुकुल वास्तव में मानव को महा-मानव बनाने का कार्य करते थे।

आज आर्यसमाज को यह गौरव प्राप्त है कि उसके पास कुछ ऐसी शिक्षण-संस्थायें हैं जो इस महत्त्वपूर्ण बात को समझती हैं। आज हमारे गुरुकुल क्यों न अरविन्द-आश्रम और रमण महर्षि के आश्रम के समान आत्मिक शान्ति के धाम बनें। वास्तव में आज कुरुकुलों में भी प्राचीन आचार्यों का स्थान नहीं रहा। प्राचीन आचार्यों के समान आचार्य नहीं रहे। गुरुकुलों के आचार्यों का स्थान भी वर्तमान युग के प्रिंसीपलों की भाँति ही हो रहा है, जिनका ध्येय बालकों का उद्धार करने की अपेक्षा अपना आराम और ग्रेड है।

प्राचीन पद्धति पर चलने वाले हमारे गुरुकुलों के स्नातक और स्नातिकायें कभी भूखी नहीं रह सकेंगी। क्योंकि बुद्धिमान व्यक्ति कभी भूखा नहीं मरता। जिस समय शिक्षण सर्व-व्यापक हो जावेगा हमारी सरकार कितने ग्रेजुएटों को नौकरी दे सकेगी ? जब नौकरी की अभिलाषा युवक और युवतियों में समान भाव से हो।

प्रत्येक को अपने जीने का मार्ग स्वयं अपनी बुद्धि से निश्चित करना होगा। देश-काल की परिस्थिति के अनुसार हम अपने शिक्षण-क्रम में अवश्य आवश्यक परिवर्त्तन करें, परन्तु हमारे गुरुकुलों का ध्येय वही प्राचीन ऋषि-आश्रमों का रहना चाहिये। जहाँ सत्य और शिव के द्वारा मनुष्य सुन्दर को प्राप्त करता था, सरकार की मान्यता और उसके शिकंजे में जकड़ जाने से हमारे शिक्षण की विशेषता और सुन्दरता का ह्रास हो रहा है। एक प्रकार से हम अपने हाथों ही अपना घात कर रहे हैं। इस संक्रांति युग में यह आवश्यक है कि गुरुकुल-शिक्षण-प्रेमी सजग हों और भारतीय शिक्षण का आदेश संसार के सम्मुख प्रस्तुत करें।

उपनिषद् का दार्शनिक स्वरूप

[आचार्य श्री वैद्यनाथजी शास्त्री, पोरबन्दर]

दार्शनिक धारणा का समुन्नत स्तर हमें उपनिषद्-साहित्य देखने पर पदे-पदे मिलता है। वस्तुत: यह वह साहित्य है, जिस पर समस्त विश्व के विचारक मुग्ध हैं। उपनिषद् शब्द ही एक महान् गूढ़ रहस्य को लिए हुए है। यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से इसके अनेकार्थ हैं, परन्तु दो अर्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उप+निषद् अर्थात् वह विद्या जो गुरु के समीप बैठ कर सीखी जावे। ब्रह्म-ज्ञानी गुरु की सेवा में बैठे बिना इस विद्या का बोध नहीं होता। उपनिषदें भी इस बात की साक्षी हैं, कि इस विद्या को सीखने के लिये जिज्ञासु श्रोत्रिय गुरु के पास जावे। मुण्डकोपनिषद् का यह वचन यहाँ सार्थक है—'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'

दूसरा अर्थ यह है कि उप+निषद् = वह विद्या है जो जानने वाले को ब्रह्म के सान्निध्य में पहुँचा देती है। वस्तुत: अध्यात्मविद्या का उद्देश्य है भी यही कि मानव अपने को सम्यक् जानता हुआ उस परम शान्ति-धाम प्रभु को प्राप्त करे। उपनिषद् इस दृष्टि से धनुष है, उस पर उपासना रूपी शर चढ़ा कर ब्रह्मरूपी लक्ष्य को भेदन करना चाहिए। मुण्डकोपनिषद् २-२-३, में यह मंत्र इसी भाव की प्रेरणा देता है।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरंह्युपासानिशितं सन्धयीत,
आगम्य तद्भाव गतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि।

कई लोग उप+निषद् का अर्थ वेदान्त-सम्बन्ध जोड़कर लगाते हैं। उनका विचार है, कि उपनिषद्-विद्या—वेदान्त है। वेदान्त का अर्थ उनकी दृष्टि में वेद का अन्त है, अर्थात् वेद का सार। इस दृष्टि से वेद का निचोड़ या सार एवं मक्खन उपनिषदें हैं। ऐसा मानने पर वेद में भी कुछ नहीं, उसमें भी अनावश्यक बातें भरी हुई हैं, यह मानना पड़ेगा, परन्तु यह वे ही कह सकते हैं, जो वेद की प्रक्रिया से अनभिज्ञ हैं। वेद तो है ही सारतत्त्वों का भण्डार तथा वह मूल जिसमें सभी विज्ञानों के वृक्ष एवं शाखायें पल्लवित होती हैं। सार का सार और मूल का मूल तो होता नहीं। वेदों के मंत्रों के अर्थ आध्यात्मिक, आधियाज्ञिक और आधिभौतिक तीनों ही प्रक्रियाओं में होते हैं। अतः अध्यात्म का सारा ज्ञान वेद से ही प्रकट होता है। उपनिषदें उसी में से ज्ञान को लेकर रची गयीं हैं। ये वेद की अध्यात्मविद्या के संग्रह हैं, न सार हैं और न वेद के पूर्ण अध्यात्म-ज्ञान के आगार हैं।

वेदों में अनन्त विज्ञान है, उसका वर्णन विस्तृत रूप से नहीं हो सकता, निर्देशमात्र ही किया जा सकता है। यही कारण है कि उपनिषदें वेद की प्रशंसा करती हैं।

"नावेदविद् मनुते तं बृहन्तम्" "सर्वे वेदाः यत्पदमाम्नन्ति"

इत्यादि वाक्य इसी धारणा की ओर संकेत करते हैं। हाँ, यह अवश्य है, कि

वेद में केवल अध्यात्म विषय या पराविद्या मात्र का वर्णन नहीं, उसमें परा और अपरा दोनों का वर्णन है। अध्यात्मविद् ऋषियों ने वेदों से अध्यात्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर उन्हें उपनिषदों के रूप में जन-लाभार्थ रखा। अन्त अन्त का अर्थ कुछ लोग अन्त अन्त अर्थात् अन्तिम करते हैं। इसके अनुसार वे यह विचार प्रकट करते हैं कि वेद का अन्तिम भाग या अन्त होने से यह वेदान्त कहा जाता है। यहाँ पर तीसरा भाव लगाते हैं, कि वेद के ब्राह्मण और मंत्र दो भाग हैं, इन दोनों में यज्ञ का ही प्रतिपादन है, अतः उनके अन्तिम भाग के रूप में ये वेदान्त-ग्रन्थ उपनिषदें हैं। वैदिक कर्मकाण्डों से आगे बढ़कर इनकी रचना हुई। परन्तु यह धारणा ठीक नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के व्याख्यान हैं, स्वयं वेद नहीं। उनमें मन्त्रों की प्रतीकें देकर व्याख्यायें की गई हैं। यह ब्राह्मण ग्रन्थों के देखने वाले भले प्रकार जानते हैं। वेदों के सार वागनुपूर्वी को व्याकरण, महाभाष्यकार तक ने नित्य माना है; परन्तु शाखाओं और ब्राह्मणों की वर्णानुपूर्वी एवं स्वरों को वह अनित्य ही मानते हैं। ब्राह्मणों का स्वर भी भाषा का माना जाता है। अतः इस दृष्टि से भी वे वेद नहीं। मीमांसा दर्शन में भासिक स्वर का प्रकरण देखा जा सकता है। यहाँ भाष्यकार के ये शब्दः—

"स्वरो नियत आम्नाये तथा यात्वसौ वर्णानुपूर्वी (अस्यवामीयस्य) सा तु नित्या।

बड़े ही महत्त्व के हैं। वेद केवल संहिता मात्र का नाम है और वे मंत्रात्मक हैं, न ब्राह्मण वेद हैं, और न उपनिषदें ही वेद के अन्तिम भाग हैं। उपनिषदों में भी तो वेदों का वर्णन मिलता है, कहीं भी उपनिषदें ऐसा नहीं कहतीं, तथा न कोई ऐसा प्रमाण ही मिलता है, कि उन्हें उसके आधार पर वेद या वेद का अन्तिम भाग कहा जावे। ईशोपनिषद् यजुर्वेद का ४० वाँ अध्याय है और बृहदारण्यक शतपथ ब्राह्मण का भाग है। इसी आधार पर इतना बड़ा भव्य भवन नहीं खड़ा किया जा सकता, कि सारे उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग हैं। विचार करने पर उपनिषदों का सम्बन्ध शाखाओं से मिलता है। शाखायें स्वयं वेदों के व्याख्यान हैं, वेद नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थ भी शाखाओं का आधार लेते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में केवल कर्मकाण्ड का वर्णन है, ऐसा भी नहीं, वहाँ अध्यात्म भी वर्णित मिलता है। गम्भीर दृष्टि से देखने की आवश्यकता है।

वस्तुतः वेदान्त का अर्थ है वेद का सिद्धान्त। वेदान्त-दर्शन का आधार भी उपनिषदें नहीं अपितु वेद हैं। दर्शन का अध्ययन करने वाले जानते हैं, "अन्त" का अर्थ सिद्धान्त (Doctrine) है।

"सोऽयमे कोऽन्तः सोयं द्वितीयोऽन्तः।"

इन वाक्यों में अन्त का अर्थ सिद्धान्त ही है। अतः वेदान्त का अर्थ वेद का सिद्धान्त है। वेद का सिद्धान्त है—"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" और इसी के आधार पर निरुक्तकार यास्क कहता है, "एकस्यैवात्मनः सर्वे देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।" इन रहस्यों का वर्णन ही वेद का सिद्धान्त है।

उपनिषदों एवं वेदान्त अर्थात् एकमात्र ब्रह्मतत्त्व को ही जगत् का निमित्त, उपादान

आदि मानने वाला कहना ठीक नहीं है। उपनिषदों में और वेदान्त-दर्शन में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों मूलतत्त्वों का प्रतिपादन मिलता है। उपनिषदों के अनुसार माया, अजा, प्रकृति आदि प्रधान नाम प्रकृति के हैं। अज से आत्मा और परमात्मा दोनों का ग्रहण है। अक्षर पद भी बहुधा आत्मा और परमात्मा दोनों के लिए है। "एकमेवाद्वितीयम्" का यह अर्थ नहीं, कि जगत् के मूल में ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई नित्य पदार्थ नहीं है। इसका इतना ही भाव है कि ब्रह्म के समान कोई नहीं है। ब्रह्म को ही जगत् का एकमात्र मूल कारण मानकर जगत् की समस्या को सुलझाने में बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं। प्रथम तो जड़ से चेतन और चेतन से जड़ उत्पन्न नहीं होता,—यह समस्या खड़ी होगी। चेतन ब्रह्म से जड़ जगत् कैसे उत्पन्न हुआ, यह प्रश्न समाधेय नहीं हो सकेगा। साथ ही जगत् मिथ्या है और ब्रह्म का विवर्त है यह समस्या और भी भयङ्कर है। क्योंकि कार्य पदार्थों में तब तक सत्ता आती है, जब कि वे सत्कार्यवाद के अथवा आरम्भ के नियमानुसार सत्पदार्थ से पैदा हों। विवर्त्त कारण में यह हो नहीं सकता। घड़े में सत्ता इसलिये आती है, कि वह मिट्टी रूपी सत् पदार्थ से उत्पन्न होता है। यदि ब्रह्म से जगत् के पदार्थों में सत्ता का होना माना जावे तो वह विवर्त्तवाद का प्रतिष्ठापक नहीं होगा। जगत् का उपादान ठहरेगा। उपादान होने पर जगत् में ब्रह्म के गुण आने चाहिऐं, क्योंकि नियम यह है कि उपादान के गुण अपने कार्य में अवश्य आते हैं, परन्तु जगत् में चेतनता सर्वज्ञता आदि का अभाव पाया जाता है।

यह दृश्यमान जगत् भ्रम एवं मिथ्या है—ऐसा भी वर्णन कहीं पर उपनिषदों में नहीं मिलता। हाँ, सत् जगत् सत् परिणामी नित्य प्रकृति से उत्पन्न होता है। इस बात का प्रतिपादन स्पष्ट मिलता है। उपनिषदों में तीन मूल पदार्थों—अर्थात् ईश्वर, जीव और प्रकृति का स्पष्ट वर्णन है। मुण्डकोपनिषद् में १। ३। १ पर यह वर्णन तीनों तत्त्वों के सम्बन्ध में मिलता है।

> समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः,
> जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।

इसी प्रकार श्वेताश्वतर १।४।५ में भी—

> अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृमानां सरुपाः,
> अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्त भोगामजोऽन्यः।

पुनश्च—

> स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञ काल कालो गुणी सर्व विद्यः,
> प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः स सारमोक्षस्थिति बन्ध हेतुः।

जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन कठोपनिषद् में कितना मनोज्ञ मिलता है। वहाँ पर आत्मा को अधिष्ठाता, इन्द्रियों को अश्व और विषयों को मार्ग तथा इनका अधिष्ठानभूत शरीर को रथ कहा गया है। मन लगाम है और बुद्धि सारथी है। आत्मा की नित्यता का बहुत ही स्पष्ट वर्णन मिलता है। वह भी इतना सुन्दर कि अन्यत्र कहीं देखने को न

मिलेगा। कठोपनिषद् बतलाती है "न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

माण्डूक्योपनिषद् में 'ओम्' को एकाक्षर ब्रह्म कहा गया है, और इस जगत् को उस अक्षर का व्याख्यान कहा गया है। वस्तुतः ब्रह्म की व्याख्या जगत् ही करता है। कर्ता की व्याख्या सच्चे रूप में हो ही उसके कार्य से सकती है। दार्शनिक विचार-धारा के केन्द्रभूत तत्त्व ईश्वर, जीव और प्रकृति हैं। इन्हीं का वर्णन वेद में है, और इन्हीं का प्रतिपादन उपनिषदें करती हैं।

नारी—घर और बाहर

[श्रीमती सुशीलादेवी, विद्यालंकृता, साहित्यरत्न, मेम्बर एड्वायज़री बोर्ड ऑफ हैदराबाद,

मेम्बर म्यूनिसिपल कॉरपोरेशन, सिकन्द्राबाद]

सभा लगी थी। बहस का विषय था "स्त्री का कार्य-क्षेत्र घर या बाहर?" स्त्री-पुरुष दोनों सम्मिलित रूप से बहस में हिस्सा ले रहे थे। स्त्रियाँ कह रही थीं बहुत हो चुका। अब हमसे बर्दाश्त न होगा। हमें घर की देवी कह-कह कर खूब दबाया। पूजा कर-कर के प्रस्तर-प्रतिमा की तरह पत्थर ही बना डाला।

पुरुषों की ओर से आवाज़ आ रही थी कि स्त्री का कार्य-क्षेत्र घर है। वह बाहर आई तो घर बर्बाद हो जायेंगे। बच्चों को कौन पालेगा? रोटी का प्रबन्ध कौन करेगा? कुल की मर्यादायें नष्ट होंगी। आचार सम्बन्धी सीमायें भंग होंगी।

दोनों ओर की युक्तियाँ काफ़ी वज़नदार थीं। बहस के समय किसी भी विषय में बाल की खाल उतारी जा सकती है, पर, वाद-विवाद के प्लैटफ़ार्म से उतर कर व्यवहार-जगत् में पग रखने पर ही उसके सत्यासत्य का निर्णय हो सकता है।

सच है, प्राचीन काल में नारी का महत्त्व, पूर्ण रूप में स्वीकार किया गया था। पर, मध्ययुग में कौन नहीं जानता कि समाज ने नारी पर कितने अत्याचार किये। उसकी चरित्र-रक्षा के नाम पर पर्दा-प्रथा प्रचलित हुई जिसने उसे 'असूर्यपश्या' बना कर घर की चहारदीवारी में ही बन्द कर दिया। 'स्त्री शूद्रौनाधीयताम्' के नाम पर पढ़ने का अधिकार छीना। 'अष्ट वर्षा भवेत् गौरी' के नाम पर बाल-विवाह मढ़ा। विधवा होने पर कहीं-कहीं बलात् पति के साथ ज़िन्दा जल जाने पर विवश किया गया? जहाँ सती प्रथा न थी वहाँ भी जीवित विधवा को पशुओं की-सी अपमान पूर्ण ज़िन्दगी व्यतीत करने पर बाध्य किया गया।

मानो नारी के मुख की तो ज़ुबान ही छीन ली गई। विवाह में उसकी पसन्द का सवाल नहीं; जहाँ चाहा उसके गले से बाँध दी। संपत्ति में उसका अधिकार नहीं। किसी

पुरुष से बात करते देख लिया कि 'चरित्र-भ्रष्टा' समझ घर से निकाल दिया। यह सब "कहन-सुनन की बात नहिं, लिखी-पढ़ी नहिं जाय।" वे ही इन अत्याचारों को समझ सकेंगी जिन्होंने इसका अनुभव किया है। आज इस क्रान्ति के युग में यदि इस चिर प्रताड़ित, अपमानित, पीड़ित नारी के हृदय में भी क्रान्ति की किरण पहुँच कर कुछ हलचल पैदा करें तो आश्चर्य क्यों ? पद-दलित होने पर तो मिट्टी भी सर पर चढ़ने के लिये तैयार रहती है ?

कहा जाता है, स्त्री तो घर की शोभा है। घर तो स्त्री से ही चलता है। पर, मैं कहना चाहती हूँ कि पुरुष भी तो घर की शोभा बन सकते हैं। यह कोई क़ानून की बात नहीं। व्यवस्था की बात है। पुरुष में कमाने की योग्यता थी। स्त्री में उसका अभाव था, सामाजिक रूढ़ियों के कारण ! अतः व्यवस्था हुई—पुरुष कमाकर लाये और स्त्री घर में बैठ कर उसकी सँभाल करे। रोटी-पानी का इन्तज़ाम करे। पर, अब तो २०वीं सदी है, जनाब ! ज़माना रंग बदलता है। हवा का रुख़ बदल रहा है। अब पुरानी व्यवस्था को भूल जाइये। अब वह सीमाबंदी न चलेगी। याद रखिये नारी भी मनुष्य है। उसके भी दिल है, और दिल में अरमान। उसके पास भी दिमाग़ है, और दिमाग़में है ग्रहण करने, चिन्तन करने और विचारने की शक्ति। जब तक सोई थी दुःख-दारिद्र्य के कीड़े काटते रहे। अपमान के, अन्याय के, अत्याचारों के डंक चुभते रहे, उसे पता तक न चला। निद्रा की .ख़ुमारी में अब जाग्रत् अवस्था में उसकी पीड़ा असह्य हो उठी है।

यह तो युग ही जागृति का है। सभी शोषित संगठित हो शोषण-उन्मूलन करने के लिये कटिबद्ध हैं। फिर स्त्री ही कैसे शोषित रहे ? नवयुग की पुकार उसके भी कानों पर पड़ चुकी है। उसने भी समय की गति को पहचाना है। अब वह 'असूर्य-पश्या' नहीं। आँखें खोल कर युग की गति-विधियों का अध्ययन करती है। वह पढ़ती है, ऊँची से ऊँची डिग्री हासिल करती है। वह डाक्टर है, वकील है, इंजीनियर, पायलेट, कैप्टेन सब कुछ है। प्रतियोगिता में अनेकों पुरुषों के दाँत खट्टे कर चुकी है ! वह मिनिस्टर बन कर आपके शासन-सूत्र की संचालिका है। एम० एल० ए० बन असेम्बली में बैठकर आपके भाग्य का विधान करती है। मेयर के रूप में शहर की सर्वमान्य सर्वोच्च नागरिका है। विदेशों में अपने देश की 'दूत' बन कर संधिविग्रह का आयोजन करती है। संसार के सर्वोच्च संगठन यू० एन० ओ० के अध्यक्ष-पद को अलंकृत कर विश्व की पथ-प्रदर्शिका बन चुकी है। पर, यह स्थिति दाल में नमक के बराबर है। अतः अभी तो स्त्रियों को अपनी शक्तियों का भान कराने के लिये बहुत कुछ करना होगा।

.ख़ुशी की बात है कि विधान ने स्त्री-पुरुषों को समानाधिकार दे दिये हैं। अतः आज वह जो चाहे पढ़ सकती है, कर सकती है, पर, समानाधिकारों को व्यावहारिक रूप देने में कुछ कठिनाइयाँ हैं। पहली कठिनाई तो पुरुषों की तरफ से है। पुरुषों को चस्का लग गया है—स्त्रियों द्वारा मिलने वाले आराम का। अतः बहुत-से पुरुष तो इस नारी-आन्दोलन की हवा को अपने घर में प्रविष्ट ही नहीं होने देना चाहते। उन्हें भय

है कि नई रोशनी से उनके घर ही बर्बाद हो जायेंगे। दूसरी कठिनाई स्वयं स्त्रियों की ओर से है। बहुत-सी स्त्रियाँ अभी जान ही नहीं सकीं कि घर के सिवाय, बाहर भी उनके कुछ कर्त्तव्य हैं, उत्तरदायित्व हैं। लड़कियों के लिये अनिवार्य शिक्षा के स्कूल खोले गये। ग्राम के अधिकारी शिकायत करते हैं कि लड़कियाँ पढ़ने ही नहीं आतीं। उनके माता-पिता स्कूलों में लड़कियों को भेजते ही नहीं। उन्हें शिक्षा का महत्त्व ही नहीं ज्ञात। बात यह है कि स्त्री-जाति इतनी शोषित हुई कि उसकी शक्तियाँ ही प्रसुप्त हो गईं। आज हम पिछड़े हुए वर्गों (Backward classes) के उद्धार की बातें करते हैं। पिछड़ी जातियों को आगे लाने की नित्य नई योजनायें बनती हैं। स्त्री तो सबसे पिछड़ी है। जिन्हें "बैकवर्ड" कहते हैं उनकी घरवाली तो उससे भी पिछड़ी हैं। हम भंगियों को शोषित कहते हैं, वे भंगी भी अपनी स्त्रियों का शोषण करते हैं। अतः केवल कलम की नोक से समानाधिकार देने पर स्त्री समान स्तर पर कैसे आ सकेगी ? उसे समान स्तर पर लाने के लिये विशेष योजनायें बनानी होंगी। उसे पढ़ाने के लिये शिक्षा-पद्धति को कुछ आकर्षक बनाना होगा। उसके लिये शिक्षा मुफ्त हो। मध्यान्ह का भोजन स्कूलों में उन्हें मुफ्त दिया जाये। किताबें, स्टेशनरी मुफ्त दी जायें। वे समझें कि उन्हें वहाँ कुछ मिलता है। यह स्त्री के प्रति रियायत नहीं; मानवता के उपकार के लिये इस सोई हुई शक्ति को जगाना ही होगा। राजनीति में उसके लिये सीट सुरक्षित रखनी होगी। हमें राजनीति में आने के लिये उसे आकर्षित करना है। इसलिए कि जो राजनीति दानव-नीति बन रही है उसे फिर मानव-नीति बनाया जा सके। भ्रष्टाचार, ब्लैक-मार्केटिंग आज सरदर्द बने हुए हैं। कानून द्वारा इनसे लड़ाई लड़ी जा रही है। पर, मर्ज बढ़ता जा रहा है—ज्यों-ज्यों दवा की जारही है। इनका इलाज भी स्त्री के हाथ है। स्त्री सुशिक्षिता और सुसंस्कृता होगी तो उसकी संतान कैसे सुसंस्कृत न होगी ? बीमारी की जड़ स्त्री के पिछड़ेपन में है। स्त्री-उद्धार का प्रयत्न वस्तुतः मानवता के उद्धार का प्रयत्न है।

स्त्री राष्ट्र की—प्रजा की माता है, अतः वह राष्ट्र की माता है। वह घर में बच्चों की देखभाल करती है। वह चाहती है, उसके बच्चे फूलें-फलें, ख़ुश रहें। यह संसार भी तो एक विशाल परिवार है। उसकी चिन्ता भी मातृशक्ति को करनी होगी। वह विश्व-माता है। जगदम्बा है। जगज्जननी है।

आज संसार किस तेज़ी से महाविनाश के पथ पर बढ़ता जा रहा है। इस छोटे-से अरसे में दो-दो महायुद्धों के द्वारा किये गये महाविनाश से धरती काँप उठी है। अभी उस महाविनाश पर महानिर्माण के प्रयत्न पूरे नहीं हो पाये हैं कि तीसरे महायुद्ध का वातावरण तैयार नज़र आ रहा है। कौन ज्यादा संहारक शस्त्रों का निमार्ण करता है, इसकी प्रतिस्पर्धा-सी चल रही है। कहीं एटम बम हाइड्रोजन बम, कोबाल्ट बम। यदि इसी तरह की होड़ चलती रही तो कौन जानता है कि संसार को किस महाप्रलय का सामना करना पड़े। पुरुष युद्ध-पिपासु है। युद्ध का दानव उसके दिमाग़ पर छाया हुआ है। वह स्वयं अपना विनाश करने पर तुला हुआ है। जिस माँ ने जन्म दिया, पाला-



स्नातिका-मण्डल (दशम)

श्री कमलाबाई किबे (मध्य में)

पोसा, खड़ा होना-चलना सिखाया। ठोकर खाकर गिरने पर सहारा देकर उठाया। जीवन-यात्रा में चलने योग्य व्यक्तित्व प्रदान किया। जब-जब कोई संकट आया माँ की ममता मयी गोद में ही शांति मिली। आज का मानव भी अँधेरे में भटक रहा है। ठोकरें खा रहा है। क्या मातृशक्ति घर में बैठी रोटियाँ ही थापती रहेगी, या अपनी चहार दीवारी से निकल कर गिरे हुए मानव को उबारने का प्रयत्न करेगी ? पथ-भ्रष्ट का पद-प्रदर्शन करेगी।

युद्धों का वातावरण माँ की ममता के लिये एक चुनौती है, जिसका उत्तर देने के लिए उसे राजनीति की बागडोर अपने हाथ में लेनी होगी। माता निर्माता भवति। जो निर्माण करती है, वह विनाशलीला कैसे सहेगी ? पिछले महायुद्धों का हमें पता भी न चला, कब प्रलयाग्नि भड़क उठी। अब हमें आँखें खोल कर घटना-चक्र का अध्ययन करना होगा। पता रखना पड़ेगा कि ऊँट किस करवट बैठने वाला है।

आज यू० एन० ओ० में वीटो (Veto) की चर्चा सुनते हैं। जिसका मतलब पूरा न हुआ 'Veto' इस्तैमाल कर लिया। यह 'Veto' मातृशक्ति के पास होना चाहिये। जब पुरुष पर खूँख्वारी का नशा सवार हो, जब वह युद्धों का वातावरण पैदा कर महाविनाश के लिये उद्यत हो, तब 'विश्वमाता' अपने विशेषाधिकार प्रयोग कर 'ठहरो' की आवाज़ बुलन्द कर सके। आज शांति के नारे लगते हैं। शान्ति नारों से आने वाली वस्तु नहीं है। उसका स्थान हृदय है। हृदय ही युद्ध-पिपासु हों तो शान्ति कहाँ ? यह हृदय-परिवर्तन या तो सन्त—पहुँचे हुए व्यक्ति कर सकते हैं या मातृशक्ति कर सकती है।

संसार तो कण्व के तपोवन की भाँति केवल धूम्राच्छादित कठोर तपोभूमि मात्र है। वनलक्ष्मी शकुन्तला की भाँति नारी ही घर और बाहर सर्वत्र इसे पुष्पित-सुरभित रम्योद्यान बनाये हुये है। यदि नारी की करुणा, ममता और सहृदयता गंगा की सरस धारा की भाँति प्रवाहित होकर विश्व के कण-कण को सींच न देती तो धरती पर सुख-शान्ति का निशान भी न रह पाता।

स्त्री और पुरुष दोनों ही राष्ट्र-रूपी रथ के पहिये हैं। जैसे घर, नर और नारी के सहयोग से चलते हैं, बाहर भी केवल नर नहीं नारी का भी सहयोग होने पर ही जीवन-संग्राम में नारायण के दर्शन सुलभ हैं।

नर के उत्थान के लिये नारी को मुक्त करना ही होगा। हम जल की शक्ति पकड़ने के लिये पंचवर्षीय योजना बनाते हैं। नारी के अन्दर छिपी शक्ति को जगाने के लिये भी विशेष योजना बनाकर कार्य करना होगा, तभी मानव का उद्धार हो सकेगा।

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

[वैद्यराज श्री विद्याभूषणजी, आयुर्वेद-शिरोमणि, एटा]

इस जड़-चेतन विश्व में अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य में कुछ विशेषता है। वही विशेषता उसको अन्य प्राणियों से अलग करती है। प्राणिमात्र आहार-निन्द्रा-भय और प्रजोत्पत्ति में समान है, परन्तु मनुष्य अन्य सब प्राणियों के समान इन सबसे संयुक्त रह कर भी अपने को अन्य प्राणि-वर्ग से विशिष्ट रख सकता है। वह विशेषता मनुष्य में धर्म की है। मनुष्य कर्मयोनि और भोगयोनि दोनों है, उसके जीवन का उद्देश्य केवल खाना-पीना और विषय सेवन ही नहीं है, अपितु इन सब साधनों द्वारा जीवन को सुरक्षित रखते हुये 'पुरुषार्थ-चतुष्टय' का साधन ही है। यदि मनुष्य में धर्म न हो तो वह भी पशु-समान है। उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं है। नीतिकार कवि ने सुन्दर और उचित शब्दों में इसी भाव को प्रकट किया है :—

आहार निद्रा भय मैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मोहि तेषामधिकोविशेषो, धर्मेण हीना पशुभिः समानाः॥

यह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी पुरुषार्थ-चतुष्टय ही पुरुष के जीवन का अर्थ (प्रयोजन) है। इस धर्म आदि 'पुरुषार्थ-चतुष्टय' का साधन यह दुर्लभ मनुष्य शरीर ही है। यदि शरीर विकल अस्वस्थ हो तो न तो 'पुरुषार्थ-चतुष्टय धर्मादि' ही सिद्ध हो सकते हैं और न मोक्ष ही भोगा जा सकता है। भोग और अपवर्ग दोनों का साधन यह शरीर ही है। अतएव चाहे कोई भोगाभिलाषी हों चाहे मोक्षाभिलाषी, सबके ही लिये शरीर-रक्षा और उचित शास्त्रीय साधनों द्वारा शरीर को स्वस्थ, सबल, कार्यक्षम, पुरुषार्थक्षम बनाना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है।

वैदिक धर्म की यह विशेषता है कि वह लोक और परलोक इस जीवन और भावी जीवन दोनों का सामंजस्य रखता हुआ दोनों को समान महत्त्व देता है। यथार्थ तो यह है कि वर्त्तमान जीवन ही भावी जीवन का आधार है। इस जीवन का आधार यह शरीर ही है। आत्मा और स्थूल शरीर का संयोग ही जीवन है। शरीर के इसी महत्त्व को और उसके धर्म के आधार रूप को ध्यान में रखकर ही वैदिक धर्म में, वैदिक आचार-व्यवहार में, वेद के अन्यतम उपवेद आयुर्वेद में शरीर को महत्त्व दिया गया है। आयुर्वेद का अन्यतम ग्रन्थ चरक कहता है—

नगरी नगरस्येव, रथस्येव रथीयथा,
स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत्।
सर्वमन्यत् परित्यज्य, शरीर मनुपालयेत्,
तदभावे हि भावाना सर्वाभावः शरीरिणाम्॥

—चरक सूत्र स्थान

भाव यह है कि शरीर और उसके स्वास्थ्य की रक्षा आवश्यक धर्म है, क्योंकि जगत् का समस्त व्यवहार-सम्बन्ध-चलन शरीर रहते ही है। वैदिक दैनिक नित्यकर्म ब्रह्मयज्ञ सन्ध्या में भी—"पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम् शरदः शतं" आदि द्वारा दीर्घायुष्य और स्वास्थ्य की कामना की गई है। इस स्वास्थ्य का यथार्थ स्वरूप भी आयुर्वेदशास्त्र में बड़े सुन्दर शब्दों में लिखा गया है। स्वास्थ्य की परिभाषा यह है—

समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

अर्थात् जिसके वात, पित्त, कफ दोष समान हों, जठराग्नि मन्द, विषम या तीव्र न हो, शरीर में रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र आदि धातुयें सम हों, वे न्यूनाधिक न हों। मल-मूत्र, स्वेद (पसीना) आदि बाहर निकलने वाले मल सम अर्थात् न्यूनाधिक मात्रा में न निकलें। मन, वाणी, शरीर की क्रियायें भी यथोचित समभाव हों और अन्त में चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रिय—वाणी आदि कर्मेन्द्रिय—मन तथा आत्मा सदा प्रसन्न रहते हों, इनमें विकलता औदासीन्य भी न हो, वही व्यक्ति स्वस्थ कहा जा सकता है। यहाँ "प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः" वाक्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। सभी भौतिक साधनों से सम्पन्न होकर भी जो व्यक्ति स्वयं अपने में प्रसन्न नहीं है, और कृत्रिम बाह्य आनन्द पाने की इच्छा करता है, वह आयुर्वेद के अनुसार स्वस्थ नहीं है और मानसशास्त्र के अनुसार भी दुखी है। इस दुर्लभ स्वास्थ्य के साधन क्या हैं ?

स्वास्थ्यरूपी भवन के आधाररूप उसके तीन स्तंभ हैं जिनके आधार पर वह स्थित है और जिनके विचलित होने पर विचलित होता और नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है। चरकाचार्य कहते हैं :—

भय उपस्तंभाआहारः स्वप्नोब्रह्मचर्यमिति,

(१) आहार–संतुलित भोजन।
(२) स्वप्न–पूर्णविश्राम अर्थात् समय पर गाढ़ निद्रा।
(३) ब्रह्मचर्य–इन्द्रियों का संयम—शारीरिक और मानसिक।

वर्त्तमान वातावरण में समाज का जीवन इतना दूषित और भ्रमपूर्ण हो गया है कि स्वास्थ्य के इन मौलिक आधारों के संबन्ध में अनेक भ्रमपूर्ण धारणाएँ बन गई हैं, जिनसे स्थास्थ्य-लाभ न होकर स्वास्थ्य-हानि हो रही है। यही कारण है इस पृथ्वीमंडल पर प्रतिवर्ष डेढ़ करोड़ व्यक्ति अपने पुत्र, पति-पत्नी और परिवार को दुःख-सागर में विलाप करते छोड़कर असमय में ही काल-कवलित हो जाते हैं। अतः प्रत्येक मनुष्य का परम कर्त्तव्य है कि वह अपनी स्वास्थ्य-रक्षा का भरपूर ध्यान रक्खे और आहार-निद्रा-ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करता हुआ स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य लाभ करे।

आहार—भोजन में वायु तथा जल का भी समावेश है। वायु के विना मनुष्य एक क्षण भी जी नहीं सकता। जल के अभाव में भी शीघ्र मृत्यु हो जाती है। अन्न तो मुख्य

है ही—शरीर को अन्नमय कोष कहा गया है। आहार (भोजन), शब्द से अन्नादि खाद्य पदार्थ तथा शुद्ध जल और वायु का ग्रहण करना चाहिये। भोजन में मनुष्य की प्रकृति, आयु, ऋतु, शरीर का भार, शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम, स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य का भी ध्यान रखना चाहिये।

आहार के संबन्ध में संक्षेप से यह है कि भोजन—कैसा, कब और कितना करना चाहिये। भोजन देश-काल-पात्र के विचार से संतुलित होना आवश्यक है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से भी मांसवर्धक तत्त्व (प्रोटीन) कर्बोज, स्नेह-लवण आदि का यथोचित भाग रहना चाहिये। भोजन में शुद्ध घृत-दुग्ध आदि भी पर्याप्त मात्रा में होना स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है "क्षीरघृताभ्यासो रसायनानाम् श्रेष्ठतमम्" घृतदुग्ध रसायन है। इनके सेवन से शरीर और स्वास्थ्य में स्थायित्व आता है। उनमें भी शुद्ध घृत विशेषकर गोघृत आयु-वर्धक है, आयुर्वैघृतम्। भारतवर्ष में मृत्यु-संख्या बढ़ने का और आयु का प्रमाण घटने का मुख्य कारण भोजन में घृत-दुग्ध का स्वल्पाभाव या अभाव भी है। बालकों के वर्धन-काल में विशेषकर २५ वर्ष की आयु तक दुग्ध का आवश्यक मात्रा में न मिलना उनके विकास पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। भोजन समय पर करना भी स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है। भोजन संतुलित हो, वह उचित समय पर उचित मात्रा में उचित प्रकार से किया जावे तभी स्वास्थ्य पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है और परिणाम में स्वास्थ्य और सुख मिलता है। आयुर्वेद के आकर ग्रन्थ चरक-सुश्रुत, वाग्भट्ट में तथा आधुनिक स्वास्थ्य विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकों में इन सब नियमों का सविस्तर वर्णन है जो स्वास्थ्याभिलाषियों को ज्ञातव्य और कर्त्तव्य है। "आयुर्वेदोपदेशेषु विधेय परमादरः"

स्वप्न अर्थात् निद्रा—स्वास्थ्य का दूसरा स्तम्भ-आधार निद्रा है। निद्रा में पूर्ण विश्राम का भाव तो है ही, साथ ही मानसिक प्रसन्नता का भाव भी निहित है। समय पर गाढ़ निद्रा से मन और शरीर दोनों ही पूर्ण रूपेण तरोताजा हो जाते हैं, परन्तु जो व्यक्ति अहर्निश चिन्ताओं में मग्न रहते हैं और उनमें चिन्तित रहते ही सो जाते हैं उनको निद्रा से पूर्ण लाभ नहीं मिलता। अपितु कभी-कभी हानि ही हो जाती है।

इस विषय पर आयुर्वेद ने बड़ा सुन्दर विवेचन किया है:—

"ब्रह्मचर्य्यरतेर्ग्राम्य सुखनिस्पृहचेतसः ।
निद्रा संतोषतृप्तस्य स्वंकालं नातिवर्त्तते: ॥

जो व्यक्ति सदाचार-परायण है विषय-भोग से निस्पृह है और संतोष से तृप्त हैं उसको समय से सुनिद्रा अवश्य आती है।

इस आयुर्वेदीय ज्ञान के अभाव में ही अनिद्रा का रोग जो उत्तरोत्तर बढ़ रहा है, वह आयुर्वेदीय निद्रा संबन्धी ज्ञान और उसके आचरण से ही सुधर सकता है।

सुनिद्रा के लिये मनुष्य को अपना समस्त दिन सुकार्य्यों में लगाना चाहिये और मन से भी सुविचार ही विचारना चाहिये। सायं-प्रातः एकाग्र श्रद्धापूर्वक ईश्वर-प्रार्थना संध्यावन्दन-ध्यान-उपासना आदि करना चाहिये और सोते समय ईश्वर-प्रार्थना करके

शांतचित्त से दिन की चिन्ताओं को विस्मरण कर शरीर को शिथिल कर मन को प्रफुल्ल कर निद्रा देवी की गोद में चला जाना चाहिये।

आहार का स्वास्थ्य विषय में जो महत्त्व है, वही या उससे अधिक ही महत्त्व निद्रा का है।

ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य का अर्थ संयम है, जो इन्द्रिय-संयम के विना असंभव है। सब इन्द्रियों में जननेद्रिय मुख्य है। अतः ब्रह्मचर्य का अर्थ वीर्य-पात न करना प्रचलित है और वही अर्थ सामान्यतया अभिप्रेत है।

अष्ट मैथुन (स्मरण - कीर्त्तन-केलि - प्रेक्षण - गुह्यभाषण-संकल्प - अध्यवसाय-क्रिया-निर्वृत्ति) से बचना ही ब्रह्मचर्य है। इससे संचित हुई शक्ति को ईश्वराभिमुख होकर ध्यान, उपासना आदि में लगाना ही सच्चा ब्रह्मचर्य है। आयुवर्द्धन, स्वास्थ्य स्थिर करण, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक, शक्ति और आनन्द बढ़ाने में ब्रह्मचर्य सर्वोत्तम है। "दीर्घायुष्यकराणां ब्रह्मचर्यश्रेष्ठतमम्" दीर्घायुष्य के साधनों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठतम है। आहार और निद्रा से भी ब्रह्मचर्य का महत्त्व अधिक है। मनुष्य के भोजन के एक मन भार से ४० तोला रक्त बनता है और ४० तोला रक्त से १ तोला वीर्य बनता है। अर्थात् मनुष्य ४० सेर भोजन द्वारा एक तोला वीर्य शरीर में संचय करता है। इससे आहार की अपेक्षा ब्रह्मचर्य का महत्त्व शत-सहस्रगुण अधिक है। प्राचीनकाल और अर्वाचीनकाल में भी इस देश और जाति में पूर्ण नैष्ठिक ब्रह्मचारी न केवल अपना किन्तु समाज, राष्ट्र और विश्व का भी कल्याण कर गये।

इस प्रकार संक्षेप में स्वास्थ्य के तीन आधार स्तम्भ हैं—आहार, स्वप्न और ब्रह्मचर्य अर्थात् उचित भोजन समय पर यथोचित विश्राम और इन्द्रिय-संयम से ही स्वास्थ्य की रक्षा और शरीर की स्थिति रहती है। शरीर ही धर्म का साधन है जो मनुष्य को पशुत्व से ऊपर उठाता है और उससे इहलोक और परलोक सफल और सार्थक बनाकर जीवन के चरम ध्येय मोक्ष और सुख के आनन्द की पूर्णावस्था को प्राप्त कराता है। यही जीवन का ध्येय है, यही जीवन का उद्देश्य है और इसीसे जीवन सफल है। धर्मार्थकाम-मोक्षाणांमारोग्यं मूलमुत्तमम्।

शिक्षा-समस्या

[श्री प्रो० बाबूराम गुप्त, एम० ए०, आगरा कॉलिज]

भारत पर विदेशी शासन होने के कारण यहाँ की सभ्यता संस्कृति, कला, शिक्षा आदि ही नहीं अपितु उद्योग-व्यापार जैसी जीवन की सामान्य क्रियाओं का भी स्वाभाविक विकास एक दीर्घकाल तक रुका रहा। उस दार्घकाल में विदेशियों ने हमें जो सिखाया वही हमने सीखा और उनका शासक होने के कारण इतना आतङ्क हम पर रहा कि हमने स्वयं विचार करना छोड़ दिया। विदेशियों ने ऐसी विचार-धारा देश में फैला दी कि भारत के पूर्वज असभ्य और जङ्गली थे, उनके जीवन का कोई विकास नहीं हुआ था, उनके पास कोई ऊँची विचार-धारा नहीं थीं और न उनके रहन-सहन का कोई ऊँचा स्तर था और यदि भारतवासी अपनी उन्नति चाहते हैं तो उन्हें पाश्चात्यों को सर्वतोभावेन अपना गुरु स्वीकार करके अपने अतीत से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर डालना चाहिये। पर, इस जादू का असर बहुत दिनों तक नहीं रह सका। भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का मन्थन करने वाले कुछ भारतीय विद्वानों को तत्कालीन शिक्षा-पद्धति में दासता की दुर्गन्ध आने लगी और उन्होंने भारतीयों को सतर्क करते हुए वेदों की ओर लौट जाने का सन्देश दिया। इस प्रकार सन्देश देने वाले कदाचित् सर्व प्रथम महापुरुष महर्षि दयानन्दही थे। उसी समय से भारत के हित-चिन्तकों में दो विचार-धाराएँ चलने लगीं। एक दल ऐसा था जो भारत में अंग्रेज शासन को ईश्वर की कृपा समझता था। ये लोग हृदय से ऐसा समझते थे कि अंग्रेजी राज्य से ही भारत की सड़ी-गली रूढ़ियों का विनाश होकर यहाँ के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन का विकास होगा। दूसरी ओर वे लोग थे जो समझते थे कि पाश्चात्य विचार-धारा भारत की आत्मा को उसके शरीर से पृथक् कर देने वाला तीव्र विष है। कौन निर्णय कर सकता था कि कौन ठीक है? दोनों प्रकार की विचार-धाराएँ बराबर चलती रहीं और आज भी जब भारत ने राजनैतिक दासता से मुक्ति पाली है। दोनों विचार-धाराओं के समर्थक बराबर डटे हुए हैं। पर, आज का अन्तर अधिक स्पष्ट हो चला है और इतने समय के पश्चात् अनुभव के अधार पर इन दोनों के सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुयायियों में भी आगे चल कर, इस सम्बन्ध में विभाजन हो गया। एक दल ने आश्रम-व्यवस्था के अनुसार ऋषि के कथनानुसार–आर्षग्रन्थों के पठन-पाठन के लिये गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की नींव डाली। इसके जन्मदाता श्री स्वामी दर्शनानन्दजी और श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी थे। यद्यपि इस आर्ष शिक्षा-प्रणाली का शत-प्रतिशत विकास करने में वे भी सफल नहीं हुए पर, उन्होंने जीवन में जो प्रयत्न किया वह अधिक सराहनीय है। उसी के फलस्वरूप गुरुकुल काङ्गड़ी जैसी समुन्नत संस्था का प्रादुर्भाव हुआ और देश में गुरुकुलों और कन्या-गुरुकुलों का जाल बिछ गया। दूसरा दल उन लोगों का था जो आर्ष शिक्षण-पद्धति को देश-काल के अनुकूल न समझ कर उसकी कुछ अच्छी बातें समाविष्ट करके राजकीय अथवा राजमान्य शिक्षण-पद्धति को

चलाने के पक्ष में थे। उन्होंने डी० ए० वी० कालिजों और हाईस्कूलों से पंजाब और उत्तर प्रदेश को भर दिया।

गुरुकुलों से जनता ने ऐसी आशा की थी कि इनमें से कपिल और कणाद की टक्कर के ऋषि-मुनि निकलेंगे जो भारत की दुनिया को पुरानी बनाकर दिखाएँगे। कालिजों और हाईस्कूलों से अधिक तो नहीं कम-से-कम यह आशा की गई थी कि इनके पढ़ने वाले छात्र पाश्चात्य विषाक्त प्रभाव से वचे रहकर नवीन विद्याओं में निष्णात हो जायँगे। आरम्भ में दोनों ही प्रकार की संस्थाओं को कुछ सफलता मिलती हुई-सी दिखाई दी। पर, धीरे-धीरे स्वप्न भङ्ग होता गया। डी० ए० वी० हाईस्कूल और कालिज सभी अन्य संस्थाओं के समान हो गये। वे अपनी जो कुछ थोड़ी-सी विशेषता थी उसे भी खो बैठे! गुरुकुलों पर भी नवीन वातावरण और विचार-धाराओं का प्रबल आक्रमण हुआ और धीरे-धीरे उनमें भी प्रायः कालिजों का वातावरण प्रवेश करने लगा। उनकी उपाधियों के मान्य न होने के कारण जीवन-निर्वाह के क्षेत्र में बड़ी बाधा पड़ने लगी और गुरुकुलों के प्रति जो आकर्षण उत्पन्न हुआ था वह क्रमशः घटने लगा। आज गुरुकुलों को न तो उतना दान ही प्राप्त होता है और न छात्र ही मिलते हैं। कन्या-गुरुकुलों की स्थिति कुछ भिन्न है। स्त्रियों का अधिकांश भारत में अभी गृहस्थी के भीतर ही रहता है। उनके सामने जीवन-संघर्ष का प्रश्न इतने भयङ्कर रूप में नहीं आया है, पर, कभी-कभी विवाह-सम्बन्ध करते समय नये फ़ैशन के लोग लड़कियों की उपाधियों पर विशेष ध्यान देते हैं। अतः सर्वत्र डिग्रियों की माँग होने लगी है। हार मान कर गुरुकुलों के अधिकारी भी विश्वविद्यालयों की उपाधियों के लिये भागदौड़ करते हुए दिखाई देते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि देशकाल की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के विपरीत चलने वाली शिक्षा या शिक्षा-पद्धति अधिक दिनों तक टिक नहीं सकती।

आज भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर शिक्षा और शिक्षा-पद्धति का प्रश्न फिर बड़े ज़ोर से उठने लगा है। महात्मा गान्धी के पद-चिह्नों पर चलने वाले सर्वोदयी कार्यकर्ताओं ने उद्योगों के द्वारा शिक्षा देने की पद्धति का विकास किया है और काँग्रेस-दल की सरकार ने भी सिद्धान्ततः उसे स्वीकार कर लिया है। पर यह पद्धति अभी नीचे स्तर पर ही विकसित की गई है। विश्व-विद्यालय के समकक्ष इस पद्धति का विकास नहीं हुआ। आज देश के सामने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि भारत के नवयुवक को शिष्ट भारतीय नागरिक तथा समाज के लिए उपयोगी कैसे बनाया जाय। विद्यार्थियों की उच्छृङ्खल और संयमहीन प्रवृत्तियाँ कठिन समस्या बन गई हैं। देश के शिक्षा-संचालकों और सुधारकों को यह समस्या हल करनी है।

शिक्षा का स्वरूप स्थिर करने के लिए उसके मूल उद्देश्य का ज्ञान परम आवश्यक है। हम एक नवयुवक या युवती को क्या बनाना चाहते हैं? किस दिशा में उसका विकास करना चाहते हैं यह स्थिर होने पर शिक्षा का स्वरूप निर्धारण करना कुछ सरल हो जाता है। शिक्षा के उद्देश्य कुछ तो जीवन की चिरन्तन समस्याओं से सम्बन्ध रखते

हैं और कुछ देश-काल की परिस्थितियों से। अतः शिक्षा का स्वरूप निश्चय करते समय हमें दोनों ही का ध्यान रखना पड़ेगा। स्थूल रूप से शिक्षा का उद्देश्य शिक्षार्थी को शरीर और मन से स्वस्थ तथा संसार की कोई सेवा करने योग्य बनाना है। शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य की सभी देशों और सभी कालों में आवश्यकता है। अतः इसके लिये तैयारी करना शिक्षा-पद्धति का अनिवार्य अङ्ग होना चाहिए। स्वच्छ जल-वायु, पुष्ट और हितकर भोजन, व्यायाम तथा ब्रह्मचर्य बस येही साधन शरीर को स्वस्थ बनाते हैं। इनकी ओर से मुँह फेरने वाली पद्धति कभी उपयोगी नहीं हो सकती। मानसिक स्वास्थ्य के लिए नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र की परम आवश्यकता है। उसके साथ-साथ आदर्श अध्यापकों के बिना भी यह सम्भव नहीं है। खेद है कि वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली में इन सब बातों के लिये स्थान नहीं है। असाम्प्रदायिक राज्य का अर्थ अधार्मिक राज्य कर लिया गया है, और रामायण तथा गीता जैसे असाम्प्रदायिक ग्रन्थों का आश्रय लेना भी सम्भव नहीं रहा। अध्यापकों के चरित्र का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठाया जाता। केवल उनकी काग़ज़ी उपाधि देखी जाती है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिये भी यत्र-तत्र कुछ व्यायाम के साधनों को छोड़कर शेष बातों पर ध्यान ही नहीं दिया जाता। प्राचीन काल में विद्या के साथ व्रत का पालन भी अनिवार्य था जिसे आज हम भूल बैठे हैं। आज के छात्र विद्या-स्नातक भले ही हो जाएँ वे व्रत-स्नातक नहीं होते। उनका मन निर्मल और सबल नहीं होता, अतः वे जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर पाते।

मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के साथ-साथ शिक्षा का अनिवार्य अङ्ग वह योग्यता है, जिससे मनुष्य संसार में कोई कार्य करके समाज का उपकार कर सके और अपने जीवन-निर्वाह के साधन जुटा सके। शिक्षा का यह रूप देश के आर्थिक संघटन के अनुरूप होना चाहिये। जिस देश में जिस समय जैसी आर्थिक परिस्थितियों का निर्माण हो, उसी में उपयोगी सिद्ध होने वाले व्यक्तियों के अनुरूप शिक्षा होना परम आवश्यक है। प्राचीन शिक्षा-पद्धति की दुहाई देने वाले लोग इस तथ्य को ध्यान में नहीं रखते। आज के युग में विज्ञान, कृषि, उद्योग, अर्थशास्त्र आदि विषयों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है? इस प्रकार की शिक्षा के बिना जीवन-क्षेत्र में स्थिरता प्राप्त नहीं हो सकती। अतः वर्त्तमान काल में इन विषयों के बिना शिक्षा अधूरी ही रहेगी। हमारी सम्मति में देश की शिक्षण-संस्थाओं में दो बातें प्राचीन पद्धति और एक बात नवीन युग के अनुसार समाविष्ट होनी चाहिये। छात्रों के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिये प्राचीन सिद्धान्तों का आश्रय लेना होगा और जीवन-निर्वाह के योग्य बनाने के लिये आधुनिकतम शिक्षा देनी होगी। स्त्री शिक्षा के लिये भी ये नियम समान रूप से लागू हैं। जो स्त्रियाँ समाज में कोई कार्य न करके केवल गृहस्थ-जीवन व्यतीत करना चाहती हैं उन्हें भी गार्हस्थ्य शास्त्र की नवीनतम वैज्ञानिक शिक्षा की आवश्यकता है। इस प्रकार नवीन विषयों की शिक्षा देने के लिये आर्थिक साधनों की जरूरत होगी, जिनका राजाश्रय के बिना जुटाना अति कठिन है। ऐसी दशा में सभी शिक्षण-संस्थाओं को राजकीय सहायता किसी-न-किसी रूप में अवश्य मिलनी चाहिये। गणतन्त्र शासन में राजकीय

सहायता न लेने की बात कोई महत्त्व नहीं रखती और न परीक्षाओं से दूर रहने का कोई अर्थ है। किसी-न-किसी समय किसी-न-किसी प्रकार की परीक्षा भी अनिवार्य ही है।

अब एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न रह जाता है, वह है आर्ष शिक्षा-प्रणाली का जिसका निर्देश ऋषि दयानन्द ने किया है। हमारा विचार है कि प्राचीन संस्कृति का प्रकाण्ड पण्डित बनाने के लिये यह पद्धति अवश्य ही उपादेय है। पर, सामान्य शिक्षा के लिये वह कदापि कार्यान्वित नहीं की जा सकती। उसका एक विशेष क्षेत्र है। हाँ, अपनी संस्कृति का ज्ञान होने के लिये संस्कृत भाषा का ज्ञान सभी छात्रों के लिए अनिवार्य होना चाहिये। उनके लिये संस्कृत-शिक्षण की सरलतम और शीघ्रतम पद्धति अपनाई जानी चाहिये। इस प्रकार प्राचीन और नवीन का सामंजस्य ही हमारी शिक्षा-समस्या को हल कर सकता है। आज कुछ ऐसी प्रवृत्ति भी चल रही है कि सभी प्राचीन प्रथाओं के प्रति विद्रोह किया जाय। यह प्रवृत्ति बड़ी विघातक है। संसार के किसी देश ने अपनी प्राचीन परम्पराओं और भले आदर्शों का एक दम त्याग करके उन्नति नहीं की। विशेषकर मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनाने के लिये जिन सांस्कृतिक परम्पराओं की आवश्यकता है वे अपने-अपने देश में अलग-अलग होती है और एक देश की परम्परा दूसरे देश में कभी पूर्ण रूप से जम नहीं सकती और न उपयोगी सिद्ध हो सकती है। यही कारण है कि आज का नवयुवक जिसका प्राचीन संस्कृति से नाता छूट चुका है, किसी नयी संस्कृति को अपना न सकने के कारण पथ-भ्रष्ट होकर मारा-मारा फिर रहा है और अनेक अनर्थों का कारण बन रहा है। जीवनोपयोगी प्राचीन परम्पराओं की यत्न से रक्षा करनी चाहिए। हाँ, जो कुरीतियाँ और कुप्रथाएँ चल पड़ी हैं, उन्हें अवश्य ही घास-फूँस की तरह जला कर नष्ट-भ्रष्ट कर देना चाहिये जैसा ऋषि दयानन्द ने करके दिखा दिया।

सभ्यता और नागरिकता

[डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी, एम० ए०, पी-एच० डी०, बी-एस-सी०]

कुछ दिन पहले की बात है, एक धनाढ्य भारतवासी विलायत की सैर को गए। एक रात सिनेमा देखकर वह टैक्सी—भाड़े की मोटरकार-में अपने निवास-स्थान को वापस लौट रहे थे। ड्राइवर ने यकायक मोटर रोक दी। "क्यों, गाड़ी क्यों रोक दी?" "देखते नहीं, सामने लाल बत्ती हो रही है।" "तो क्या हुआ, यहाँ कोई पुलिस वाला तो है नहीं, चले क्यों नहीं चलते?" हमारे धनाढ्य बन्धु ने अत्यन्त सरल भाव से कहा। "साहब, यहाँ का यही नियम है। बिजली के द्वारा ट्रैफिक की व्यवस्था होती है और ये बत्तियाँ प्रति दो मिनट बाद स्वतः ही रंग बदलती रहती हैं। जब तक बत्ती का रंग हरा न हो जायगा, मैं आगे न बढ़ सकूँगा।"

अब आप ही विचारिये कि इंगलैण्ड निवासियों के और हमारे नैतिक स्तरों में कितना अन्तर है। कहाँ भारतवर्ष का एक सम्मानित धनी व्यक्ति और कहाँ लन्दन की सड़कों पर टैक्सी चलाने वाला एक ड्राइवर।

+ + + + +

इसी प्रकार नागरिक भावना से सम्बन्धित इङ्गलैण्ड का एक और उदाहरण देखिये, एक रोगी किसान सड़क पर बैठकर मार्ग का एक खड्ड भर रहा था किसी ने पूछा यह क्या कर रहे हो ? उसने उत्तर दिया अभी इस मार्ग से लड़के क़वायद करने के लिये निकलने वाले हैं। सम्भव है, किसी लड़के का पैर इस खड्ड में गिर कर मोच खा जाय ! इसीलिये यह गड्ढा भर रहा हूँ। बीमार हूँ अतः और कर ही क्या सकता हूँ। आगन्तुक व्यक्ति ने उक्त रोगी के शरीर का स्पर्श किया तो वह ज्वर से तप्त पाया। देश के नवीन आशांकुर उन बालकों की सुरक्षा और स्वास्थ्य का ध्यान उसे रुग्णावस्था में भी सत्कार्य की प्रेरणा प्रदान कर रहा था।

अब आप उक्त व्यक्ति की तुलना कीजिये, उन भारतवासियों से जिनमें बड़े-से-बड़ा आदमी मार्ग में निस्संकोच चाहे जहाँ थूक देता है। केले, मूँगफली आदि के छिल्के यों ही चारों ओर बखेर देता है। टूटे हुए शीशे के टुकड़ों को यों ही सड़क पर छितरा देता है। हमारी गृह-लक्ष्मियाँ घर के दरिद्र को छत से अथवा किवाड़ की ओट से यों ही गली में फेंक देती हैं। फलतः हमारे उठने-बैठने और चलने-फिरने का प्रत्येक स्थान गंदा और दूषित बना रहता है। इतना ही नहीं कभी काँच का टुकड़ा चुभ जाने के कारण हमारे पैर से खून बहता दिखाई देता है, तो कभी केले के छिल्के पर पाँव पड़ जाने के कारण हम चारों खाने चित्त गिरते हुए नज़र आते हैं। बहुधा ऐसा भी होता है कि हमारे भाई मौका पाकर सड़क पर मल-त्याग भी कर देते हैं। उसके कारण राहगीरों को कितनी असुविधा होती है, यह भुक्तभोगी ही समझ सकते हैं।

इस प्रकार की एक नहीं अनेक घटनायें हमारे जीवन में हर समय घटित होती रहती हैं और हमारे आस-पास रहने वालों को हमारे कारण भाँति-भाँति के कष्ट तथा तरह-तरह की असुविधाएँ मिलती रहती हैं। जीवन के इस पक्ष पर सम्भवतः हमने कभी विचार ही नहीं किया।

यहाँ मुझे एक घटना याद आती है। इसका संबंध हमारे देश के एक वयोवृद्ध लेखक के जीवन से है। पानी बरस रहा था और वह मकानों के सहारे-सहारे चले जा रहे थे, क्योंकि सड़क पर पानी और कीचड़ थी। केवल मकानों से मिला हुआ थोड़ा-सा मार्ग ही सूखा था, जिसकी एक पगडंडी-सी बन गई थी। इधर सामने से एक अन्य सज्जन आ रहे थे। रास्ता एक ही व्यक्ति के चलने योग्य था। जैसे ही वे दोनों महानुभाव एक दूसरे के पास आये, वैसे ही सामने से आने वाले महानुभाव बोले, मैं किसी बदमाश के लिये रास्ता नहीं छोड़ता हूँ। बेचारे लेखक चुपचाप नीचे कीचड़ में उतर गये, यह कहते हुए, पर, भाई, मैं तो सदैव छोड़ देता हूँ।

बचपन में एक कहानी पढ़ी थी। सम्भवतः आप भी जानते हों। एक पुल पर दो बकरियाँ विपरीत दिशाओं में चली जा रही थीं। पुल बहुत ही सँकरा था, उस पर केवल एक ही बकरी के चलने योग्य रास्ता था। यदि दोनों हठपूर्वक एक ही साथ चलने का प्रयत्न करतीं, तो दोनों ही नीचे जा गिरतीं, किन्तु तुरन्त ही एक लेट गई और दूसरी बकरी उसके ऊपर होकर निकल गई। रास्ता साफ़ हो गया। फिर लेटी हुई बकरी ने भी उठकर अपनी राह ली।

कहने का अभिप्राय यह है कि चाहे जानवर एक दूसरे की सुख-सुविधा का ध्यान भले ही करलें, परन्तु हम मानव सदैव स्वर्ग को नरक बनाने का प्रयास करते रहते हैं। अनेक पशु-पक्षी एक साथ एक ही खेत में चारा खाते रहते अथवा दाने चुगते रहते हैं। एक ही घाट पर वे एक साथ पानी भी पी लेते हैं, परन्तु हम मनुष्य एक साथ शान्ति-पूर्वक बैठ भी नहीं सकते। और उस पर तर्क है यह, कि जहाँ चार बर्तन होंगे वहाँ खटकेंगे ही!

एक ही मालिक के यहाँ पालतू हो जाने पर कुत्ता और बिल्ली अपना वैर भूल जाते हैं, परन्तु एक ही प्रकृति से निर्मित हम मानव एक साथ निश्चिन्त होकर नहीं रह सकते। सदैव एक दूसरे को चोट पहुँचाने की ही ताक में रहते हैं।

पालतू पशु स्वामी का अन्न खाकर स्वामि-भक्त बन जाते हैं, कुत्तों और घोड़ों की वफ़ादारी से सम्बन्धित आपने अनेक कथायें सुनी होंगी। दूसरे पशु भी स्वामी से आँखें नहीं फेरते। परन्तु मनुष्य सब कुछ खाकर धोखा देने का दावा करता है। कुत्ता चोरों को भगाने के लिये प्रसिद्ध है और आदमी घर का भेद बता कर चोरी कराने में, कैसी है यह विडम्बना।

मानवों की आज दिन यह दशा है कि हम सदैव आक्रमण करने का अवसर ढूँढ़ते रहते हैं। सबको धोखा देकर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि हमारे ऊपर विश्वास करके हमारा भाई तनक ग़ाफ़िल हो जाए और हम उसे चक्कू मार दें।

सच बात तो यह है कि हम कहीं भी, कभी भी किसी के भी साथ मानवों जैसा व्यवहार नहीं करते। किसी के पास जाकर थोड़े-से शब्दों में और क़ायदे के साथ अपनी बात नहीं कहते, कोई हमारे पास जाता है, तो हम ठीक से बात नहीं करते, सड़क पर चलते हैं तो आस-पास वालों में टक्कर देते हैं, छत पर खड़े होते हैं तो नीचे गली में चलने वालों का ध्यान नहीं रखते, माइक्रोफोन पर रात-भर रेकार्ड बजाकर हम पड़ौसियों की नींद हराम कर देते हैं।

हमारे इन कलुषित व्यवहारों एवं तज्जन्य दूषित वातावरण का एक मात्र कारण है, नागरिकता का अभाव। घर में, स्कूल में, बाहर, भीतर, सोते, जागते, धोखे में अथवा जानबूझकर कभी किसी ने हमें यह बताया ही नहीं कि शिष्ट एवं सभ्य होना मनुष्य का पहला धर्म है।

सभ्यता का व्युत्पत्यार्थ इस प्रकार कहा गया है—सभायां साधवः सभ्या। अर्थात् जो सभा अथवा जन-समाज में साधु या भले हों, वे ही सभ्य हैं। हमें समझ लेना चाहिये कि—

सभ्यता का सम्बन्ध सुख के साधनों की सम्पन्नता के साथ कम है और मनुष्य के पारस्परिक व्यवहार और सम्बन्ध के साथ अधिक है। केवल चुङ्गी की सीमा के अन्दर अथवा नगर में रहलेने से कोई नागरिक नहीं बन जाता। नागरिक वह है जो प्रसिद्ध अँग्रेजी निबन्ध-लेखक न्यूमैन के शब्दों में "कभी किसी की असुविधा का कारण नहीं बनता।"

किसी भी देश का नैतिक स्तर उसके निवासियों के प्रति-दिन के व्यवहारों के अनुरूप ही आँका जाता है। हम चाहते हैं कि हमारे देश के निवासियों को नागरिकता सम्बन्धी व्यावहारिक बातें बताई जाएें। व्याख्यानों द्वारा, पाठ्य पुस्तकों द्वारा, पैम्फ्लेटों द्वारा, सिनेमाओं द्वारा तथा अन्य अनेक साधनों द्वारा यह कार्य सरलता पूर्वक पूरा किया जा सकता है। विदेशों में इस ओर सफल प्रयास किये जा चुके हैं। मनुष्य बनने के लिये हमें अच्छा पड़ौसी बनना पड़ेगा।

आर्यसमाज का इतिहास

झाँकी या झलक

[श्री प्रो० उमेशचन्द्र शास्त्री, शिरोमणि, एम० ए०]

विश्व-इतिहास की सर्वोन्नत एवं सर्व प्राचीन आर्य जाति के साथ जब हम अपना परम्परागत वंशानुक्रम सम्बन्ध अनुभव करते हैं, तब हम सबका हृदय गौरवान्वित हो उठता है। इसी महान् परम्परा की रक्षा और पूर्व गौरव के समुद्धार के निमित्त महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज-संगठन की स्थापना की थी।

महाभारत के पश्चात् भारतीय जीवन में से आर्य-धर्म, आर्य-संस्कृति आर्य-सभ्यता तथा वैदिक सिद्धान्तों का व्यवहार क्षीण होने लगा और इस प्रकार भारत शनैः शनैः सम्प्रदायवाद का गढ़ बन गया। भारतीय संस्कृति का सूर्य अज्ञान, अन्याय, अभाव के मेघों से आवृत हो गया, बुद्धि-स्वातन्त्र्य, मानव-कल्याण, सत्य का अनुसन्धान आदि जो हमारी विशेषता के अंग थे, हमारे जीवन से लुप्त हो गये। सर्वत्र अन्धकार था और हम विदेशियों की दासता-शृंखला में आबद्ध चले आ रहे थे।

महर्षि दयानन्द ने अपने अध्ययन-काल में भारत के जिस सांस्कृतिक गौरव का ज्ञान प्राप्त किया था, व्यावहारिक जगत् में उसका सर्वथा अभाव देख कर उनको महान् दुःख हुआ और वे आर्य जाति के ह्रास पर करुण क्रन्दन करने लगे।

ऋषि निराशावादी न थे, उन्होंने अपने कर्त्तव्य को पहचाना और भारतीय आर्य-संस्कृति के पुनरुत्थापन का दृढ़ निश्चय कर लिया। ऋषि के जीवन का अब एक ही उद्देश्य था "कार्यं वा साधयेयम् देहं वा पातयेयम्।"

ऋषि ने पाखण्ड-खण्डिनी पताका, राष्ट्र-भ्रमण, वेदोपदेश, सत्य धर्म-प्रचार आदि के द्वारा अपना निश्चित सन्देश जन-मन तक पहुँचाने में सफलता प्राप्त की। भारत का रूढ़िवादी महन्त-वर्ग घबड़ा उठा, विदेशी धर्म-प्रचारक अपने षडयन्त्रों को सफल न होता देख परेशान होने लगे। दूसरी ओर जनता ने ऋषि के रूप में एक सच्चे मानव-हितैषी के दर्शन किये। अनाथों-विधवाओं ने सन्तोष की साँस ली, हरिजनों ने ऋषि में सच्ची मानवता अनुभव की और महिला-वर्ग ने अपने अधिकारों का उन्हें संरक्षक समझा।

अपने विचारों की दृढ़ स्थापना के लिये क्षेत्र तैयार करने के पश्चात् ऋषि ने अपने भक्तों के आग्रह पर चैत सुदि ५ सं० १९३२ तदनुसार १० अप्रैल १८७५ ई० के दिन गिरगाँव (बम्बई) में डा० माणिकचन्द्र की वाटिका में नियम पूर्वक आर्यसमाज की स्थापना की। इस प्रकार ऋषि दयानन्द जिन सिद्धान्तों के प्रचार के लिये समुद्यत थे उनके लिये नियम पूर्वक एक संगठन की स्थापना हो गयी। प्रारम्भ में २८ नियम थे, जिनमें उद्देश्य, नियम, उपनियम सब सम्मिलित थे। बाद में इस घोषणापत्र पर पुनर्विचार करके आर्यसमाज के वर्त्तमान प्रचलित नियमों को मुख्य रूप में स्वीकार करने की लाहौर में घोषणा की गयी। शेष आवश्यक बातें उपनियमों में रख दी गयीं।

आर्यसमाज के नियमों की महत्ता, व्यावहारिकता आज सर्वमान्य हो चुकी है। इस सम्बन्ध में इतना निवेदन ही पर्याप्त है कि आर्यसमाज के नियम उसके विश्वव्यापी स्वरूप, विश्वव्यापी कार्यक्षेत्र और बौद्धिक स्वातन्त्र्य एवं आस्तिक विचार-धारा के पोषण का दिग्दर्शन कराते हैं। इस प्रकार आर्यसमाज की स्थापना के रूप में ऋषि ने आर्यजाति की महान् एवं गौरवशाली परम्परा के रक्षा-यज्ञ का समारम्भ किया।

आर्यसमाज की स्थापना होते ही रूढ़िवादी हिन्दुओं और विधर्मियों के दिल दहल उठे। धर्म और सभ्यता के नाम पर जनता को भ्रान्त करने वाले ये लोग आर्यसमाज के प्रकाश से चौंधियाने लगे। ऋषि ने अपने संगठन को व्यापक बनाने के लिये देश का तूफानी दौरा आरम्भ कर दिया। जहाँ वे पहुँचते वहीं श्रद्धालु जन आर्यसमाज की स्थापना करते और प्राचीन वैदिक सभ्यता के वास्तविक स्वरूप को जनता तक पहुँचाने की शपथ लेते।

१ जनवरी १८७७ को दिल्ली में महारानी विक्टोरिया के भारत की महारानी उद्घोषित होने का समारोह होने वाला था। ऋषि ने इस सुअवसर से लाभ उठाने का निश्चय किया। पश्चिमोत्तर देश फिर संयुक्त प्रदेश और वर्त्तमान उत्तर प्रदेश में भ्रमण करते हुए उन्होंने आर्यावर्त्त के राजाओं के हृदय में आर्य-धर्म की सच्ची भावना जाग्रत करने और देश में समाज-सुधारक व धार्मिक संगठनों के एकीकरण के उद्देश्य से एक सर्व धर्म सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया।

राजाओं का सम्मेलन बुलाने और धार्मिक तथा सामाजिक संगठनों की बैठक करने में यद्यपि ऋषि सफल न हो सके तथापि उनके प्रयत्न उनकी दूरदर्शिता के परिचायक थे।

यदि स्वामीजी के निमन्त्रण पर एकत्र बा० केशवचन्द्र सेन, सर सैय्यद अहमदखाँ, मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी, बा० नवीनचन्द्र राय, मुंशी इन्द्रमणि, बा० हरिश्चन्द्र, चिन्तामणि आदि के रूप में बंगाल, बम्बई, युक्तप्रान्त और पंजाब आदि मुख्य प्रान्तों तथा ब्रह्मसमाज, इस्लाम, सनातनधर्म, आर्यसमाज आदि प्रमुख धार्मिक संगठनों का एकीकरण सम्भव हो जाता तो आज भारत का इतिहास और ही प्रकार का लिखा होता।

दिल्ली दरबार के पश्चात् ऋषि अपने कार्य को प्रगति देने के निमित्त देशाटन के लिए निकल पड़े। शाहजहाँपुर के चाँदपुर स्थान में ईसाई पादरियों को परास्त कर ऋषि ने पंजाब की ओर प्रस्थान किया।

स्वामीजी जब पंजाब पहुँचे तब वहाँ शिक्षा-क्षेत्र में ईसाई मिशनरियों का काम प्रगति पर था और इस प्रकार वे पकी खेती दोनों हाथों से काटने में संलग्न थे। ब्रह्म-समाज और प्रार्थना-समाज के संगठन भी ईसाइयत की बाढ़ में बहने से पंजाबी युवकों को रोकने में असमर्थ रहे। ऋषि ने पंजाब पहुँचते ही ईसाइयत के रोकने में 'पोपडम' से टक्कर ली और उसे बौद्धिक पराजय दी। पंजाबी युवकों को ईसाइयत की बाढ़ में बहने से बचाया। ईसाई आर्यसमाज की इस सफलता को न सह सके। वे चिढ़ गये और अपनी राजनैतिक शक्ति का सहारा लेने लगे। ऋषि निर्भीक हो आगे ही बढ़ते गये और उन्होंने पंजाब में आर्यसमाज की शक्ति को सर्वाधिक सुदृढ़ बना दिया। ऋषि की इस सफलता के लिये यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा—"वह आये, उन्होंने देखा और जीत लिया।"

ईसाईयों पर विजय पाने के साथ ऋषि ने पंजाब के सनातनी विचार-धारा के लोगों के हृदयों में भी सत्यज्ञान की पिपासा उत्पन्न कर दी। ऋषि-भक्तों की संख्या बढ़ने लगी और भक्तों के आग्रह पर लाहौर में ऋषि ने आर्यसमाज की स्थापना की।

लाहौर आर्यसमाज की स्थापना के समय आर्यसमाज के नियमों में संशोधन किया गया और १० नियम ही निर्धारित किये गये। इस प्रकार आर्यसमाज के १० नियमों का निर्धारण, आर्यसमाज की स्थापना और विकास का एक विशेष पड़ाव है। इन नियमों के आधार पर ऋषि गौरवशाली आर्य जाति के भविष्यद्रष्टा एवं मानवता के संरक्षकरूप में हमारे सामने आते हैं।

पंजाब में आर्यसमाज की स्थापना से आर्यसमाज देश का व्यापक संगठन बन गया। बम्बई, उत्तर-प्रदेश, पंजाब सर्वत्र आर्यसिद्धान्तों का सिंहनाद गूँजने लगा और अज्ञानान्धकार समाप्त हो भारतीय गगन में सत्य के सुनहले रवि की किरणें मूर्च्छित जाति के हृदयों में आशा का संचार करने लगीं।

ऋषि अपने मिशन की सफलता के लिये भारतीय राजवंशों का सुधार आवश्यक

समझते थे और उनमें राष्ट्रिय चेतना जाग्रत् करके भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन को व्यापक रूप देना चाहते थे। भारत के तीन बड़े प्रान्तों में आर्यसमाज की स्थापना के बाद ऋषि राजस्थान की ओर निकल पड़े।

अजमेर, चित्तौड़, शाहपुरा, जोधपुर आदि स्थानों में प्रचार-कार्य आरम्भ किया। यद्यपि वे बम्बई आदि बाहर भी जाते रहे पर अब उनका मुख्य कार्य-क्षेत्र राजस्थान बन गया। ऋषि ने वेद-भाष्य का जो पवित्र कार्य आरम्भ किया था उसका अधिकांश अजमेर में संपन्न हुआ। अपने इस महान् कार्य की सफलता के लिये उन्होंने परोपकारिणी सभा की भी अजमेर में ही स्थापना की।

जोधपुर में प्रचार करते समय ऋषि के साथ विष-दान की दुर्घटना हुई और ऋषि के कार्य में विघ्न उपस्थित हो गया। वैदिक संस्कृति के प्रचारक, मानवता के समुद्धारक ऋषि के साथ उसके ही जातीय बन्धुओं का यह विश्वास-घात, आर्यजाति के गौरवपूर्ण इतिहास की धवल कीर्ति में कलंक-कालिमा है।

इस प्रकार ऋषि ने ३० अक्टूबर १८८३ को "प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो" की आस्तिक दृढ़ता के साथ नास्तिक विद्यार्थी गुरुदत्त को आस्तिक बनाते हुए इहलीला समाप्त की!

ऋषि-जीवन का वियोग आर्यबन्धुओं के लिये एक महान् दुःखद घटना थी; परन्तु उसने देश में फैले हुए सभी आर्यसमाजियों को परस्पर सन्निकट ला दिया। समस्त आर्यबन्धु बड़ी बेचैनी और उत्साह के साथ ऋषि दयानन्द के अपूर्ण कार्य को पूर्ण करने के लिये व्यग्र हो उठे।

ऋषि-भक्तों ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से आर्यसमाज के छोटे पौधे को सींचकर ऋषि-ऋण से उऋण होने की प्रतिज्ञा की। देश में एक कोने से दूसरे तक जोश की ज्वाला व्याप्त हो उठी। सम्पूर्ण देश में नवीन आर्यसमाजों की स्थापना, बालक-बालिकाओं के विद्यालयों का आरम्भ, अनाथों-विधवाओं का संरक्षण, विधर्मी बने भाइयों की शुद्धि, हरिजनोद्धार, नारी अधिकारों की रक्षा, जन्मना जातिवाद का खण्डन, गो-रक्षा-आन्दोलन, वैदिक धर्म-प्रचार आदि सभी कार्यों को प्रगति मिली, राष्ट्र ने आर्यसमाज की महत्ता और उपादेयता को स्वीकार किया। जनता आर्यसमाज का सदस्य बनने और आर्य कहलाने में गौरव अनुभव करने लगी।

आर्यसमाज के सैद्धान्तिक प्रचार ने व्यावहारिक रूप ग्रहण करते ही शिक्षा के क्षेत्र में महान् क्रान्ति आरम्भ की। विदेशी मिशनरियों के शिक्षा-कार्य का मुक़ाबला करने के लिये एक ओर पं० गुरुदत्त विद्यार्थी व महात्मा हंसराजजी ने डी० ए० वी० कालेज, लाहौर और शाखाओं की स्थापना की तो दूसरी ओर सैद्धान्तिक सुदृढ़ता के लिये महात्मा मुन्शीरामजी (पीछे श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी) ने गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का प्रचलन आरम्भ किया और गुरुकुल संस्थाओं का जाल बिछा दिया।

आर्यसमाज की ओर से इस शिक्षा व सुधार-आन्दोलन के फलस्वरूप १५ डी० ए० वी० कालेज, १०० डी० ए० वी० हाईस्कूल, १५० मिडिल स्कूल, २०० प्राइमरी स्कूल, १५० रात्रि-पाठशालायें, ५५ गुरुकुल, ४ कन्या-गुरुकुल, ४ कन्या-कालेज, ३०० संस्कृत विद्यालय, २५ अनाथालय, ५० विधवा-आश्रम, २७५ कन्या-पाठशालायें, ५० पुस्तकालय, ५० औषधालय आदि की स्थापना हुई, और ये संस्थायें आज भी राष्ट्र एवं समाज-निर्माण-कार्य में अपना महत्त्वपूर्ण योग दे रही हैं। इन संस्थाओं का व्यय आर्यसमाज अपने बजट में से करता है। गुरुकुलों में तो शिक्षा निःशुल्क रखने के उच्च आदर्श का आज मँहगाई के युग में भी पालन किया जाता है। उपर्युक्त संख्यायें आर्यसमाज के राष्ट्र-व्यापी प्रभाव और कार्य का परिज्ञान कराने के लिए पर्याप्त हैं।

आर्यसमाज के कार्य की प्रगति के कारण, विरोधियों के हृदय द्वेष-भाव से पूर्ण हो उठे और आर्यसमाज के कार्य में बाधायें भी उपस्थित की गयीं उन सबका आर्यसमाज ने दृढ़ता पूर्वक सामना किया।

आर्यसमाज की प्रगति से परेशान होकर ईसाई मिश्नरियों ने आर्यसमाज को राजनैतिक संस्था घोषित करा उस पर प्रतिबन्ध लगवाने का प्रयत्न किया। यह सत्य है कि आर्यसमाज ने भारत में राष्ट्रिय भावना उत्पन्न करने में सर्वाधिक कार्य किया है, इसीलिए महात्मा गांधी ने कहा था कि "ऋषि दयानन्द और उनके आर्यसमाज ने मेरे लिये कार्य-क्षेत्र तय्यार कर दिया था।" लाला लाजपतराय और स्वामी श्रद्धानन्द जैसे राजनीतिज्ञों को भी आर्यसमाज ने जन्म दिया। इतना होने पर भी आर्यसमाज केवल राजनैतिक संस्था सिद्ध नहीं की जा सकी। उसके सिद्धान्तों की व्यापकता एवं उसकी नैतिक कार्य-प्रणाली ने उसके विरोधियों को सदैव ही हताश किया।

आर्यसमाज के संगठन को व्यापक रूप देने के लिये ऋषि दयानन्द के पश्चात् उनके भक्तों ने ऋषि-निर्दिष्ट प्रजातन्त्र-प्रणाली के अनुसार आर्यसमाज के प्रान्तीय एवं सार्वदेशिक संगठनों की स्थापना की। १६०८ में आगरा में आर्यसमाज के केन्द्रीय संगठन सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा का जन्म हुआ। वर्त्तमान में इस सभा का कार्यालय श्रद्धानन्द बलिदान-भवन देहली में है। इस सभा के निर्माण में स्वर्गीय महात्मा नारायण स्वामीजी का मुख्य योग रहा। वे जब तक जीवित रहे सभा और समाज के आधार-स्तम्भ रहे।

सार्वदेशिक सभा आर्यसमाज की शिरोमणि सभा है। अपनी शिरोमणि सभा के आदेश पर विश्व के सम्पूर्ण आर्यसमाज अपना कार्य-संचालन करते हैं। श्रीमद्दयानन्द जन्म-शताब्दी, मथुरा (१६२४), श्री मद्दयानन्द-निर्वाण अर्ध शताब्दी, अजमेर (१६३३) हैदराबाद धर्म-युद्ध-सत्याग्रह (१६३६), सिन्ध सत्यार्थप्रकाश-सत्याग्रह १६४६ तथा आठ आर्य महा सम्मेलन.......................................इस सभा की प्रगति के प्रमाण हैं।

सम्प्रति इस सभा ने आर्यसमाज की ओर से गो-रक्षा आन्दोलन, ईसाई प्रचार

निरोध-आन्दोलन, नैतिकता-आन्दोलन अपने कार्यक्रम के अंग बनाये हुए हैं। प्रभु उसे इन कार्यों में सफलता प्रदान करे।

आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य "संसार का उपकार करना है।" उसने भारत को इस उद्देश्य-पूर्ति का क्षेत्र और वेदों को पूर्ति का साधन स्वीकार किया है। भारत के आदर्श विकास के साथ विश्व का सांस्कृतिक विकास सम्बद्ध है।

आर्यसमाज का उद्देश्य जितना अधिक व्यापक है उतना ही अधिक महान् है। आज विश्व अपने इतिहास के सबसे अधिक संकटकाल में गुजर रहा है। विश्व की संत्रस्त मानवता शान्ति की प्यास बुझाने के लिये अमृत की खोज कर रही है। आर्यसमाज के पास मानवता की प्यास बुझाने के लिये वेद का अमृत जल है। इस वेदामृत का पान विश्व-मानवता को कराना हम सब आर्यों का परम धर्म है। यदि हम इस दिशा में किंचिन्मात्र भी योग दे सकें तो हम ऋषि-ऋण को पूर्ण कर सकेंगे और आर्यसमाज के अमर इतिहास के अंग गौरवशाली बन जायेंगे।

आज हम इतिहास की एक मंज़िल पार कर चुके हैं, थोड़ा थक अवश्य गये हैं; पर निराशा की कोई बात नहीं। वेद का हमें आदेश है "कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः"। आर्य वीरो, उठो, चरैवेति चरैवेति के पद-चापों से मानवता के समुद्धार का इतिहास अंकित कर दो।

भारत में 'लोकतन्त्र राज्य'

[डा० सूर्यकान्त, एम०ए०, डी० लिट्०, डी० फिल्० (आक्सन), एम० एल० सी०,
अध्यक्ष, संस्कृत और पाली विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी]

भारत में साधारण जनता और राजनीति में दिलचस्पी लेने वाले वर्ग की यह भावना होगी कि हमारे देश में लोकतन्त्र राज्य विषयक विचार योरोपियन लोगों से आए और प्राचीन समय में हमारे देश में इस प्रकार की कोई परम्परा नहीं थी। किन्तु श्री के० पी० जायसवाल आदि विद्वानों की गवेषणाओं ने यह प्रमाणित कर दिया है कि भारतवर्ष में यह प्रथा पुरानी ही नहीं, अपितु, योरप में यूनान के लोकतन्त्र राज्यों से भी बहुत पुरानी है। और इस अनुक्रम से उद्भावित बहुत-से समृद्ध और शक्तिशाली राष्ट्र हमारे यहाँ फूल-फल चुके हैं। इन राज्यों में से उत्तर मद्रों के विषय में बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्द पन्ह में आश्चर्यजनक वर्णन मिलता है।

सब से पहले हमें ऐतरेय ब्राह्मण में लोकतन्त्र राज्यों की सत्ता का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण का समय ईसा से कोई एक हज़ार वर्ष पूर्व माना जाता है। उस काल के गणतन्त्र राज्यों की समुन्नत दशा से यह अनुमान किया जा सकता है कि यह

शासन-विधि देश में इस काल से काफ़ी पूर्व प्रवर्त्तित हो चुकी थी। इसी समय का दूसरा ग्रन्थ जिससे इस विषय की कुछ सूचना मिलती है, तैत्तिरीय ब्राह्मण है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद संहिताओं में, जिनकी रचना ब्राह्मणों से बहुत पूर्व हुई होगी, यद्यपि राजाओं के चुनाव का वर्णन मिलता है, तथापि लोकतन्त्र राज्य-विषयक प्रकरण नहीं मिलते। इससे यह विदित होता है कि भारतीय राज्य-प्रणाली भी अन्य देशों की भाँति निर्वाचित प्रभुत्व-सम्पन्न राजा द्वारा आरम्भ हुई और इसके उपरान्त गणतन्त्रात्मक राज्य सत्ता का उद्‌गम और विकास हुआ।

ऐतरेय ब्राह्मण में अन्य प्रकार के गणतन्त्रात्मक राज्यों के अतिरिक्त एक प्रकार के वैराज्य का वर्णन है। वैराज्य का अर्थ राजारहित संविधान होता है। ब्राह्मण में लिखा है—

जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति वैराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते (८. १४.)

इसका अर्थ है कि उत्तरकुरुओं और उत्तरमद्रों के वैराज्य राज्य में सब जनता का राज्याभिषेक होता है; अर्थात् राज्य प्रभुत्व समस्त जनता को समान रूप से प्रदान किया जाता है। लोकतन्त्र राज्य का इस प्रकार का उदाहरण प्राचीन यूनान के एथंज़ नगर राज्य के संविधान में ही मिल सकेगा।

वैदिक साहित्य के अतिरिक्त लोकतन्त्र राज्यों के विषय में संकेत और वर्णन अन्य संस्कृत, पाली तथा प्राकृत साहित्य में भी मिलते हैं। साहित्य के साथ-साथ भारत के प्राचीन शिला-लेखों और मुद्राओं से भी इस विषय में पर्याप्त सूचना मिलती है। इनके अतिरिक्त सिकन्दर के समय के ग्रीक लेखकों की कृतियों में भी भारतीय जन-तन्त्र अथवा गणतन्त्र राज्यों के विषय में विवरण मिलते हैं।

पाणिनि का समय ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व के लगभग माना जाता है। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में संघों का वर्णन किया है। पाणिनि ने संघ का अर्थ गण किया है। ये संघ राजनीतिक थे, और गण अथवा 'रिपब्लिक' के परिचायक थे। बौद्ध वा जैन-धर्म संघों का पाणिनि ने ज़िक्र नहीं किया। संघ शब्द का ३२५ से ३०० बी० सी० तक के क़रीब कौटल्य ने भी गणराज्य के अर्थ में प्रयोग किया है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में कोई १६ गण-राष्ट्रों का विवरण दिया है। इससे विदित होता है कि यह शैली उस समय के भारत में कितनी अधिक प्रवर्तित थी।

ईसा से पूर्व पाँचवीं शताब्दी के बौद्ध-साहित्य में गणराज्यों का वर्णन है। महात्मा बुद्ध ने जिस धर्म-संघ की स्थापना की, उसका संविधान अपने पैतृक शाक्य-वंश के गणतन्त्रात्मक संविधान के आधार पर निर्धारित किया था। अम्बट्ठ सुत्तन्त से पता चलता है कि शाक्य-राज गणतन्त्र गण-राज्य था। महात्मा बुद्ध के पिता शुद्धोदन इस शाक्य गणराज्य के राजा अथवा राष्ट्रपति थे। बौद्ध-साहित्य में उन राज्यों के भी विवरण हैं, जिनमें गौतम बुद्ध ने जन्म लिया और जिनमें वे रहे। दीघनिकाय ग्रन्थ के महापरिनिब्बान सुत्तन्त में बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द तथा अन्य भिक्षुओं से वज्जियों अथवा

वृजियों (लिच्छवियों तथा विदेहों) के शासन के सात तत्त्वों का वर्णन किया है और कहा है कि ये संघ (राजनैतिक तथा धार्मिक) को चिरस्थायी और उन्नत बनाने वाले सिद्धान्त हैं। जातक कथा में लिच्छवी राज्य को गणतन्त्रात्मक कहा गया है; तथा अट्ठकथा में उनके संविधान के विषय में वर्णन है। जातक में लिखा है कि उनकी राजधानी वैशाली में ७७०७ परिवार हैं, जिनका अभिषेक होता है और जो राजा अथवा राष्ट्रपति, उपराजा अथवा उपराष्ट्रपति, सेनापति और भांडागारिक बनते हैं। जैन कल्पसूत्र में भी इस प्रकार के गणराज्य का निर्देश है। बौद्ध-संघ के आधार पर ही विश्व में बाद में अन्य धर्मों की स्थापना हुई।

भारत के गणराज्यों में शासनात्मक कार्यवाही की प्रक्रिया के विषय में जितना विशद ज्ञान हम बौद्ध-ग्रन्थों से प्राप्त कर सकते हैं, उतना और किसी भी स्रोत से नहीं। यह प्रतीति यद्यपि स्पष्टतः राज्यों के विषय में तो नहीं है, अपितु बौद्ध-धर्मसंघ के विषय में है, तथापि चूँकि धर्मसंघ का स्थापन और परिचालन राजनीतिक संघ के आधार पर हुआ था, इसलिए हम धर्मसंघ की पर्यालोचन-प्रक्रिया से गणराज्यों की प्रक्रिया के विषय में यथार्थ ज्ञान लाभ कर सकते हैं।

शाक्यों ने अपना राज्य राजा के अधीन कर देने का विनिश्चय अपनी गणसभा में बहुमत द्वारा किया था। इस बात का उल्लेख रोकहिल ने अपनी पुस्तक 'लाईफ़ ऑफ़ बुद्ध' (Life of Buddha) में किया है। चुल्लवग्ग में वेसालि अथवा वैशालि की सभा का वर्णन है और वहाँ पर भिक्षुओं के आसनपञ्ञपक अथवा आसन विनियत करने वाले की नियुक्ति का जिक्र है। दूसरे स्थल में (४. ११. २ में) संघ की सभा में ज्ञप्ति अथवा प्रस्ताव या 'मोशन' (motion) का वर्णन है और उसके उपरान्त प्रतिज्ञा अथवा संकल्प या 'रेज़ोल्यूशन' (Resolution) का वर्णन है। जो प्रस्ताव से सहमत होते थे वे चुप रहते थे और जो विरुद्ध होते थे उनको बोलने के लिए कहा जाता था। इस प्रकार बहुमत से कोई प्रस्ताव स्वीकृत अथवा अस्वीकृत होता था। इस प्रकार चुल्लवग्ग ११. १. ४ में महात्मा बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त बुलाई गई राजगृह की सभा में संकल्प-स्वीकृति का वर्णन है, तथा चुल्लवग्ग (४. ११. २.) में तीनवार प्रतिज्ञा के कहने के द्वारा उवाड, भिक्खु अथवा भिक्षु के दण्ड के विनिश्चय का वर्णन है। संघ में भत्ति और प्रतिज्ञा के कथन के नियम निश्चित थे और नियम के अतिक्रमण से कार्यवाही अवैध निश्चित की जाती थी।

'कोरम' (Quorum) अथवा गणपूर्ति का नियम था। भिक्षुओं की स्थानीय सभाओं में २० का 'कोरम' होता था। महावग्ग (३. ६. ६) में गणपूरक अथवा 'ह्विप' (Whip) का उल्लेख भी मिलता है। महावग्ग में वोट के लिए छन्द शब्द का प्रयोग किया गया है। छन्द का अर्थ इच्छा होता है, अर्थात् मतदाताओं को अपना मत बिल्कुल स्वतन्त्र रूप से अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार देने का अधिकार था। जातक माला में भी एक जगह राजा के चुनाव के विषय में एकच्छन्दा हुत्वा का प्रयोग किया गया है। अर्थात् निर्वाचन सब के इकट्ठे एकमत से किया गया। भिन्न मत होने पर यदि किसी प्रस्ताव के

लिए 'वोट' अधिकारी किसी कारण वश सभा में उपस्थित न हो सकते हों तो उनके वोट भी सावधानी से प्राप्त किये जाते थे। चुल्लवग्ग (४. १४. २४) में वोट लेने की विधि का विस्तृत वर्णन है।

वोट रंगीन शलाकाओं अथवा लकड़ी के पिनों द्वारा लिए जाते थे। शलाकाग्राहक, जिसको संघ उसकी निष्पक्षता, निर्भयता आदि गुणों के कारण नियुक्त करता था, भिन्न मतों के लिए भिन्न रंगों की शलाकाएँ मतदाताओं को बाँट देता था और फिर शलाका-ग्रहण द्वारा विनिश्चय किया जाता था। इस प्रक्रिया को पाली में 'भूय्यसिकम' कहते हैं, अर्थात् वह प्रक्रिया जिसमें बहुतर मत से निर्णय हो। 'वोट' लेने के तीन तरीक़े थे 'मूलहकम्' अर्थात् गुप्त रूप से, 'सकणण जप्पकम्' अर्थात् कानाबाती द्वारा तथा 'विवटकम्' अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से। कभी-कभी किसी विषय में निरर्थक भाषणों से बचने के लिए निर्णय का अधिकार एक समिति को सौंप दिया जाता था। यदि वह फ़ैसला न कर सके तो निर्णय फिर संघ द्वारा बहुमत से होता था। विधि सम्बन्धी विषय का निर्णय 'ज्यूरि' द्वारा भी होता था जिसको कि संघ अपने संकल्प से नियुक्त करके अधिकार देता था। इस प्रक्रिया को सम्मुख विनय कहते थे। नियमानुसार निर्णय होने के बाद उस प्रश्न का पुनर्विलोकन नहीं हो सकता था। महागोविन्द सुत्तन्त में संघ की कार्यवाही के अभिलेख रखने वालों का भी निर्देश मिलता है और इनको महाराज शब्द से संबोधित किया गया है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि गौतम बुद्ध के समय में और उससे पहले भारत में संघों अथवा गणराज्यों की प्रभुत्व-सम्पन्न सभाओं की कार्यवाही की प्रक्रिया कितनी विकसित और समुन्नत थी तथा महात्मा बुद्ध ने अपना 'धर्मचक्र-राज्य' फैलाने के लिए किन संविधान तत्त्वों पर धर्म-संघ को स्थापित किया था।

मिलिन्द पन्ह (ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी) में गणतन्त्र राज्यों की समृद्धि और सुखमय जीवन के विषय में विस्मयकारक विवरण है। वहाँ पर उत्तरमद्रों की राजधानी सागल नगर उत्तर पश्चिमी पंजाब के विषय में लिखा है कि नगर-निवासी सब तरह के अन्याय से अनभिज्ञ हैं। नगर में वणिकों के निगम हैं तथा दुकानों में बहुमूल्य माल भरा हुआ है। बनारस की मलमल, तरह-तरह की सुगन्धियाँ, अनगिनत जवाहरात, श्रृङ्गार का सामान, सोने, चाँदी, ताँबे और पत्थर के बरतन तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के खान-पान आदि बिकते हैं। संक्षेप में नगर पूर्ण रूप से धनधान्य-सम्पन्न है। लाखों ऊँचे-ऊँचे शानदार मकान हैं, मानो नगर देवताओं के शहर अलकनन्दा के समान है, तथा कहा गया है कि धन में यह नगर उत्तर कुरु के समान है।

कौटल्य कृत अर्थशास्त्र में ७ ऐसे संघों अर्थात् गणराज्यों का जिक्र है जहाँ मुख्य शासक राजा कहलाता था। कौटल्य ने उनको 'राजशब्दिन्' संघ कहा है। इनमें लिच्छविक, वृजिक और मद्रक शामिल हैं। इनके अतिरिक्त चार ऐसे, गणराज्यों का

प्रसंग है, जिनमें कि कोई शासक राजा शब्द से सम्बोधित नहीं किया जाता था। इनमें सब नागरिक सैनिक होते थे।

ईसा से ३२५ वर्ष पूर्व भारत पर सिकन्दर के हमले के ग्रीक इतिहास-लेखकों ने पंजाब और सिंध में उस समय के बहुत-से गणराज्यों का वर्णन किया है। अपनी कृतियों में इन राज्यों के लिए उन्होंने 'फ्री' (free) 'ओटोनोमस' (autonomous) 'इन्डिपैन्डेन्ट' (independent) तथा 'डेमोक्रटिक' (democratic) शब्दों का प्रयोग किया है, जिससे विदित होता है कि ये राज्य गणराज्य थे। मेगस्थनीज ने कहा है कि जहाँ लोगों का अपना राज्य है, वहाँ वे सब बातें मजिस्ट्रेटों से प्रतिवेदन करते हैं और जहाँ राजा का शासन है वहाँ राजा से। एरिअन और स्ट्रेबो ने कठों के (kathaians) के राष्ट्र का वर्णन किया है। ये रावी नदी के पूर्व की ओर आजकल के लाहौर और अमृतसर जिलों में रहते थे। स्ट्रेबों ने इनके विषय में लिखा है कि इनमें सबसे सुन्दर मनुष्य को राजा चुना जाता था। संस्कृत साहित्य (काठक संहिता अथवा कृष्ण यजुर्वेद तथा काठक धर्म-सूत्र) में इनके लिए कठाः शब्द का प्रयोग किया गया है। एक दूसरे राज्य का सम्बस्ते (Sambastai) तथा अबस्तनोइ (Abastanoi) शब्दों से संबोधन करके ग्रीक लेखक डायोडोरस तथा कर्टिअस ने उल्लेख किया है। कर्टिअस ने अपनी पुस्तक के नवें भाग के अष्टम अध्याय में इनकी राज्यविधि को 'डेमोक्रटिक' कहा है। संभवतः इनके संविधानका अंग एक बड़ी की परिषद् भी थी। इस राज्य का जिक्र महाभारत और पतंजलि ने अम्बष्ठाः नाम से किया है। यूनानी लेखकों के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय के पंजाब और सिंध के उन सब भागों में, जिनमें कि सिकन्दर गया था पोरस और अभिसारों आदि के दो-तीन राज्यों को छोड़कर शेष सब लोग गणतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली से शासित थे।

महाभारत के शान्तिपर्व के अध्याय १०७ में गणतन्त्र राज्यों की विशेषताओं का वर्णन है। कौटल्य ने अर्थशास्त्र में राजा के लिए संघों को प्रायः विजय करने की नीति का उपदेश दिया है। अशोक (२७३-२३२ बी० सी०) के शिलालेखों में बहुत-से गणराज्यों का प्रसंग है। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्योत्कर्ष के समय गणराज्य आन्तरिक शासन में स्वाधीन रूप से मौर्य साम्राज्य के महत्त्वशाली अंग थे। लेकिन भारत में एक साम्राज्य के आविर्भाव से इस काल में गणराज्य-परंपरा की अवनति प्रारम्भ होती है। इस समय के पंजाब और पश्चिमी भारत के गणराज्य इस पतन के ज्वलंत उदाहरण हैं। इसी काल में सिंध के गणतन्त्र-राज्य भी हीन दशा को प्राप्त हुए। मौर्य काल के उपरान्त शुंगों के समय में और उसके पश्चात् (१५० वर्ष ईसा के पूर्व से ३५० वर्ष ईसा के बाद तक) भारत में गणराज्यानुक्रम जारी रहा और राजपूताने में नए गणराज्यों का आविर्भाव हुआ। इस सारे काल में यौधेय गणराज्य इस परंपरा का एक उत्तम उदाहरण है।

इनका राज्य भारत में मौर्यकाल से पहले से वर्त्तमान था। पाणिनि ने यौधेयों को जनपद कहा है, जिसका अर्थ राष्ट्र-देश अथवा राजनीतिक गिरोह होता है।

शिलालेखों और मुद्राओं से इनके विषय में पर्याप्त ज्ञान मिलता है। रुद्रदामन के शिलालेख (ईसा के बाद दूसरी शताब्दी) और समुद्रगुप्त (चौथी शताब्दी) के शिलालेख में इनका प्रसंग है। इनके सिक्के शुंग समय से ईसा के बाद चौथी शताब्दी तक के काल के मिलते हैं। ईसा के पश्चात् छठी शताब्दी के उपरान्त इतिहास में ये लुप्त हो जाते हैं। गुप्त राज्यों के काल में गणराज्य-सत्ता गुप्त नरेशों के अधीन ही क़ायम रही और पाँचवीं शताब्दी के अवसान तक बिल्कुल लुप्त हो गई।

इस प्रकार से पाठक देख सकते हैं कि गणराज्यों का सिलसिला भारत में कम से कम १५०० वर्ष तक क़ायम रहा। जगत् के इतिहास में गणराज्य-सत्ता इतनी चिरस्थायी किसी भी देश में नहीं हुई। भारत के प्राचीन इतिहास का अनुसंधान अपूर्ण होने के कारण यह विवरण जितना कि पाठक चाहते होंगे, उतना पूर्ण तो नहीं हो सका। लेकिन इससे पाठक प्राचीन भारत की एक आलोकमय झलक देख कर यह हृदयंगम कर सकते हैं, कि इस देश में राज्यतन्त्र की यह शैली कितनी प्रौढ़ता को पहुँच चुकी थी तथा इन राज्यों में जनता सुख, समृद्धि और बल की किस निष्ठा तक पहुँची हुई थी। यह बात कि प्राचीन गणतन्त्र राज्य यहाँ कितने-कितने काल तक समुन्नत दशा में रहे इससे स्पष्ट हो जाती है कि सात्वत भोजों का राज्य यहाँ ऐतरेय ब्राह्मण-काल से ईसा की पहली शताब्दी तक अर्थात् कोई १००० वर्ष रहा। उत्तर मद्रों का राज्य जिनके वैभव के विषय में हम ऊपर लिख आये हैं, ऐतरेय ब्राह्मण के समय से गुप्तों के काल तक अर्थात् कोई १३०० साल तक रहा। ये लोग सुख-समृद्धि के साथ-साथ स्वाधीनता को इतना प्रिय समझते थे कि ईसा से पहले दूसरी शताब्दी में यूनानी राजा मीनान्डर अथवा मिलिन्द के इनकी राजधानी को अपने अधीन कर लेने पर ये लोग उत्तर-पश्चिम भारत से दक्षिण में जाकर अपना राज्य स्थापित करके स्वतन्त्र रूप से रहने लगे। मालवों का गणराज्य पाणिनि के समय से ईसा के कोई ३०० वर्ष पश्चात् तक अर्थात् १००० वर्ष के लगभग क़ायम रहा। संभवतः इन्हीं लोगों ने ईसा से ५८ वर्ष पूर्व विक्रम-संवत् जारी किया। यौधेयों का राज्य पाणिनि के समय से १००० वर्ष तक रहा। लिच्छवियों का पाणिनि ने वृजियों के नाम से उल्लेख किया है तथा बौद्ध-साहित्य में भी इनका काफ़ी वर्णन है।

इन्होंने गुप्त साम्राज्य के स्थापन में सहायता दी और इनका शासन कोई १००० वर्ष तक रहा। इस प्रकार से संसार के अन्य लोकतन्त्रात्मक शासनों से तुलना करने पर भारत में लोकतन्त्र राज्य बहुत अधिक काल तक रहा प्रतीत होता है। यहाँ तक कि भारतीय गणराज्यों से तुलना करने पर स्पार्टा, रोम और इङ्गलैण्ड के विख्यात लोकतन्त्र राज्य भी अल्पकालीन ही प्रतीत होते हैं। यदि नवीन गवेषणाओं से प्राचीन भारत के शासन का यह अपूर्ण चित्र पूर्णता को पहुँच गया तो न केवल भारत के अपितु अन्य देशों के भी भावी शासक लोकतन्त्र-राज्य विषय की दिन-प्रति-दिन की अनेक उलझनों को सुलझाने के लिए पर्याप्त शिक्षा ले सकेंगे। प्राचीन भारतीय शासन-शैली एक प्रगतिशील शैली थी, यह पाठक उपर्युक्त विवेचन से सुनिश्चित कर सकते हैं। प्राचीन यूनानियों का जीवन व्यतीत करने का ढंग यद्यपि ऐहिक जीवन की दृष्टि से सर्वाङ्गपूर्ण था तथापि

उसमें धर्म के लिए पर्याप्त स्थान नहीं था। पुरातन भारतीय संस्कृति और सभ्यता के परिशीलन से अन्तरात्मा की वह लिप्सा परिपूरित होती है जो कि आत्मा को सर्वाङ्ग परिपूर्ण सामंजस्यमय जीवन के लिए लालायित रखती है। जहाँ पश्चिम ने संसार को वैज्ञानिक टेक्निकल उन्नति के वर्त्तमान शिखर तक पहुँचाया है, वहाँ भारतीय संस्कृति उसके मन को परिष्कार की उस चोटी तक पहुँचाने की क्षमता रखती है जिस पर आरूढ़ होकर पुरुष वैज्ञानिक और टेक्निकल समुन्नति का यथार्थ रूप से संसार के हित में उपयोग कर सकेगा। अतः प्राचीन भारत के इतिहास की यथेष्ट गवेषणा का प्रयत्न होना चाहिये; जिससे कि भावी जनता उसके परिशीलन से समुचित लाभ उठा सके।

श्री के० पी० जायसवाल ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू पौलिटी' में प्राचीन भारत के ८२ गणतन्त्र राज्यों का वर्णन किया है। इन गणराज्यों में प्रभुत्व पर कोई पैतृक अधिकार नहीं था और संविधान रूप से वे लोकतन्त्रात्मक थे। पाणिनि ने दो प्रकार के संघों का कथन किया है। एक को अनौत्तराधर्य संघ अथवा कायवानिकाय कहा है। इसका अर्थ है कि ऐसा गणराज्य जिसमें ऊपर और नीचे के सदन का भेद न हो अर्थात् जिसमें एक ही सदन हो, तथा दूसरे ऐसे संघ जिनमें यह विवेक हो अर्थात् जो द्विसदनी हों। बौद्ध-संघ भी प्रथम श्रेणी के होते थे। धर्म-शास्त्रों में गणराज्यों के क़ानूनों को समय कहा है। 'समय' सम् उपसर्ग के साथ 'इ' धातु से बनता है जिसका अर्थ इकट्ठे होना होता है।

इसलिए समय का अर्थ सभा के द्वारा किया हुआ विनिश्चय या संकल्प द्योतित होता है। अतः क़ानून गणसभा द्वारा बनाये जाते थे। एक प्रकार के 'अरिस्टोक्रेटिक' शासन के लिए संस्कृत साहित्य में 'कुल' शब्द का प्रयोग हुआ है। असहाय टीकाकारने नारद स्मृति पर टीका करते हुए 'कुल' का अर्थ कतिचित्पुरुषगृहीत अर्थात् पुरुषों द्वारा नियमित अर्थात् जिनका प्रबन्ध कुछ पुरुषों द्वारा होता हो, किया है। आजकल संस्कृत साहित्य के कुछ अच्छे ग्रन्थ दंडनीति पर उपलब्ध हैं। इनमें सर्वोत्तम कौटलीय अर्थशास्त्र है, जिसकी कि पश्चिम के किसी भी राजनीति ग्रन्थ से तुलना की जा सकती है। दूसरा मूल्यवान ग्रन्थ शुक्रनीतिसार (आठवीं शताब्दी) है। इनके अतिरिक्त इसी विषय के कामन्दकीय नीतिसार (ईसा से ४०० वर्ष पश्चात्) सोमदेवकृत नीति वाक्यामृत (दशम शताब्दी) तथा बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। लेकिन इन सब ग्रन्थों में नृपमूलक राज्यसत्ता का ही वर्णन है। कौटल्य संघ राज्य को तिरस्कार की दृष्टि से देखता था। महाभारत में लिखा है कि यदि युद्ध में कोई गणराष्ट्र हार जाता था तो उसकी शासन-प्रणाली का अन्त हो जाता था। कौटल्य और महाभारत ने उस समय के गण-राज्यों में आन्तरिक भेद को उनका एक मुख्य दोष माना है। राजनीतिशास्त्र का कोई ग्रन्थ आजतक ऐसा उपलब्ध नहीं हुआ जिसका मुख्य विषय गणराज्य शासन का वर्णन हो। जिस दिन ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध हो जायगा, उस दिन हमें भारत की इस शासन-विधि का यथार्थ और पूरा परिचय मिल जायगा और भारत के गणतन्त्र राज्यों के संविधानात्मक इतिहास पर प्रचुर प्रकाश पड़ सकेगा।

आर्यसमाज का दर्शन

[श्री पं० मदनमोहन विद्यासागर, आचार्य, दयानन्द उप० विद्यालय, गुरुकुल घटकेश्वर, सी. आर.]

भारतवर्ष आर्यों का आदि देश है। आर्य का अर्थ है—'श्रेष्ठ-स्वभाव, धर्मात्मा, परोपकारी, सत्य-विद्यादि-युक्त, गुणयुक्त अर्थात् धर्म न्याययुक्त नियमों में चलने वाले शान्तिप्रिय और समाज का अभ्युदय चाहने वाले उत्तम नागरिक।' मानव सृष्टि होने के बाद जिन्होंने समाज का संगठन किया, उन्हें भी 'आर्य' कहते हैं। ये मानव जाति के पूर्वज (मूल पुरुष) सबसे पहले त्रिविष्टप (तिब्बत, हिमालय) पर प्रकट हुए। इस 'आर्य जाति' से पहले संसार में और कोई 'मानव समुदाय' नहीं था। पीछे से जनसंख्या बढ़ जाने पर वे ही सर्वत्र भूमण्डल पर फैल गये और इनके ही भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नाम हो गये।

यह बात निश्चित है कि ईश्वर के दिये उपदेश (आदि ज्ञान वेद) के ज्ञान के बिना किसी मनुष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। उस ज्ञान के आधार पर इन आर्यों ने परस्पर मिलकर कुछ क़ायदे-क़ानून, विधि-विधान, आचार-विचार और वेशभूषा के नियम नियत किए; जीवन का आदर्श निश्चित किया; जीवन का दर्शन विकसित किया। आर्यों के इस तत्त्व-विचार का नाम 'आर्य-सिद्धान्त-संग्रह' है।

भारतवर्ष में महाभारत से पूर्व तक आर्य-धर्म, आर्य-संस्कृति, आर्यसभ्यता और आर्य-दर्शनों का भारतीयों के जीवन में प्रभाव था; तब यहाँ सर्वत्र सुख था, धर्मराज्य था। यहाँ भी फिर धीरे-धीरे मतमतान्तरों का जन्म हो गया, देश में अज्ञान छा गया, कुरीतियाँ बढ़ गईं, धर्म नष्ट हो गया और यह देश परतन्त्र हो गया। इसलिए ऋषि दयानन्द ने वेदों के आधार पर मानव-धर्म और मानव-संस्कृति का प्रचार प्रारम्भ किया और संसार को बताया कि ये 'आर्य-सिद्धान्त' ही मनुष्य की सर्वविध उन्नति का मार्ग बनाने वाले हैं। विश्व इन सिद्धान्तों को भूल चुका था, उस पवित्र वेदधर्म का स्वरूप वेदों का पठन-पाठन न होने से अत्यन्त विकृत हो चुका था। ऋषि ने उसका शुद्ध रूप विश्व के सामने रखा और उन आर्य सिद्धान्तों के प्रचार के निमित्त उत्तम आर्य जनों का एक संगठन बनाया, जो आर्यसमाज नाम से प्रसिद्ध है।

शुद्ध प्रजातन्त्र-प्रणाली के आधार पर आर्यसमाज का संगठन हुआ है। क्योंकि यह मानव जीवन के हर पहलू पर पथ-प्रदर्शन करता है, इसलिए इसका सदस्य बनने से मनुष्य की हर प्रकार की कामनाओं की पूर्ति होती है। यह इस युग की विचार में आमूल-चूल परिवर्तन लाने वाली एक निराली प्रगतिशील क्रान्तिकारी संस्था है। इसकी स्थापना सन् १८७५ ई० में सर्वप्रथम बम्बई नगर में हुई। इसके संस्थापक महर्षि दयानन्द वर्त्तमान युग के सबसे प्रथम मानववाद के प्रचारक हुए हैं। उन्हीं से प्रतिपादित दर्शन का नाम 'आर्यसामाजिकदर्शन' है।

आर्यसमाज एक 'सार्वभौम आस्तिक धर्म-प्रचारक संघ है,' जो सृष्टि रचने वाली

सर्वोपरि एक दिव्य चेतना शक्ति तथा जनहित के लिए उसके दिये आदि ज्ञान (कल्याणी वाणी, वेद) को स्वीकार करता है। उस आदि ज्ञान को अपने कार्य-कलापों, कर्त्तव्यों, विधि-विधानों व दार्शनिक सिद्धान्तों का आधार मानता है। यह 'सत्य-सनातन वैदिक-धर्म' को मानव के अभ्युदय (अर्थ, काम) और निःश्रेयस (मोक्ष) का साधन मानता है।

इस दर्शन में इस चराचर जगत् में समस्त जीवधारी प्राणियों के आवागमन का प्रयोजन अपने शुभाशुभ कर्मों के सुखदुःखात्मक फलों को भोगकर मोक्ष प्राप्त करना है। मानव-जीवन का उद्देश्य एवं धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति करके आनन्द भोगना है। ब्रह्मचर्य-साधना, व्यभिचार-निवृत्ति, अग्निहोत्रादि यज्ञों से वृष्टि द्वारा उत्तम अन्न-प्राप्ति और उसके उपभोग द्वारा उत्तम आरोग्य-सम्पादन करने से तथा प्रयत्न पूर्वक तन, मन, धन और आत्मा द्वारा ईश्वर के सहाय से पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि होती है।

आर्य सिद्धान्तों के मूल दार्शनिक आधार

(१) *जड़-चेतन*—क्योंकि सृष्टि में जड़ चेतन रूपद्विविध तत्त्वों का मेल दृष्टिगोचर होता है; इसलिए आर्यसमाज विश्व के समस्त पदार्थों को जड़ और चेतन (चर-अचर, क्षर-अक्षर, विनाशी–अविनाशी) दो वर्गों में विभक्त करता है। जड़—अर्थात् प्रकृति, सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, पृथ्वी आदि, वृक्ष-वनस्पति आदि और प्राणियों के नाना शरीर आदि सब प्राकृतिक पदार्थ। चेतन—अर्थात शरीर, इन्द्रिय और मन से युक्त मनुष्य पशु-पक्ष्यादि प्राणी वर्ग और इनसे रहित ईश्वर। क्योंकि यह विश्व जड़-चेतन दोनों का मेल है, दोनों स्पष्टतया भिन्न दृष्टिगोचर होते हैं; इसलिए किसी एक तत्व के आधार पर 'विश्व की सब समस्याओं का वैज्ञानिक सुसंगत समाधान' नहीं हो सकता।

(२) *सुख-दुःख*—क्योंकि सृष्टि में सुख-दुःख दोनों दिखाई देते हैं; इसलिए आर्यसमाज जीवन को सुख-दुःख-मिश्रित मानता है। 'सर्वदुःखमनित्यं च' केवल ऐसा संसार में नहीं है। यदि सृष्टि के सुख-दुःख की तुलना की जावे, तो सुख कई गुणा अधिक उपलब्ध होता है।

इसलिए केवल सुख-दुःख या केवल दुःखवाद के आधार पर बना जीवन-दर्शन पूर्ण सुसंगत और वैज्ञानिक नहीं हो सकता। ऐसा दर्शन जीवन की अधूरी व्याख्या और व्यक्ति और समाज की समन्वित उन्नति का अधूरा उपाय बतायेगा।

(३) *पाप-पुण्य*—क्योंकि सृष्टि में पाप-पुण्य दोनों पाये जाते हैं, जगत् केवल पापमय या पुण्यमय नहीं; इसलिए आर्यसमाज जीवन को पाप-पुण्य-मिश्रित मानता है।

इसलिए जीवात्मा को जन्मतः पापवान् या पुण्यवान् मानकर बना जीवन-दर्शन पूर्ण सुसंगत और वैज्ञानिक नहीं हो सकता। ऐसा दर्शन जीवन की अधूरी व्याख्या और उन्नति का अधूरा उपाय बतायेगा।

आर्य सिद्धान्तों का जीवन सम्बन्धी दृष्टि-कोण

(१) *प्रवृत्ति-निवृत्ति*—क्योंकि 'इच्छा-ज्ञान-प्रयत्न' जीव के स्वाभाविक गुण हैं—उनकी सत्ता के लिंग हैं; इसलिए सृष्टि में आकर, जन्म पाकर प्रवृत्त होना आवश्यक है। कर्म में प्रवृत्ति सहज है। और क्योंकि 'धर्म' द्वारा 'अर्थ-काम' में प्रवृत्त होने के पश्चात् सांसारिक सुख-दुःख के भोग से 'मोक्ष' (मोचन मुक्ति छूटना-पृथक् हो सुख ही सुख में स्वतंत्रतापूर्वक विचरना) मानव-जीवन का चरम उद्देश्य है, इसलिए सृष्टि में आकर, जन्म पाकर, प्रवृत्त होकर भी इनसे 'निवृत्त' = विरक्त होना आवश्यक है।

इस प्रकार 'जीवन की पूर्णता' के लिए 'प्रवृत्ति-मार्ग' और 'निवृत्ति-मार्ग' दोनों का सामंजस्य जरूरी है। जन्म पाना 'प्रवृत्ति' का द्योतक है और (अभ्यास-वैराग्य द्वारा) 'निवृत्ति' प्राप्त करने का साधन है। ब्रह्मचर्य आश्रम 'प्रवृत्ति' की तैयारी और गृहस्थाश्रम 'प्रवृत्ति का प्रयोजक है, वानप्रस्थाश्रम 'निवृत्ति' की तैयारी और संन्यासाश्रम 'निवृत्ति' का साधनाक्षेत्र है। ब्रह्मचर्य 'धर्म' सम्पादन का अवसर देता है, गृहस्थाश्रम 'अर्थ काम' से निवृत्त हो 'मोक्ष' की ओर कदम और संन्यास 'मोक्ष' का 'साधना-मंदिर' है। इस प्रकार यह इन दोनों में समन्वय करता है।

(२) *त्याग-भोग*—प्रकृति में त्याग और भोग दोनों प्रकार के कर्म हैं। कुछ त्याग कर रहे हैं, कुछ भोग रहे हैं। मनुष्य को दोनों प्रकार के कर्म करने चाहिएँ। 'संसार-भोग' पाप नहीं; 'संसार-त्याग' पुण्य नहीं। दोनों का समय है। विवेक दोनों में मेल के बिन्दु का दिग्दर्शन कराता है। मानव-जीवन में दोनों प्रकार के कर्म आने चाहिएँ। इसी का नाम 'यज्ञमय' जीवन बिताना है। देवपूजा इन्द्रियों और दैवीशक्तियों का आनन्द के लिए सदुपयोग; संगतिकरण = अपने को भोग और त्याग में संगत करना; दान = भोग के लिए प्राप्त पदार्थों का त्याग। कितना सुन्दर वैज्ञानिक समन्वय है!

आर्य सिद्धान्तों में जीवन की पूर्णता का निर्देश—व्यक्ति समष्टि में समन्वय रूप से है। पर-हित (समाज की भलाई) में स्वहित (व्यक्ति वा श्रेय) देखना ही 'अभ्युदय और इन दोनों से ऊपर उठ अपने को सर्वोपरि शक्ति के सान्निध्य में रखना 'निःश्रेयस' है। व्यक्ति समाज के लिए अपने व्यक्तित्व को समाप्त कर दे और समाज प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए अवकाश दे, साधन-सामग्री प्रस्तुत करे, इसी में जीवन की पूर्णता है।

आर्य सिद्धान्त के निर्णायक तत्त्व—विकास और आस्था, बुद्धि और विश्वास, श्रद्धा और तर्क धर्म और विज्ञान दोनों हैं। 'सत्य' ज्ञान के लिए पहले तर्क, वाद-विवाद, विचार बुद्धि का उपयोग आवश्यक है और ज्ञान 'सत्य' पर आचरण के लिए अडिग 'श्रद्धा' की आवश्यकता है। जब तक 'श्रद्धा-मेधा' में समन्वय नहीं होता, धर्म और विज्ञान में संगति नहीं बैठती तब तक मनुष्य जीवन खण्ड-खण्ड अस्त-व्यस्त हो जाता है। और केवल श्रद्धा से उसमें जड़ता आ जाती है, मानव-जीवन की उन्नति के द्वार बन्द हो जाते हैं। और केवल 'बुद्धि' से जीवन में निरंकुशता।

जब तक हम इन ऊपर लिखी बातों को ध्यान में नहीं रखते, तब तक आर्य सिद्धांतों की शुद्ध दार्शनिकता और आर्य संस्कृति की श्रेष्ठता को नहीं समझ सकते। ऋषि दयानन्द ही वे व्यक्ति हैं, जिन्होंने इन मूल दार्शनिक आधारों का पता चलाया, उनमें समन्वय स्थापित किया। इसी कारण मानव-जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यन्त विशाल और व्यापक तथा आर्य सिद्धांतों की उनकी व्याख्या अधिक क्रमबद्ध और सुसंगत है। और संक्षेप में सत्य यह है कि इन सिद्धांतों को जीवन में घटाए बिना शांति-प्राप्ति किसी भी मूल्य पर असम्भव है।

सृष्टि के मूल कारण-ब्रह्म, जीव, प्रकृति—आर्यसमाज की दृष्टि में सृष्टि या मूल ब्रह्मांड के तीन कारण हैं। वह इन तीनों शक्ति-तत्वों को गुण, लक्षण, कर्मों की भिन्नता के कारण भिन्न, किन्तु अनादि और अविनाशी मानता है जिसमें—

(१) प्रकृति—इस स्थूल संसार का उपादान कारण जड़ है और भोगने योग्य है। अर्थात् जीवात्मा का भोगायतन (शुभाशुभ) कर्मों के (सुख-दुःखात्मक) फलों की भोगस्थली, परिवर्तनशीला है।

(२) जीव-साधारण कारण कर्ता, भोक्ता, चेतन पर, अल्पज्ञ है।

(३) परमेश्वर निमित्त-कारण, सृष्टिकर्ता, व्यवस्थापक, साक्षी चेतन, कर्माध्यक्ष है। प्रकृति के सर्वस्थूल (पंचतन्मात्रारूप) रूप में सूक्ष्म जीवात्मा के सूक्ष्मतर और परमात्मा के सूक्ष्मतम होने से आर्यसमाज क्रमशः तीनों को परिणामशील (प्रकृति), अपरिणामशील किंतु परिच्छिन्न (जीव) और परिणाम परिच्छेदरहित विभु (ईश्वर) मानता है।

तीनों स्वरूप से अनादि, (ईश्वर के ज्ञान में ईश्वर के सर्वज्ञ होने के कारण संख्येय) और नित्य हैं—अर्थात् इन तीनों की स्वतन्त्र पृथक् सत्ता है। जो नित्य पदार्थ हैं, उनके गुण, कर्म, स्वभाव भी नित्य होते हैं। प्रकृति सत्स्वरूप है, जीव सच्चित्स्वरूप और ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है। इस मर्मतत्व को समझ लेना ही तीनों शक्तितत्वों की ध्रुव धारणा का सत्यज्ञान करना है।

क्योंकि यह विश्व जड़-चेतन दोनों का मेल है, इसलिए किसी एक तत्व जड़ या एक तत्व चेतन से 'विश्व की पहेली' को बूझना तर्क-विरुद्ध, अवैज्ञानिक और कार्यकारण के सर्वमान्य नियम का तिरस्कार है।

यह आर्यसामाजिक दर्शन की मूल भित्ति है, जिस पर एक विस्तृत दर्शन खड़ा है। जो इसको समझ लेता है, वह ऋषि दयानन्द सम्मत दर्शन की गहराई में उतर सकता है। यह दर्शन एक संगत दर्शन है, जिसमें धर्म और विज्ञान का शुद्ध समन्वय है। यह निस्सन्देह 'आस्तिक' दर्शन है। पर विज्ञान-विरोधी नहीं, यह निस्सन्देह 'विज्ञान' को मानव-जीवन की उन्नति का साधन मानता है, 'नास्तिक' नहीं। यही इस दर्शन की ख़ूबी है, यह स्वयं पूर्ण जीवन दर्शन है, इसमें 'भौतिकवाद' व 'अभौतिकवाद' (विद्या अविद्या,

प्रकृतिवाद व अध्यात्मवाद, जड़वाद व चेतनवाद, धर्म और विज्ञान दोनों को उचित स्थान है। यह निरा नीरस दार्शनिक अध्यात्म नहीं।

वर्त्तमान युग के सबसे बड़े दार्शनिक, विचारक एवं तार्किक ऋषि दयानन्द की इस सर्वतः पूर्ण दार्शनिक विचारधारा की ओर बहुत कम जनों का ध्यान गया है। परमेश्वर करे, इस अभिनन्दन-ग्रन्थ के द्वारा सबका ध्यान इस ओर खिंचे।

यह वह दर्शन है, जिसे जीवन में अपनाकर श्रीमती माता लक्ष्मीदेवीजी स्वयं त्यागमयी, सेवामयी आदर्श आर्य नारी बनी हैं। उनके चरणों में हमारा नमस्कार है।

शिक्षा की दो पद्धतियाँ

[डा० श्री धर्मवीर भारती, एम० ए०, डी० फिल्]

शिक्षा की दो पद्धतियाँ अभी तक मान्य रही हैं। एक पद्धति के अनुसार छात्र अथवा छात्रा के मन को खाली स्लेट की तरह माना जाता रहा है, जिस पर अध्यापक नये-नये ज्ञान-विज्ञान की रेखाएँ अंकित करता रहता है; दूसरी पद्धति के अनुसार यह माना जाता है कि छात्र व छात्रा के मन शून्य नहीं हैं, वरन् उनमें अपनी अलग-अलग सम्भावनाएँ छिपी हुई हैं और अध्यापक का कार्य उन पर मनमाना ज्ञान थोप देना नहीं है, बल्कि वह पहले इसका पता लगाता है कि किस बालक की रुचि किस ओर है और उसी के अनुसार प्रत्येक बालक को अपना व्यक्तिगत विकास करने की पूरी सुविधा देता है। दूसरी पद्धति अधिक वैज्ञानिक मानी जाती है।

बस, वैज्ञानिक शिक्षा-प्रणाली के लिए यह आवश्यक है कि अध्यापक प्रत्येक बालक को व्यक्तिगत रूप से जाने, उसके दुःख-सुख में सम्मिलित हो, उसके मन की प्रतिक्रियाओं को निकट से समझे और पूरी सहानुभूति करता हुआ उसकी श्रद्धा का पात्र बने। आधुनिक युग में जहाँ शिक्षा का सारा विधान सरकारी हो गया है, और परीक्षाओं तथा डिग्रियों के कारण शिक्षा-संस्थाएँ केवल क्लर्क पैदा करने की फैक्टरियाँ बन गई हैं, इस आदर्श का निर्वाह अत्यन्त कठिन है। फिर भी दिनोंदिन इस आदर्श की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हो रहा है। सरकार ने भी जो नये 'पब्लिक स्कूल' खोले हैं; उनमें इस सिद्धान्त को समुचित रूप से पालन करने का प्रयास किया जा रहा है, किन्तु ऐसे प्रयासों में सबसे बड़ी आवश्यकता यह होती है कि कोई ऐसा व्यक्ति मिल जाय जो इस दिशा में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा सके।

आज से कितने ही वर्ष पूर्व एक ऐसा व्यक्तित्व उदित हुआ, जिसके मन में यह स्वप्न था कि वह एक संस्था नहीं; बल्कि एक परिवार स्थापित करे, जिसमें छात्राओं और अध्यापिकाओं का सम्बन्ध धन और शुल्क पर नहीं, वरन् संवेदना और स्नेह पर

आधारित हो। हाथरस-गुरुकुल की अधिष्ठात्री श्रीमती लक्ष्मीदेवी ने केवल तीन-चार छात्राओं को लेकर इस उजाड़ स्थान में जिस साधना का सूत्रपात किया था, वह आज फलवती हो रही है। वे न केवल मेरी छोटी बहन की संरक्षिका और शिक्षिका रहीं; बल्कि उसी नाते वे हमारे परिवार की हित-चिन्तिका भी रही हैं। यह उनके स्वभाव की सबसे बड़ी विशेषता है। गुरुकुल की प्रत्येक छात्रा का कुटुम्ब उनका अपना परिवार बन जाता है और उसे वे अपनी सारी ममता से भर देती हैं। यह एक ऐसा गुण है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। इतना ही नहीं; बल्कि वे यथासम्भव नये-से-नये आन्दोलन नयी-से-नयी मनोवृत्ति को सहानुभूति से समझाने का प्रयास करती हैं। और गुरुकुल को भी रूढ़िबद्ध ह्रासोन्मुख संस्था न बनाकर सतत विकासशील संस्था बनाने में लगी रहती हैं।

इस अवसर पर मैं प्रार्थना करता हूँ कि वे दीर्घायु हों और जिस पौधे को उन्होंने आरोपित किया है, उसको फलता-फूलता हुआ देखें। हमारे देश को इस निर्माण-काल में उन जैसे व्यक्तित्वों की बहुत आवश्यकता है।

अवांच्छनीय शिक्षण-विधि

[डा० महावीरसिंह, रिटायर्ड सिविल सर्जन, मंत्री, आर्य प्रतिनिधि सभा, मध्य भारत, गवालियर]

लड़के और लड़कियों की शिक्षा एक साथ हो अथवा अलग-अलग, यह प्रश्न हमारे देश के पढ़े-लिखे मनुष्यों के मस्तिष्क में चक्कर काट रहा है। पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित भारतीयों का यह विश्वास है कि सह-शिक्षा अच्छी वस्तु है, क्योंकि पाश्चात्य देशों में इस प्रथा को समर्थन प्राप्त है। आधुनिक युग के सर्वोपरि समाज-निर्माता रूस में तो सह-शिक्षा का पूरी तरह से बोलबाला है। वहाँ आरम्भ से ही लड़के-लड़कियाँ साथ-साथ पढ़ते-लिखते और विश्वविद्यालयों में पहुँच कर तो हालत यह हो जाती है कि वे होस्टलों में दिन-रात साथ ही साथ रहते भी हैं अर्थात् सह-शिक्षा के साथ-साथ सहवास भी होता है। रूस एक ऐसा देश है, जहाँ अनेक नवीन प्रयोग काम में लाए गए हैं और विज्ञान का सबसे अधिक उपयोग नवीन समाज-निर्माण पर किया जा रहा है। रूस का समाज-निर्माण-कार्य अभी परीक्षण की दिशा से गुजर रहा है। उसे पूर्णता प्राप्त हो चुकी है यह नहीं कहा जा सकता। परीक्षण-काल में रूस ने कितनी ही धारणाओं को बदला है। सत्य के अन्वेषक को अपनी भूल स्वीकार करने के लिए सदा उद्यत रहना चाहिये। सह-शिक्षा के सम्बन्ध में वहाँ के परिणाम क्या होंगे, इसे अभी नहीं कहा जा सकता। हाँ, एक बात स्पष्ट है, वह यह कि क्षेत्रफल को देखते हुए रूस की जन-संख्या बहुत कम है, और सोवियट रूस अपनी जन-संख्या बढ़ाने का भरसक प्रयत्न कर रहा है। विवाहितों को विशेष सुविधाएं दी जाती हैं, अधिक वेतन दिया जाता है, और जितनी अधिक सन्तान हो उतने ही अलाउन्स (उपवेतन) बढ़ते जाते हैं। दस सन्तान वाली माता को मदर हीरोइन का पदक दिया जाता है।

अमेरिका भी सह-शिक्षा का केन्द्र रहा है, किन्तु यहाँ सह-शिक्षा के जो दुष्परिणाम निकले हैं, उनका वर्णन वहाँ के हाई कोर्ट-जजों की रिपोर्टों से भले प्रकार प्रकट है। जहाँ बहुत-सी लड़कियाँ विवाह से पहले ही माता बन जाती हैं। इंगलेन्ड इस विषय में अमेरिका से पिछड़ा हुआ है। यहाँ लड़के और लड़कियों के लिए अलग-अलग स्कूल हैं। होस्टल में सहवास कहीं पर भी नहीं है।

जहाँ तक हमारे भारत देश का सम्बन्ध है, यहाँ सह-शिक्षा कभी अच्छी नहीं समझी गयी। शिक्षा अनिवार्य थी, किन्तु लड़के और लड़कियों की पाठशालाएं अलग-अलग हुआ करती थीं। ऋषि दयानन्द ने तो यहाँ तक लिखा है कि लड़कों के गुरुकुलों में पाँच वर्ष की लड़की अथवा लड़कियों की पाठशाला में पाँच वर्ष का लड़का भी न जा सके। जब तक विद्याभ्यास करें, अलग रहें और पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करें।

उपर्युक्त पाश्चात्य और भारतीय दृष्टि-कोणों में बड़ा अन्तर है, जिस पर विचार करना आवश्यक है। सहशिक्षा पर बल देने वालों का कहना है कि लड़के और लड़कियों के साथ-साथ रहने से उनमें एक दूसरे के प्रति उग्र उत्सुकता (Curiosity) समाप्त हो जाती है और नैसर्गिक खिंचाव की भावना (Sex Feeling) भी कम हो जाती है। क्योंकि आपस में मिलने-जुलने, बातचीत करने, खेलने आदि सम्पर्क सभी इस स्वाभाविक भावना के विकास के मार्ग हैं। सामान्यतः उपर्युक्त कथन सही दीखता है, किन्तु सचाई यह है कि मन और इन्द्रियों के स्वाभाविक रुझानों (Instincts) की पूर्ति के लिए जो भी मार्ग अपनाए जावेंगे उनसे कामनाएं शान्त होने के स्थान में उसी प्रकार बढ़ती हैं, जिस प्रकार घृत डालने से अग्नि और भी प्रज्वलित होती है। इन्द्रिय और मन की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ तो तभी दमन की जा सकती हैं, जब बच्चों को इनके विषय में ज्ञान हो और साधन भी। अबोधावस्था में यह ज्ञान होता नहीं और न ब्रह्मचर्य-रक्षा की पर्याप्त शिक्षा मिलती है। परिणाम वही होता है जो आधुनिक सहशिक्षा के फलस्वरूप अमेरिका आदि देशों तथा अपने देश में भी यत्रतत्र दृष्टिगोचर हो रहा है। आए दिन विद्यार्थी शिकायत करते हैं कि उनकी स्मृति काम नहीं देती, स्वप्न-दोष सताते हैं, कोष्ठबद्धता रहती है, भूख नहीं लगती, नींद नहीं आती आदि-आदि। सहशिक्षा के अतिरिक्त सिनेमाओं के चित्र और गाने हमारे नवयुवकों की मनोवृत्ति को दूषित करने में कम सहायक नहीं हैं। बाइबिल में कहा है कि 'हे मेरे प्रभु, तू मुझे परीक्षा से बचा।' इसका तात्पर्य यही है कि कीचड़ में पैर डाल कर धोने की अपेक्षा कीचड़ से बचे रहना अधिक श्रेयस्कर है।

हमारे देश में सन्तान-निग्रह की आवश्यकता पर बल दिया जा रहा है, जिससे जनसंख्या की अनावश्यक वृद्धि न होने पावे। इसलिए विवाह की आयु बढ़ाना और लड़के-लड़कियों के निकट सम्पर्क को कम करने की नितान्त आवश्यकता है। सहशिक्षा के परिणाम इसके ठीक विपरीत हैं। इसलिए भी सहशिक्षा अवांछनीय है।

एक और भी कारण सहशिक्षा की रोक के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। वह यह

कि लड़के-लड़कियों की शिक्षा में कुछ विषय ऐसे हैं, जिनको एक ही श्रेणी में पढ़ाना अशोभनीय होगा, जैसे सोशल हाईजीन, मासिक धर्म, गर्भवती का रहन-सहन, सन्तान के प्रति माता का कर्त्तव्य, पाकशास्त्र, गृह-विज्ञान आदि। अतएव सामान्य पाठ्यक्रम समान होते हुए भी लड़के और लड़कियों की शिक्षा का प्रबन्ध अलग-अलग होना ही उचित है। ऐसा ही इस देश के ऋषि-मुनियों का मत है। और यही कल्याणकारक भी है। आर्य-समाज के प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द ने गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली पर ज़ोर दिया। फलस्वरूप लड़के और लड़कियों के लिए अलग गुरुकुल की स्थापना की गई। श्रीमती लक्ष्मीदेवीजी ने सफल संचालन के लिए कन्या-गुरुकुल, सासनी को अपने हाथ में लेकर एक आदर्श त्याग किया है, जिसके लिए वे आर्यजगत् की बधाई की अधिकारिणी हैं।

वनों का सांस्कृतिक महत्त्व

[श्री रोशनलाल गुप्त, एम०, ए०, सिद्धान्त-शास्त्री, आगरा]

वन विभिन्न दृष्टि-कोणों से मानव-समाज के लिए उपयोगी हैं। बहुमूल्य काष्ठ, दुर्लभ औषध, शहद और मोम के रूप में प्रत्यक्ष लाभ तो उनसे हमें होते ही हैं, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप में भी हम पर उनके उपकार कम नहीं हैं। ग्रीष्म-ऋतु में जब सभी जीव-धारी, भयंकर ताप से व्याकुल हो जाते हैं तब, पतझड़ों के पश्चात्, वृक्ष नव पल्लव धारण कर वायुमण्डल के ताप को कम कर देते हैं, जिससे मनुष्य, पशु-पक्षी सभी को शांति मिलती है। वायु-मण्डल में नमी आजाने से उन भागों में वर्षा भी अधिक होती है। वन वर्षा के जल को भूमि में रोक रखते हैं, जिससे निकटवर्ती क्षेत्रों में बाढ़ नहीं आती। वे वर्षा के संचित जल को धीरे-धीरे आगे बढ़ने देते हैं, जिससे उस भाग की नदियाँ वर्ष के अधिकांश भाग में जल से परिपूर्ण रहती हैं, और आस-पास के भूमि-भाग को लाभान्वित करती रहती हैं।

किन्तु वनों का इससे भी अधिक महत्त्व है सांस्कृतिक दृष्टिकोण से। वन देश को अपार सौन्दर्य प्रदान करते हैं। मनुष्य स्वभावतः ही सौन्दर्य-प्रिय प्राणी है। सृष्टि के प्रारम्भ में इसी प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रभावित होकर, उसमें आस्तिकता का बीज-वपन हुआ और कालान्तर में अंकुरित होकर वह पल्लवित हुआ। वन की आमोदमयी गोद में जब आदि मानव के नेत्र सर्व प्रथम उन्मीलित हुए तो उसने देखा अपने सम्मुख प्रफुल्ल पुष्पों को और क्रीड़ा-मग्न पशु-पक्षियों को तथा सुना उसने कोयल के सुमधुर पंचम स्वर को। और तब मुस्करा उठा वह आदि मानव और प्रस्फुटित हो उठी उसके मुख से वेद रूप में ईश्वरीय वाणी, जिससे प्रादुर्भाव हुआ सृष्टि की आदि एवं सर्वोत्कृष्ट आर्य संस्कृति का।

वनों में शांति का एक छत्र राज्य रहता है, जहाँ का कण-कण मानव को पल-पल

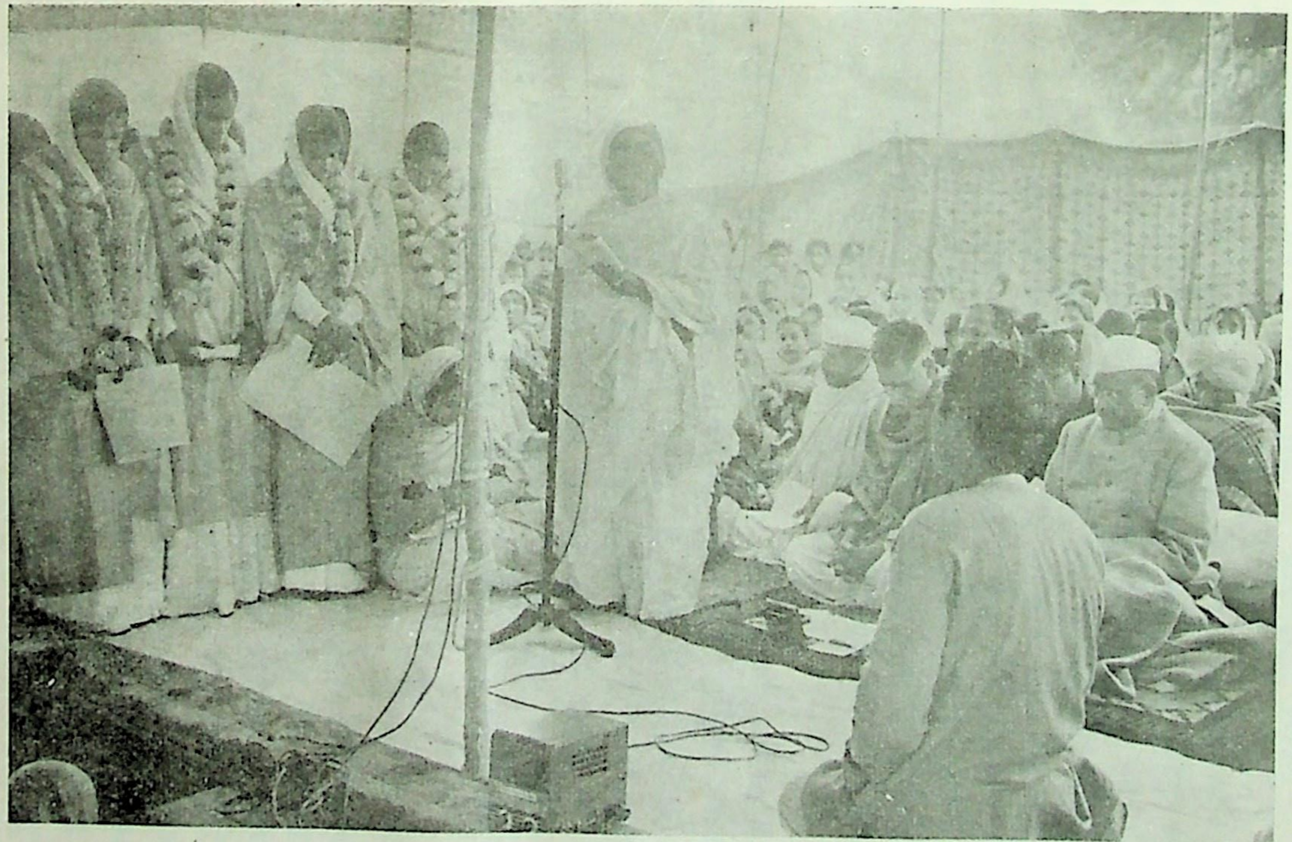
पर परमात्मा के अस्तित्व का आभास कराता रहता है। वन के सत्व गुण-युक्त फल मानव की मेधा को सात्विक बनाते हैं, जिसके द्वारा वह सत्य-विद्या का प्रकाश करता है। यही कारण है कि हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने अपने आश्रम और गुरुकुल वनों की सुरम्य गोद में स्थापित किये। नगर के कोलाहलमय वातावरण से दूर, इन आश्रमों में तप, स्वाध्याय और सत्संग की त्रिवेणी में स्नान कर मानव जीवन-मुक्त हो जाता था; और तभी वह ऐसे अलौकिक साहित्य की सृष्टि कर सका जो आज भी मानव को दिव्य पथ प्रदर्शित करता है। वेद, ब्राह्मण-ग्रंथ, स्मृतियाँ, उपनिषद्, षड् दर्शन आदि अलौकिक ग्रन्थों की रचना इन्हीं वनों में हुई। इसी लिए तो राजा और महाराजा तक, जिनके पास अतुल वैभव था और ऐहिक सुख तथा भोग-विलास की कोई कमी नहीं थी, अपने जीवन के चतुर्थ भाग में इन्हीं वनों की शरण लेते थे, और जीवन का सच्चा सुख प्राप्त करते थे।

वनों की ये विशेषताएँ प्राचीन युग में ही रही हों यह बात नहीं। वर्त्तमान युग के महापुरुष महर्षि दयानन्द, कवीन्द्र रवीन्द्र, योगिराज अरविन्द आदि ने जो अमूल्य निधि आज के मानव को दी वह उन्हें वनों से ही प्राप्त हुई थी। राष्ट्र-पिता विश्ववन्द्य महात्मा गाँधी ने भी अपना आश्रम वन की गोद में ही बनाया, जहाँ वह अपार शान्ति एवं शक्ति प्राप्त करते थे। देश के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के मध्य जब भी उन्हें आन्दोलन रोकना पड़ा या अन्य किसी घटना से उन्हें मानसिक क्लेश हुआ, तब वे आश्रम की ही शरण लेते और वहाँ कुछ काल व्यतीत कर पुनः शक्ति प्राप्त करते थे।

वनों का सांस्कृतिक ही महत्त्व नहीं, आर्थिक दृष्टि से भी उनकी बड़ी उपयोगिता है। स्वास्थ्य के विचार से तो वे महिमामय हैं ही; जीवन के व्यवहार में आने वाली जितनी चीज़ें हैं उनमें से अधिकतर वन की देन है। फल, शाक, ईंधन, लकड़ी, कड़ी, फ़रनीचर इत्यादि सभी चीजें हमें वन से ही प्राप्त होती हैं। वस्त्रों के लिये भी रुई वहीं से मिलती है। सचमुच यदि वन न हों तो प्राणियों के जीवन स्थिर न रह सकें और संसार के व्यवहार कठिन हो जायँ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल से लेकर आज तक मानव ने विश्व को जो दिव्य ज्ञान दिया वह उसने वनों की निकुंजों और गिरि-कन्दराओं में बैठकर ही प्राप्त किया। वर्त्तमान युग के गगनचुम्बी भवनों में बैठकर मानव ने विश्व को अणु, उद्जन या नत्रजन बम्ब ही दिये हैं, जिनका नर-संहारक परिणाम हम गत युद्ध में देख चुके हैं। नगरों के अशांत वातावरण में बैठ कर मानव का मस्तिष्क जिन विचारों को व्यक्त करता है, उनसे विश्व में घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, संघर्ष आदि विनाशकारी दुर्भावों की ही सृष्टि होती है।

इसीलिए आज युद्धों से व्याकुल होकर पश्चिमी देशों के लोग भी कह उठे हैं—'प्रकृति की ओर लौट चलो।' क्या हम भी अपने इन दिव्य वनों की रक्षा एवम संवर्द्धन में संलग्न न होंगे ?



स्नातिका-मण्डल (द्वादश)
महामहिम श्री श्रीप्रकाशजी राज्यपाल, (मसनद के सहारे)

चरित्र—निर्माण का मूलाधार

[श्री कुमारी कमला, साहित्यरत्न, एम० ए०, कन्यागुरुकुल, हाथरस]

चरित्र अनेक गुणों का केन्द्र है। यह व्यक्ति के उद्देश्य, क्रियाओं और भावी जीवन को निश्चित करता है। चरित्र के बिना सब व्यर्थ है। चरित्रहीन व्यक्ति ज्ञानी होते हुए भी समाज का अभिशाप है, भार-स्वरूप है। विश्व की अद्वितीय सम्पत्ति चरित्र है, असंख्य सम्पत्तियाँ इसके समक्ष तुच्छ हैं। मनुष्य को आँकने की वास्तविक कसौटी चरित्र है। चरित्र के अन्दर वह शक्ति, वह तेज, वह सौन्दर्य और वह आत्मविश्वास है, जिसके द्वारा विश्व वशीभूत और नतमस्तक हो सकता है। चरित्रवान व्यक्ति के समक्ष हम स्वतः ही समर्पित हो जाते हैं। विश्व के संकट और विषाद चरित्र की अग्नि से अनायास ही भस्मीभूत हो जाते हैं। चरित्र वह अनमोल रत्न है, जिसके अन्दर सभी गुण-रत्न एकत्रित रहते हैं, सभी गुणों के योग से सच्चरित्रता का सुन्दर भवन निर्मित होता है।

शिक्षा वह साधन है, जिसके द्वारा मनुष्य का विकास होता है। आन्तरिक शक्तियाँ प्रकाश में आती हैं। शिक्षा का उद्देश्य बहुमुखी है। शिक्षित व्यक्ति समाज का नायक और नेता होता है। नेता के लिए आवश्यक होते हैं, शक्ति, तेज और प्रभाव। इन सभी गुणों का समन्वय चरित्र है। शिक्षा प्राप्त होने पर यदि चरित्र-बल प्राप्त न हुआ तो शिक्षा व्यर्थ है, निर्जीव है, क्षणिक है और अशक्त है। जैसे प्राण के बिना शरीर। यदि शिक्षा शरीर है, तो चरित्र प्राण। व्यक्तिगत, राष्ट्रिय और अन्तर्राष्ट्रिय जीवन में चरित्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चरित्रहीन व्यक्ति कायरों की भाँति सिर नीचा करके जीवन व्यतीत करता है।

सच्चरित्र व्यक्ति के अन्दर एक दैवी प्रतिभा होती है। शिक्षा के महत्त्वपूर्ण अंग अनुशासन, आज्ञापालन, नम्रता, चरित्र-निर्माण में निहित हैं। प्राचीन और आधुनिक युग के अनेक उदाहरण ऐसे हैं, जिनका नाम चरित्र-बल के कारण इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम, लक्ष्मण, हरिश्चन्द्र, दयानन्द, तिलक गांधी, जवाहरलाल, आदि अनेक महापुरुष विश्व में सदा सूर्य की भाँति अमर और प्रकाशित रहेंगे। सच्चरित्र छात्रों का सम्मान प्रत्येक स्थान पर एक बहुत उच्च आधार को लेकर किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति उसे विशेष दृष्टि से देखता है। जाज्वल्यमान हीरे के समान वह समाज को चमका देता है। चरित्रवान व्यक्ति के सामने सकल सिद्धियाँ हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। चरित्र स्वच्छ स्फटिक मणि है। चरित्र में वह चुम्बक शक्ति है, जो सहज ही सबको अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

शिक्षित नवयुवक और नवयुवतियाँ ही देश के कर्णधार तथा पथप्रदर्शक होते हैं। देश की उन्नति चरित्र की दृढ़ भित्ति पर ही अवलम्बित है। सच्चरित्र और शिक्षित नागरिक ही देश की बागडोर सँभाल सकते हैं। चरित्रहीन व्यक्ति कान्तिहीन है, वह समाज

से उपेक्षित होकर अकाल ही विनष्ट हो जाता है, संसार में उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता। चरित्रहीन शिक्षित व्यक्ति के ऊपर पुस्तकों का भार उसी प्रकार लदा रहता है जैसे गधे पर शेर की खाल। चरित्र वह दिव्य कसौटी है, जिस पर पूरा उतर कर मनुष्य इस प्रकार प्रकाश में आ जाता है; जिस प्रकार अग्नि में तपकर स्वर्ण निखर जाता है। शिक्षा-सरोवर में स्नान कर यदि चरित्र रूपी रत्न ही सुरक्षित न रह सका तो शिक्षा व्यर्थ है।

चरित्र-निर्माण के उच्च लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए हमारा कर्त्तव्य है कि हम प्रयत्न करें कि वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली तथा शिक्षणालयों में इसकी ओर विशेष ध्यान दिया जाय। हमारा प्राचीन गौरव इसी विशेषता के कारण आज भी अक्षुण्ण है। प्राचीन काल में विद्यार्थीगण अपने पूज्य गुरुओं के चरणों में बैठकर शिक्षा प्राप्त करते और उनके संकेतों पर कार्य करते थे। परन्तु आज सब ओर से पुकार-पुकार कर कहा जा रहा है कि आधुनिक विद्यार्थीगण अनुशासन-हीन हैं, मर्यादा-हीन हैं। शिक्षकों का आदर करना, आज्ञापालन करना वे अपना कर्त्तव्य नहीं समझते, फिर सच्चरित्रता का प्रश्न ही कहाँ रहा। आज देश को आवश्यकता है, सच्चरित्र अनुशासित और आज्ञा-पालक नागरिक एवं नागरिकाओं की। शिक्षा की प्रगति, शिक्षणालयों की बढ़ती हुई संख्या तभी सफल होगी, जब दृढ़ चरित्र शिक्षित छात्र-छात्रा तैयार होंगे।

दाम्पत्य जीवन की महत्ता

[श्री मुकुन्ददेवजी, एम० ए०]

'विद्या ददाति विनयम्' इस नीति-वचन के अनुसार विद्या-प्राप्त व्यक्तियों में विनय, नम्रता एवं सहिष्णुता आदि गुणों का होना आवश्यक है। परन्तु पाश्चात्य विचार-धारा से प्रभावित आधुनिक शिक्षित नर-नारियों में इसके विपरीत दोष ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं। सम्प्रति शिक्षित नर-नारियों में एक दूसरे से श्रेष्ठत्व और ज्येष्ठत्व की होड़ लगी हुई है, जिसके कारण दाम्पत्य सुख आकाश-पुष्प बन गया है। डेढ़-सौ से अधिक वर्षों तक विदेशी शासन में रहकर और दास मनोवृत्ति से पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा ग्रहण कर पुरुष वर्ग तो पाश्चात्य सभ्यता के प्रवाह में बह ही रहा था, अब उच्च-शिक्षा प्राप्त महिलाएँ भी उसी रंग में रँग गयी हैं; और समानाधिकार का बेसुरा राग अलाप कर पुरुषों की बराबरी का दावा कर रही हैं; एवं भारतीय विवाह जैसे पुनीत और आध्यात्मिक सम्बन्ध के प्रति भी विद्रोह कर स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करने की ओर अग्रसर हो रही हैं। यही कारण है कि पति-पत्नियों के बीच भेद-भाव की यह खाई दिन-प्रतिदिन और भी विस्तृत होती जा रही है।

शिक्षा का तो प्रयोजन था भेद-भाव को मिटाना, संघर्ष को हटाना, प्रेम-भाव

फैलाना, दाम्पत्य सुख बढ़ाना, कुटुम्बियों को परस्पर मिलाना और इस प्रकार कार्य करके शिक्षा के उच्च आदर्श को दर्शाना, परन्तु हो रहा है ठीक इसके विपरीत।

नर और नारी में कौन अपकृष्ट और कौन उत्कृष्ट ? यह प्रश्न भी बड़ा विचित्र है। इसे यदि मूर्खतापूर्ण प्रश्न कहें तो कुछ अनुचित न होगा। नर को नारी की ठीक उतनी ही अपेक्षा है जितनी कि नारी को नर को। एक के बिना दूसरा अपूर्ण है और किसी भी लौकिक अथवा पारलौकिक कार्य को उचित रीति से सम्पन्न नहीं कर सकता। दोनों ही एक दूसरे के पूरक और सहायक अङ्ग हैं। प्रकृति ने पुरुष के शरीर और स्वभाव में जिन तत्त्वों को कमी रक्खी है, उन्हें स्त्री पूर्ण कर देती है, एवं जो न्यूनता स्त्री के शरीर और स्वभाव में रक्खो है, उसे पुरुष पूरा कर देता है। इस प्रकार स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर ही एक पूर्ण अङ्ग बनते हैं। प्राकृतिक रचना के अनुसार दोनों ही के कार्य-क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं, और अपने-अपने क्षेत्रों में दोनों ही समान रूप से उत्कृष्टता रखते हैं, फिर कौन श्रेष्ठ और कौन हीन ? यह प्रश्न ही नहीं उठता।

जैसे प्रजापति ने प्राण और रयि द्वारा समस्त सृष्टि का सृजन किया है, वैसे ही स्त्री और पुरुष की दो पवित्र आत्माओं को मिल कर एक हो जाने से मानव-जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और अभिवृद्धि होती है।

पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, जलचर, थलचर, नभचर और वनस्पति-जगत् में भी नर और नारी दोनों ही तत्त्व समानरूप से कार्य करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं; और किसी भी एक तत्त्व के अभाव में उनकी उत्पत्ति रुक जाती है। इतना ही नहीं ! विद्युत् एवं चुम्बक जैसे जड़ पदार्थों तक में भो नर और नारी के प्रतीक धन-ध्रुव और ऋण-ध्रुव देखे जाते हैं। इनमें कौन अपकृष्ट और कौन उत्कृष्ट है, यह तो कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि दोनों ही समानरूप से उपयोगी हैं, अतः दोनों समान हैं।

भारतीय संस्कृति में स्त्री को पुरुष की अर्धाङ्गिनी कहा गया है। सभी शास्त्र इसे सहधर्मिणी की उपाधि देते हैं। पुरुष का कोई भी धार्मिक कृत्य विना सहधर्मिणी के पूर्णरूप से नहीं हो सकता। तभी तो मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम जैसे समर्थ महापुरुष को भी अपनी सहधर्मिणी सती सीता के अभाव में स्वर्ण की सीता बनाकर यज्ञ की विधि निष्पन्न करनी पड़ी थी। कितना पुनीत और उच्च पद है—भारतीय नारी का। विश्व के किसी भी राष्ट्र में नारी का पद इतना उच्च नहीं है।

फिर भी आधुनिक सुशिक्षित स्त्री-वर्ग पाश्चात्य सभ्यता के प्रवाह में बह रहा है और उसमें पुरुषों के प्रति विद्रोह की भावना जाग्रत् हो रही है। जब इस संघर्ष की समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाता है, तो परिणाम यह निकलता है कि यह संघर्ष केवल कुछ पत्नियों का अपने उन पतियों के विरुद्ध है, जिनके गुण-कर्म-स्वभाव परस्पर नहीं मिलते, अथवा जो अपनी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और सामाजिक अयोग्यताओं के कारण उनको सन्तुष्ट नहीं रख सकते अथवा पति का दुराचार और पर-नारी-प्रेम उनको असह्य हो जाता है। कुछ ऐसी पत्नियाँ भी विद्रोह किया करती हैं

जो अपने पति का उचित अंकुश मानने को उद्यत नहीं। और स्वेच्छाचारिणी और स्वच्छन्द विहारिणी रहना चाहती हैं। ऐसी कुछ पत्नियों को छोड़कर शेष सभी सुशिक्षित एवं अशिक्षित भी सद्गृहस्थों में—दम्पती बड़े प्रेमपूर्वक सुख से जीवन व्यतीत करते देखे जाते हैं।

पुरुष-वर्ग में तो पिता, भ्राता, पुत्र भी आजाते हैं। परन्तु क्या आज तक किसी ने सुना है कि किसी भी सुशिक्षित अथवा अशिक्षित पुत्री ने अपने पिता के प्रति विद्रोह किया है? अथवा किसी भी भगिनी ने अपने भ्राता के प्रति विद्रोह किया है? फिर भला माता का पुत्र से तो विद्रोह हो ही कैसे सकता है। माताओं को तो जितना हर्ष पुत्र को जन्म देकर होता है, उतना शायद पुत्री को जन्म देकर नहीं होता। कहीं-कहीं तो माताओं को पुत्री के जन्म पर उल्टे शोक करते देखा गया है। इतना ही नहीं कुछ ऐसी किम्वदन्तियाँ तक सुनी गयी हैं कि कुछ कुमाताओं ने अपनी निरीह बालिकाओं की जन्मते ही दाई आदि के द्वारा जीवनलीला समाप्त करादी। फिर ऐसे संघर्ष को नर-नारी-संघर्ष न कह कर उछृङ्खल पति-पत्नी-संघर्ष के नाम से ही पुकारा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा।

रही समानाधिकार की बात, सो अधिकार का प्राप्त करना तो केवल योग्यता के ऊपर निर्भर है। इसमें नर और नारी का प्रश्न ही नहीं है। जिन घरों में प्रबन्ध आदि कार्यों की योग्यता पुरुष की अपेक्षा स्त्री में अधिक होती है, वह घर नारी-प्रधान रहता है। उस घर में सभी कार्य गृह-लक्ष्मी के आदेशानुसार ही किये जाते हैं। और जिस घर में स्त्री की अपेक्षा पुरुष अधिक योग्य होता है, वह घर पुरुष-प्रधान होता है। उसमें सभी कार्य पुरुष की इच्छानुसार होते हैं, स्त्री के हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता ही नहीं। जिन गृहस्थों में स्त्री-पुरुष दोनों ही समान रूप से योग्य होते हैं, वे दोनों एक दूसरे की सम्मति से कार्य करते हैं, अतः वहाँ किसी प्रकार के संघर्ष का अवसर ही नहीं उपस्थित होता। अतएव जिन स्त्रियों को घर में अपना ही अधिकार रखने की अभिलाषा है, उनको चाहिये कि वे पुरुषों से अधिक योग्य बनने का प्रयास करें, अधिकार फिर उन्हें स्वयं ही मिल जायेंगे। अथवा अपने से कम योग्यता वाला जीवन-साथी देख लें।

फिर पुरुष को पुरुषार्थी अथवा पौरुष-हीन बनाना भी तो स्त्रियों के हाथ में है। वे चाहें तो पुरुष को ऐसा बना सकती हैं कि वह सदैव स्त्री का दास ही बना रहे, क्योंकि पुत्र भी तो पहले माता ही की गोद में खेलता है। परन्तु क्या कभी किसी माता ने आज तक यह स्वप्न में भी विचारा है कि मेरा पुत्र ऐसा हो जो स्त्री का दास बनकर रहे। उसकी महत्त्वाकांक्षा तो सदैव यही रहती है कि मेरा पुत्र बलवानों में सबसे अधिक बलवान हो, विद्वानों में सबसे अधिक विद्वान् हो और समृद्धि-शालियों में सबसे अधिक समृद्धिशाली हो। कितना विशाल हृदय है स्त्री जाति का। कितनी उदारता और त्याग की भावना है नारी वर्ग में। हाँ, फिर भी कभी-कभी अन्याय और अत्याचार से विक्षुब्ध हो उठना भी स्वाभाविक है।

भारतीय विवाह-बन्धन न तो भौतिकता के आधार पर स्थित है और न केवल काम-वासना की तृप्ति के लिये है। वह तो एक आध्यात्मिक सम्बन्ध है जो पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए, यज्ञादि करने के लिए है। यह सम्बन्ध इस लोक और परलोक दोनों ही के लिए होता है। श्रीमती ऐनी बीसेण्ट ने लिखा है—

"No where in the whole world, no where in any religion, a nobler, a beautiful, a more perfect ideal of marriage than you can find in the early writings of the Hindus."

—Annie Besant.

अर्थात् भूमण्डल के किसी देश में, संसार की किसी जाति में, किसी धर्म में, विवाह-संस्कार का महत्त्व ऐसा गम्भीर, ऐसा अपूर्व और ऐसा पवित्र नहीं है, जैसा कि प्राचीन आर्य्य ग्रन्थों में पाया जाता है।

अतः समस्त सुशिक्षित नर-नारियों का कर्त्तव्य है कि वे भारतीय विवाह के पुनीत आदर्श की रक्षा के हेतु एवं भारतीय संस्कृति को लुप्त होने से बचाने के लिए और दाम्पत्य सुख की अभिवृद्धि के लिए, नर-नारियों के बीच उत्पन्न भेद-भाव के इस जघन्य आन्दोलन को समाप्त कर, यथाशक्ति प्रेम-भाव की अविरल धारा प्रवाहित करें, जिससे उनकी शिक्षा भी सार्थक हो और देश का कल्याण भी हो। शमित्योम्।

आदर्श शिक्षा-प्रणाली

[श्री प्रियतमलालजी, एम-एस-सी०, एल-एल० बी० एडवोकेट, अधिष्ठाता, आर्य परिवार-संघ, अलीगढ़]

जब हम शिक्षा-प्रणाली पर विचार करते हैं तो सर्व-प्रथम हमको विचार करना है कि शिक्षा से अभिप्राय क्या है। प्रायः समझ लिया गया है कि लिखना-पढ़ना, व्यवसाय करने के योग्य होना, अथवा नौकरी प्राप्त कर लेना ही शिक्षा-प्राप्त करना है। अथवा नौकरी करने के लिये जितना पढ़ना-लिखना आवश्यक है, वही शिक्षा है। यह विचार असत्य है। शिक्षा का अभिप्राय यह कदापि नहीं है। मनुष्य का शरीर, उसका मन तथा आत्मा उसके आवश्यक अंग हैं। इन अंगों को दृढ़ और पुष्ट करके उपयोगी बनाना शिक्षा का उद्देश्य है। जिस प्रणाली से शरीर, मन और आत्मा पुष्ट, शुद्ध और उपयोगी बनें और व्यक्तित्व विकसित हो वही आदर्श प्रणाली कही जा सकती है। शरीर, मन और आत्मा का पारस्परिक सम्बन्ध है। एक अंग के पुष्ट और शुद्ध होने का दूसरे अंग पर प्रभाव पड़ता है। यदि शरीर पुष्ट और शुद्ध है, तो मन भी शुद्ध और दृढ़ बनेगा। कहा भी है sound mind, in a sound body अर्थात् शुद्ध और पुष्ट शरीर में ही शुद्ध मन हुआ करता है। अतः शरीर की शुद्धता और उसका नीरोग होना परमावश्यक है। जिस शिक्षा-प्रणाली में शरीर की शुद्धता और पुष्टि पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता, वह दूषित, अपूर्ण और निष्फल है।

गुरुकुल-प्रणाली में ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया-कराया जाता है। छात्र-छात्राओं के रहन-सहन, निवास, दिन-चर्या, भोजन, वस्त्र इत्यादि सब ही कार्य वेदादि शास्त्रों के आधार पर इस दृष्टि से नियत किये गये हैं, कि छात्राओं के शरीर ब्रह्मचर्य द्वारा शुद्ध और पुष्ट रहें और वे पूर्ण आयु प्राप्त करें। शरीर की तरह मन को भी शुद्ध-पवित्र बनाने का प्रयत्न किया जाता है। शिक्षाप्रद उपयोगी पुस्तकें पढ़ायी जाती और दूषित विचार उत्पन्न करने वाली दूर रखी जाती हैं। सभा, वार्तालाप, व्याख्यान, उपदेश तथा सतसंगों में शुद्ध-पवित्र विचार उत्पन्न करके, उनको दृढ़ रखने का प्रयत्न किया जाता है। संसार-सेवा, परोपकार, यज्ञ, तप, सत्य, अहिंसा आदि जीवन का लक्ष्य बताया जाता है। संक्षेप में भारतीय संस्कृति के अंकुर दृढ़ कर दिये जाते हैं। अर्थात् रहन-सहन साधारण और विचार एवम् उद्देश्य उच्च हों। गुरुकुल-प्रणाली की यही विशेषता है और इसी विशेषता के कारण वह आदर्श शिक्षा-प्रणाली है। यह भी विशेष बात है कि कन्या-गुरुकुल की शिक्षा निःशुल्क है। भोजन मात्र लिया जाता है। गुरुकुल-प्रणाली में विद्यार्थी व छात्राएँ, गुरुकुल-आश्रम में ही निवास करते हैं। उनको संसार के दूषित वायु-मण्डल, सिनेमा-थियेटर आदि से सुरक्षित रखा जाता है। अन्य प्रणालियों में इन बातों पर ध्यान नहीं दिया जाता। परिणाम भी प्रत्यक्ष है। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली असफल हो गई है। देश में सुनागरिक उत्पन्न नहीं हो रहे। यदि जनता गुरुकुल-प्रणाली को ही अपनाले तो हमारे देश की दशा कुछ काल में ही उन्नत और सन्तोषप्रद हो सकती है।

जिन विद्वानों ने गुरुकुलों का निरीक्षण किया है और उनके उत्सव देखे हैं, वे बहुत ही प्रभावित हुए हैं। उन्होंने इस प्रणाली की प्रशंसा में बड़े अच्छे निरीक्षण-नोट लिखे हैं। जो समय-समय पर जनता के समक्ष प्रस्तुत होते रहे हैं। संक्षेप से गुरुकुल-प्रणाली ही आदर्श शिक्षा-प्रणाली है। जनता का कर्त्तव्य है कि वह इस प्रणाली को ही तन, मन, धन से प्रोत्साहन दे।

लड़कों के गुरुकुल, कन्याओं के गुरुकुल से दूर होने चाहियें। ऐसा ही किया भी गया है। वैसे तो लड़कों और कन्याओं दोनों प्रकार के गुरुकुल देश के लिये परमावश्यक हैं, परन्तु फिर भी गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि, कन्याओं के गुरुकुल लड़कों के गुरुकुलों से अधिक आवश्यक हैं। कारण यह है कि स्त्री-जाति ही परिवारों की जननी, प्रबन्धकर्त्री तथा भावी सन्तान का निर्माण करने वाली है। जहाँ स्त्री-जाति सुशिक्षित तथा धर्मानुरागिनी नहीं, वहाँ सब कार्य नष्ट-भ्रष्ट और असफल हो जाते हैं। अतः कन्या-गुरुकुलों की आवश्यकता अपेक्षाकृत अधिक है।

यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि कन्या-गुरुकुल-हाथरस, (अलीगढ़) एक बड़ा उपयोगी और महान् शिक्षणालय है। इस में सन्देह नहीं, कि अभी इस गुरुकुल में बहुत-सी त्रुटियाँ हैं, जिनका पूर्ण करना देश और जाति-हितैषियों का परम कर्त्तव्य है। इन त्रुटियों की पूर्त्ति के बिना इसे आदर्श नहीं कहा जा सकता। परन्तु फिर भी यह गुरुकुल इस अर्थ में आदर्श है कि इसके संस्थापकों ने देश के सामने एक नमूना रख दिया है।

हर्ष की बात है कि इस गुरुकुल को स्थापित हुए २५ वर्ष व्यतीत हो गये और वह अपनी 'रजतजयन्ती' मना रहा है। 'रजत जयन्ती' महोत्सव मनाना, किसी संस्था के जीवन-काल में बड़ा महत्त्वपूर्ण पर्व होता है। उस पर्व को उत्साहपूर्वक मनाने के नीचे लिखे उद्देश्य होते हैं

(१) संस्था के पूर्व इतिहास पर दृष्टि-पात कर अनुभव प्राप्त करना। (२) वर्त्तमान स्थिति जनता के समक्ष रख उसका सहयोग प्राप्त करना। (३) भावी कार्य-क्रम बनाना; त्रुटियों की पूर्ति करना और विकास-साधनों की उपलब्धि का प्रयत्न। (४) महोत्सव में जनता को आमन्त्रित कर उसे उपदेशामृत-पान कराना तथा कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होने के लिए प्रेरणा देना।

इन पंक्तियों का लेखक हाथरस कन्या-गुरुकुल के जन्मकाल से ही उससे सम्बन्धित है; अतः उसको उसकी अवस्था का ठीक-ठीक ज्ञान है। इस संस्था के जीवन में अनेक भीषण कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं, जिनसे इसके जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो गया। परन्तु परमात्मा की कृपा से विघ्न-बाधाओं की भयंकर बदलियाँ दूर हो गयीं। इस सम्बन्ध में हम परम आदरणीय स्वर्गीय श्री महात्मा नारायण स्वामीजी महाराज के आभारी हैं जिन्होंने जनता की हित-दृष्टि से इस संस्था का प्रधान होना स्वीकार किया और अपने असीम अनुभव और महान् कौशल के द्वारा संस्था का संचालन एवम् कार्यसमिति और कार्यकर्त्ताओं का पथ-प्रदर्शन किया।

ऋषि दयानन्द और शिक्षा-प्रणाली

[श्री रामेश्वर शास्त्री, सिद्धान्त-शिरोमणि, एम. ए., गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन]

श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती महाराज आधुनिक वैदिक मन्त्रद्रष्टा महर्षि थे। उन्होंने मानव मात्र के कल्याण के लिये प्रभु की पवित्र वाणी वेद का सन्देश दिया। ब्रह्मा से लेकर जैमिनि ऋषि पर्यन्त अपनाये गये वैदिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया और ऋषियों के मन्तव्यों को समन्वयात्मक दृष्टि से देखते हुए पुनः उनका प्रचार किया। समाज में प्रचलित जिन ऊँच-नीच के भेद-भावों तथा यज्ञों में होने वाली पशु-बलि को देखकर महात्मा गौतमबुद्ध ने वेदों की उपेक्षा की थी, महर्षि ने उनके सम्बन्ध में वेदों के मन्तव्य का यथार्थ रूप दर्शाते हुए बतलाया कि वेद किसी भी प्रकार की याज्ञिक हिंसा का प्रतिपादन नहीं करते और न मनुष्यों में ऊँच-नीच के भेद-भावों को ही स्थापित करते हैं, बल्कि मानव मात्र को प्रभु के सन्देश के अनुसार समान रूप से अपनी उन्नति करने का अधिकार प्रदान करते हैं। महाभारत-काल से बिगड़े हुए समाज के ढाँचे को सुधारने के लिए महर्षि ने अपने अमूल्य ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना की और संसार के उपकार के लिए एक आदर्श समाज "आर्यसमाज" की स्थापना की; जिसकी पवित्र

वेदी पर आकर सब लोग विना भेद-भाव के समान रूप से अपनी शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति कर सकें। प्रत्येक आर्य के लिए वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना परम धर्म ठहराया और बतलाया कि प्रत्येक आर्य को सत्य के ग्रहण करने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये और विचार पूर्वक कार्य करते हुए समाज के हित को व्यक्ति के हित की अपेक्षा अधिक महत्त्व देना चाहिये। इस प्रकार संसार में सुख-शान्ति का वातावरण उत्पन्न होकर मनुष्य सुख एवं शान्ति प्राप्त कर सकता है।

आज हम स्वतन्त्र हैं। हमारा भारत अनेक दृष्टियों से उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है। विशेष कर वह श्री प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू के प्रभाव से विदेशों में उत्तरोत्तर सम्मान प्राप्त कर रहा है। परन्तु शिक्षा-क्षेत्र की पूर्ववत् ही दुरवस्था है। मानसिक दासता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। पाश्चात्य शिक्षा की अपूर्व देन 'दिखावट' से देशवासियों को छुटकारा नहीं मिल रहा। बेचारी भारतीय संस्कृति दिल-दिमागों से कोसों दूर है। विचारों को शुद्ध करने वाली संस्कृत भाषा का पठन-पाठन अवरुद्ध-सा हो रहा है। अनुशासन-हीनता दिनदिनों बढ़ रही है। राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी का 'रामराज्य' तो कोरी कल्पना ही बना हुआ है। संक्षेप में कहा जाय तो कह सकते हैं कि स्वराज्य में सुराज्य की स्थापना का कोई चिन्ह नहीं दिखलायी दे रहा।

आर्यसमाज ने अपने प्रारम्भ काल से ही शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया और शिक्षा-क्षेत्र में अन्यों की अपेक्षा बहुत बड़ा कार्य किया, जिसकी लोग मुक्तकण्ठ से सराहना कर रहे हैं। आज सैकड़ों की संख्या में डी० ए० वी० हाईस्कूल, कालिज, पाठशाला, गुरुकुल और कन्या-गुरुकुल आदि संस्थाएँ आर्यसमाज के संचालन में कार्य कर रही हैं। इस समय आवश्यकता है कि शिक्षा-क्षेत्र में आमूल-चूल परिवर्त्तन किये जायँ जिससे कि शिक्षा प्रत्येक भारतीय की शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक उन्नति में सहायक होती हुई उसे अपने पैरों पर खड़ा करके जीविका के लिए परमुखापेक्षी न होने दे। विद्यार्थी एवं गुरुओं में अपनी भारतीय वेश-भूषा एवं संस्कृति के लिये सच्चा अनुराग उत्पन्न करे। विद्या के प्रभाव से विद्यार्थियों में विनम्रता आवे और उनमें परस्पर भाई चारा स्थापित हो। शिक्षा के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से रखा है। स्वमन्तव्यामन्तव्य में शिक्षा की परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है—"शिक्षा"—जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मा, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें उसको शिक्षा कहते हैं।

आर्य शिक्षाशास्त्रियों से विनम्र निवेदन है कि वे देखें कि आर्यसमाज की देखरेख में संचालित होने वाली शिक्षा-संस्थाओं में महर्षि-निर्दिष्ट शिक्षा के दृष्टिकोण को व्यावहारिक रूप दिया जा रहा है, या नहीं। इस समय इसके अनुसार कार्य करने की बड़ी आवश्यकता है, जिससे देश में स्वतन्त्र भारत के अनुरूप ही आदर्श शिक्षा-प्रणाली प्रचलित हो सके। यद्यपि लगभग ५५ वर्ष पूर्व आर्य नेताओं द्वारा गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का प्रचलन हुआ और उसने तत्कालीन शिक्षा-क्षेत्र में एक बड़ी क्रान्ति उत्पन्न की जिससे

लोगों का ध्यान किताबी शिक्षा के साथ विद्यार्थी के चरित्र-निर्माण की ओर हुआ और गुरुकुलों ने सरकारी सहायता न लेते हुए भी अपने सीमित साधनों के आधार पर पर्याप्त उन्नति की। परन्तु अब समय के अनुकूल उन्हें अपने में आवश्यक परिवर्त्तन करने चाहिएँ और वर्षों की परीक्षाओं में सिद्ध हुई अपनी आश्रम-वास की प्रणाली पर बल देते हुए शिक्षा-क्षेत्र में समय-समय पर परीक्षण किये गये व्यापक दृष्टिकोणों को अपनाना चाहिये।

गुरुकुलों ने अपने प्रारम्भिक परीक्षणकाल में एक जीवनोपयोगी ऋग्वेद के उपवेद आयुर्वेद की महत्त्वपूर्ण शिक्षा की ओर ध्यान दिया परन्तु समय-समय पर आर्य जनता की अप्रासंगिक आलोचनाओं से कार्यकर्त्ताओं एवं स्नातकों में इसके लिये विशेष उत्साह उत्पन्न न हो सका जिसके परिणाम स्वरूप आयुर्वेद की साङ्गोपाङ्ग आदर्श शिक्षा भी प्रचलित न हो सकी। यदि आयुर्वेद की शिक्षा के लिये जनता की पर्याप्त सहायता मिलती तो इसमें सन्देह नहीं गुरुकुल इस दिशा में विशेष सफल हुए होते। वेदों के महत्त्व को दर्शाने के लिये उसके उपवेद आयुर्वेद के चिकित्सा विषयक चमत्कारों को जिनका ऋषियों ने प्रतिपादन किया है, जनता के समक्ष क्रियात्मक रूप में प्रकट करना परमावश्यक है। आर्यसमाजों को इस ओर भी विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। यदि इस समय एलोपैथी की तुलना में आयुर्वेद के महत्त्व को स्थापित किया जा सके तो इसमें संदेह नहीं कि वह प्रत्यक्ष रूप में वेदों का ही महत्त्व स्थापित करना होगा। इस समय सरकार आयुर्वेद की उन्नति के लिये प्रयत्नशील है। आर्य-संस्थाओं के संचालकों को चाहिये कि वे इस सुअवसर से लाभ उठावें।

यूरोप में संस्कृत-विद्याओं का अन्वेषण

[श्री पं० शंकरदेव, विद्यालंकार, एम० ए०, गुरुकुल काँगड़ी]

ईसा की पंद्रहवीं शती के अन्त में समुद्र-मार्ग से यूरोपियन यात्रियों, सार्थवाहों (व्यापारियों) और ईसाई धर्म-प्रचारकों का भारत में आवागमन प्रारम्भ हो गया था। इन पर्यटकों और धर्म-प्रचारकों का ध्यान भारतीय साहित्य और संस्कृति के अनुशीलन के लिए विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। इसी समय ये धर्मयात्री संस्कृत-भाषा की चारुता और गठन के प्रति मुग्ध हुए। संस्कृत-भाषा का ज्ञान होने पर यूरोपियन भाषाओं के साथ उसकी आश्चर्यजनक समता को निहार कर इन मनीषियों ने तुलनात्मक भाषा-शास्त्र और व्याकरण के गहरे अनुशीलन के लिए संस्कृत-भाषा और संस्कृत वाङ्मय की विशेष छान-बीन प्रारंभ कर दी।

संस्कृत-भाषा के विषय में यूरोपियन-भाषा में सब से पहली पोथी लिखने का श्रेय एक जर्मन मिशनरी को है। इसका नाम है हेनरिख रौथ। यह आगरे में जेसुइट पादरियों की विद्याशाला का अध्यक्ष था। सन् १६६८ में आगरे में ही इसका देहान्त

हुआ था। इसने संस्कृत व्याकरण पर एक पुस्तक लिखी, जो छपी नहीं। इसकी हस्त--प्रति रोम नगर में अब तक सुरक्षित है।

सन् १६५१ में हालैण्ड के एक पादरी आब्राहम रोजर ने कविवर भर्तृहरि के सुभाषितों का डच-भाषा में अनुवाद किया। यह भी मद्रास प्रान्त में ईसाई प्रचारक था। इस पुस्तक का पुर्तगीज भाषा में एक ब्राह्मण ने अनुवाद किया। इसी का जर्मन भाषान्तर सन् १६६३ में न्यूरेनबर्ग में प्रकाशित हुआ था।

बेंजामिन शुल्ट्ज नामक एक जर्मन पादरी दक्षिण भारत में रहकर बाइबल का तामिल-भाषा में अनुवाद कर रहा था। इस सिलसिले में उसे संस्कृत और यूरोपियन-भाषाओं की आश्चर्यजनक समानता का परिज्ञान हुआ। अगस्त सन् १७२५ में अपने मित्र प्रोफ़ेसर फान्कन को पत्र लिखते हुए उसने संस्कृत संख्याओं की जर्मन और लैटिन संख्याओं से समता का उल्लेख किया था। इससे भी पहले, सोलहवीं शती के सासेटी नामक एक इटालियन विद्वान् ने कहा था—संस्कृत एक अति मनोरम और संगीतमयी भाषा है। इसने इटालियन शब्द "दिओ" का संस्कृत के "देव" शब्द से साम्य दिखलाया। सन् १७६६ में एक फ्रेंच ज्योतिर्विद् लाजेन्टिल दक्षिण के ब्राह्मण पंडितों से संस्कृत-भाषा और ज्योतिः शास्त्र का अध्ययन कर रहा था।

यूरोपियन-भाषा में मुद्रित रूप में सब से पहले उपलब्ध होने वाली पुस्तक संस्कृत व्याकरण के विषय में है। यह लातानी (लैटिन) भाषा में है। इसका लेखक पाओलिनो बार्थोलोमियो नामक एक आस्ट्रियन ईसाई साधु था। यह भी मलाबार-तट पर धर्म-प्रचारक था। यह पुस्तक सन् १७८० में रोम में छपी थी। बार्थोलोमियो की पुस्तक का आधार एक जर्मन जेसुइट पादरी हेग्सेलेडन की हस्तलिखित पुस्तक था, जो उसने सन् १६६६ में लिखी थी। यह पादरी भी मलाबार में तीस वर्ष तक कार्य करता रहा था। इसकी पुस्तक भी आज तक छापी नहीं गई !

इँगलिस्तान के विद्वानों का सांस्कृतिक संबंध भारतीय साहित्य से उस समय स्थापित हुआ, जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी का आधिपत्य १८ वीं शती के पिछले भाग में, बंगाल में स्थिर हुआ। कम्पनी के अनेक कार्यकर्त्ता भारतीय साहित्य विशेषतया संस्कृत भाषा और संस्कृत वाङ्मय के अनुशीलन के लिए आकृष्ट हुए। उन्होंने भारतीय साहित्य का अध्ययन, और विवेचन प्रारम्भ किया। प्राचीन हस्त-लिखित ग्रंथों की खोज शुरू की। बंगाल के तत्कालीन गवर्नर जनरल वारन हेस्टिङ्स को राज्य-शासन की दृष्टि से हिन्दू धर्म-शास्त्रों के आधार पर बने हुए एक कानून-संग्रह की आवश्यकता प्रतीत हुई। उसकी प्रेरणा से हिन्दू पंडितों ने "विवादार्णवसेतु" नामक कानूनी ग्रंथ का संकलन किया। इसका फ़ारसी अनुवाद कराया गया और इस फ़ारसी अनुवाद पर से अँगरेजी भाषान्तर किया गया। यही क़ानून-संग्रह सन् १७७६ में "ए कोड ऑफ गेन्टू लॉ" नाम से प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ की प्रस्तावना में संस्कृत शास्त्रों के अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए गए। इनसे संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य की अनेक बातें पहली बार ही इन आँग्ल-शासकों को

ज्ञात हुईं। यूरोपियन लोगों को संस्कृत-साहित्य से परिचित कराने में चार्ल्स विल्किन्स का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण हाथ है। वारन हेस्टिंङ्स की प्रेरणा से चार्ल्स विल्किन्स ने काशी में रह कर संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। सन् १७८५ में विल्किन्स ने भगवद्-गीता का अंगरेजी भाषान्तर किया। हितोपदेश की कहानियों तथा महाभारत के शकुन्तला आख्यान का आँग्ल भाषान्तर भी विल्किन्स ने ही किया।

परन्तु पश्चिम में संस्कृत के गहरे अध्ययन को प्रारम्भ करने का तथा अन्य विद्वानों को भी उसकी ओर प्रवृत्त करने का महान् श्रेय सर विलियम जोन्स (१७४६–१७६४) को है। ये ईस्ट इंडिया कम्पनी के उच्च-न्यायालय के प्रधान न्यायपति थे। विविध विषय-गामिनी प्रज्ञा के धनी जोन्स महाशय संस्कृत भाषा और संस्कृत वाङ्मय की ख़ूबी पर लट्टू हो गए। भारत में ये केवल ग्यारह वर्ष रह पाए। परन्तु इन ग्यारह वर्षों में बड़ी साधना और तपस्या के साथ इन्होंने संस्कृत-भाषा में अद्भुत व्युत्पन्नता प्राप्त कर ली। आप ही के सत् प्रयत्नों से कलकत्ता में एशियाटिक सोसायटी की स्थापना हुई जो प्राची के साहित्य का अनुसंधान करने वाला एक विश्व-विश्रुत प्रतिष्ठान है। इस संस्था द्वारा पश्चिम में भारतीय विद्याओं के अनुशीलन का बड़ा कुतूहल जाग उठा। सन् १७८६ में जोन्स महोदय ने कविगुरु कालिदास की श्रेष्ठ कृति शाकुंतल का अँगरेजी भाषान्तर प्रकाशित किया। दो वर्ष पश्चात् इस आँग्ल अनुवाद के आधार पर जार्ज कोर्स्टर ने 'शाकुन्तल' का जर्मन भाषान्तर प्रकाशित किया। इस अनुवाद को पढ़ कर हर्डर और गेटे जैसे विद्वान् आनन्द से नाच उठे। जर्मन कवि-मनीषी गेटे ने अपनी आनन्द-विभोर दशा में शाकुंतल के विषय में जो पद्य-मय उद्गार प्रकट किए थे उसका अँगरेजी अनुवाद इस प्रकार है।

Wouldst thou the young years blossom
  And the fruits of its decline,
And all by which the soul is charmed,
  Enraptured, feasted and fed ?
Wouldst thou the earth and heaven itself
  In one sole name combine ?
I name thee, O Sakuntala
  And all at once is said.

सहृदय वाचकों के मनोरंजन के लिए इस पद्य का सुरम्य संस्कृत में श्लोक-बद्ध अनुवाद (श्रीयुत पं० ताराकुमार कविरत्न कृत) दिया जाता है—

वासन्तं मुकुलं फलं च युगपत् ग्रीष्मस्य सर्वं च यत्
यत् किंचिन्मनसो रसायन मथो संतर्पणं मोहनम्।
एकी भूतमभूत पूर्वं मथवा स्वर्लोक भूलोकयोः
ऐश्वर्यं यदि कोऽपि कांक्षति तदा शाकुन्तलं सेव्यताम्॥

नव वत्सरेर कुड़ि, तारि एक पाते वर्ष शेषेर पक्कफल।
प्राण करे चुरि आर, तारि एक साथे प्राणे एने देय पुष्टिबल॥
आछे स्वर्गलोग आर, सेइ एक ठाँई, बाँधा येथा आछे महीतल।
हेन यदि कभु थाके, तुमि तवे ताइ, ओहे अभिज्ञान शकुन्तल॥

(कवीन्द्र रवीन्द्र कृत बंगानुवाद)

उन्हीं दिनों फ्रांस के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ प्रो० शेजी ने भी शाकुंतल का फ्रैंच भाषान्तर किया था। इस फ्रैंच अनुवाद को पढ़कर भी कविवर गेटे ने कालिदास की अपूर्व प्रतिभा के विषय में विस्तार से एक सुन्दर प्रशस्ति प्रो० शेजी के प्रति लिखी थी।

जोन्स महोदय ने 'मनुस्मृति' का भी अँगरेजी भाषान्तर किया और कालिदास के 'ऋतु संहार' का सुन्दर अँगरेजी संस्करण सन् १७६२ में प्रकाशित किया। सन् १८०८ में चार्ल्स-बिल्की-रचित संस्कृत व्याकरण को छापने के लिए यूरोप में सब से पहले संस्कृत टाइप का उपयोग किया गया। ये टाइप भी बिल्की ने स्वयं बनाए थे। बिल्की ने ही पहले-पहल कुछ एक भारतीय शिलालेखों को पढ़ा और कुछ का अँगरेजी अनुवाद किया। जोन्स महोदय द्वारा अनुवादित मनुस्मृति का जर्मन भाषान्तर सन् १७६७ में प्रकाशित हुआ

सर विलियम जोन्स की प्रेरणा से ही हेनरी थामस् कोलब्रूक् ने "ए डाईजेस्ट ऑफ हिन्दू लॉ ऑफ् कान्ट्रेक्टस् एण्ड सक्सेशन" नामक अपना विशाल विख्यात ग्रंथ प्रकाशित किया। कोलब्रुक् महाशय ने 'अमरकोष', 'अष्टाध्यायी', 'हितोपदेश', 'किराता-र्जुनीय' आदि अनेक संस्कृत ग्रन्थों का सम्पादन किया। कई शिला-लिपियों का अनुवाद भी किया। दस हजार पौण्ड की कीमत के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह भी लोकब्रुक् के प्रयत्नों का परिणाम है। यह समस्त ग्रन्थ-संग्रह इन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सौंप दिया, जो कि लंदन के इंडिया ऑफिस पुस्तकशाला में सुरक्षित है। सन् १८०५ में आपने वेदों पर निबन्ध लिखकर यूरोप का ध्यान आर्य जाति की आदिम पवित्र पुस्तक की ओर आकृष्ट किया। कोलब्रुक महाशय १७८२ में कलकत्ता आये थे और कई वर्षों तक भारत में रहे।

एक अन्य आँग्ल-सज्जन का नाम जिन्होंने भारत में रहकर संस्कृत विद्या का अच्छा अनुशीलन किया था, स्मरणीय है। वे थे अलेग्ज़ेण्डर हेमिल्टन। ये सन् १८०२ में अन्य अँगरेज यात्रियों-सहित इँगलैण्ड लौट रहे थे। उन दिनों इँगलैण्ड और फ्रांस की आपस में अनबन होने के कारण नेपोलियन बोनापार्ट की आज्ञा से इनको पेरिस में बंदी बना लिया गया। इनका यह कारावास यूरोप में संस्कृत विद्या के प्रसार का कारण बन गया। अपने बंदी जीवन में इन्होंने कई यूरोपीयन विद्वानों को संस्कृत भाषा सिखाई। फलतः उन लोगों ने बड़ी गंभीरता और उत्साह से संस्कृत विद्याओं का अनुशीलन आरंभ किया। यह प्रशंसनीय प्रयत्न यूरोप में "संस्कृत विद्या की खोज" नाम से विख्यात हो

गया। हेमिल्टन के इन शिष्यों में विश्रुत जर्मन-मनीषी और सुकवि फ्रेड्रिक श्लीगल का नाम उल्लेखनीय है।

श्लीगल महोदय ने भारत की भाषा और दार्शनिक प्रतिभा पर एक युग-प्रवर्त्तक ग्रंथ लिखा। इसी ग्रंथ द्वारा सर्व-प्रथम तुलनात्मक और ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति का सूत्रपात हुआ। इस सुन्दर ग्रंथ में रामायण, गीता, मनुस्मृति के अच्छे-अच्छे अंशों का जर्मन भाषान्तर भी दिया गया था। फ्रेड्रिक श्लीगल के भ्राता आगस्ट विल्हेलम श्लीगल, प्रो० शेजी (संस्कृत के विश्रुत फ्रैंच विद्वान्) के शिष्य थे। ऑगस्ट श्लीगल ने केवल तुलनात्मक भाषा-शास्त्र के क्षेत्र में अपनी अमूल्य देन ही नहीं प्रदान की, अपितु संस्कृत के अनेक मूल ग्रंथों का संपादन और भाषान्तर भी किया। वे सन् १८१८ में जर्मनी के बौन्न विश्व-विद्यालय में संस्कृत के प्रधान उपाध्याय नियुक्त किए गए। आपने लातानी भाषा में 'भगवत्गीता' का संस्करण भी तैयार किया। श्लीगल के एक शिष्य क्रिश्चियन लेसन को भारतीय विद्याओं के प्रति विशेष अनुराग था। श्लीगल के समसामयिक फ्रांस बाय ने संस्कृत का लातानी, यूनानी आदि भाषाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया और इस प्रकार भाषा-विज्ञान की नींव डाली। बाय महाशय भी प्रो० शेजी के शिष्य थे। बाय ने रामायण और महाभारत का भाषान्तर भी किया। इनके लिखे संस्कृत व्याकरण के जर्मनी में संस्कृत के अनुशीलन को बड़ा प्रोत्साहन दिया। तुलनात्मक भाषाशास्त्र के क्षेत्र में किए गए बाय महाशय के कार्य को प्रख्यात जर्मन-मनीषी विल्हेल्म वान हंबोल्ट ने बड़ी व्यापक पद्धति पर विकसित किया। हंबोल्ट ने भारतीय दर्शनों के अनुशीलन में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भारतीय काव्यानुशीलन के क्षेत्र में जर्मन पंडित फ्रेड्रिक रुकर्ट ने भी प्रशंसनीय कार्य किया। रुकर्ट अनुवाद के कार्य में सिद्धहस्त थे। इनके द्वारा जर्मनी में संस्कृत-साहित्य बहुत लोकप्रिय हुआ।

१६ वीं शती के प्रारंभ में दाराशिकोह के उपनिषदों के फ़ारसी अनुवाद के आधार पर फ्रैंच विद्वान् आँकेतील दु-पैरों ने एक लातानी अनुवाद प्रकाशित किया। उसे पढ़कर कई जर्मन तत्त्वचिंतक (शेलिंग, काँट, शिलर, शोपनहार आदि) चमत्कृत हो उठे। शोपनहार तो भाव-विभोर होकर कहने लगा—यह तो मानवीय मेधा का उच्चतम उत्कर्ष है।

वैदिक साहित्य को छानबीन का काम सन् १८३० में फ्रेड्रिक रोजेन ने प्रारंभ किया। यह कार्य प्रख्यात फ्रैंच पुराविद् यूजेन बर्नफ़ की शिष्य-मण्डली द्वारा आगे-आगे बढ़ता रहा। बर्नफ़ ने सबसे पहले फ्रैंच में वेदों की व्याख्या की। गोरेशियो, नेबी, गोल्डस्टकर, सेंट हिलेयर आदि विद्वान् बर्नफ़ के ही शिष्य थे। रुडोल्फ रौथ और मैक्समूलर जैसे महामनीषी भी बर्नफ़ के शिष्य थे। मैक्समूलर ने ऋग्वेद का सायण-भाष्य-युक्त सुविख्यात संस्करण संपादित और प्रकाशित किया। रौथ के विख्यात शिष्य एच० ग्रासमैन ने ऋग्वेद का अविकल जर्मन भाषान्तर लाइपशिग् से प्रकाशित किया। इसी समय आँग्ल प्रत्नतत्त्व प्रवीण एच० एच० विलसन महाशय ने सायणाचार्य की शली

पर ऋग्वेद का अँगरेजी भाषांतर किया। इसी प्रकार एलफ्रेड लुडविग् ने सम्पूर्ण ऋग्वेद की जर्मन गद्य में विशद व्याख्या छह जिल्दों में प्राग नगर से प्रकाशित की। इसके अनन्तर आर० पिशेल और एम० गेल्डनर नामक जर्मन मनीषियों ने मिलकर तेरह वर्ष के सतत प्रयत्न के पश्चात् "वैदिक स्टडीज़" नामक विशद ग्रंथ जर्मन भाषा में स्टुटगार्ट से प्रकाशित किया। वेदों की खोज के क्षेत्र में जर्मन विद्वान् थियोडोर आफ्रेक्ट ने मैक्समूलर से पहले १२ वर्ष के परिश्रम के पश्चात् रोमन लिपि में ऋग्वेद छपाया (सन् १८७२)।

पश्चिम में संस्कृत विद्यानुशीलन के क्षेत्र में "सेंट पीटर्स वर्ग डिक्शनरी" (संस्कृत-जर्मन महाशब्द कोष) का प्रकाशन (सन् १८५२-१८७५) अतिशय महत्त्व की घटना है। छब्बीस वर्ष के अखंड उद्योग से ओटो बोहतलिंक और रुडोल्फ रौथ ने इसका संकलन और संपादन किया। इसका प्रकाशन सेंटपीटर्स वर्ग का 'एकेडेमी ऑफ़ आर्टस् एण्ड साइन्स" ने किया था। जर्मन मनीषी एलफ्रेड बीवर का "भारतीय साहित्य का इतिहास" भी सन १८५२ में प्रकट हुआ। इसका अँगरेजी अनुवाद लन्दन से प्रकट हुआ है। डाक्टर विन्टर निट्ज के शब्दों में यह ग्रंथ वर्षों तक भारतीय साहित्य के परिचय के लिए प्रामाणिक रूप से काम देता रहेगा।

थियोडोर आफ्रेक्ट ने "केटेलोगस् केटेलोगोरम्" तैयार करके संस्कृत ग्रंथों और उनके प्रणेताओं की एक विशाल सूची बनाकर अपने ढंग का एक अपूर्व कार्य किया। इस विशाल सूची-पत्र को बनाने में ४० वर्ष लगे। तेरह वर्ष तो इसके छपने में ही लग गए। इस विराट् सूची-पत्र का अभिनव संस्करण भारत में मद्रास-विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग द्वारा डाक्टर वे० राघवन् की अधिनायकता में तैयार हो रहा है। एक खंड छपकर तैयार हो गया है। इस दिशा में डाक्टर सिल्वन् लेवी (फ्रांस) और डाक्टर विन्टरनिट्ज़ (चेकोस्लोवाकिया) के प्रयत्न भी प्रशंसनीय हैं।

आँग्ल-मनीषी आर्थर एन्थनी मेकडोनल का "वैदिक व्याकरण" और वैदिक माइथोलोजी" भी बड़े उपयोगी ग्रंथ हैं। मेकडोनल और आर्थर बेरीडेल कीथ के संयुक्त पुरुषार्थ द्वारा प्रस्तुत "वैदिक इण्डेक्स" (शब्दानुक्रमणी) की यूरोप में बड़ी प्रशंसा हुई है। वैदिक साहित्य के पर्यालोचन में मौरिस ब्लूमफ़ील्ड की पुस्तक "वैदिक कोन्कोर्डेन्स" ने भी शास्त्र-प्रेमियों को बहुत सहायता पहुँचाई है। विलियम डवाईट व्हिटनी (अमेरिका) का संस्कृत व्याकरण अब तक बहुत उपयोगी सिद्ध हो रहा है। कलकत्ता संस्कृत कालेज के आचार्य एडवर्ड बाइल कावेल ने सर्वदर्शन संग्रह, बुद्ध चरित्र आदि अनेक ग्रंथों का अनुवाद और संपादन किया। काशी के राजकीय संस्कृत कॉलेज के प्रिन्सिपल आर्थर वेनिस् के प्रयत्न भी स्तुत्य हैं।

आँग्ल विद्वान् एच० एच० विलसन महाशय ने वायु-पुराण का भाषान्तर करके पश्चिमी और भारतीय विद्वानों का ध्यान पौराणिक साहित्य की ओर आकृष्ट किया। फलतः यूजैन बर्नफ, ज्यूलियस् एजेलिंग, विल्फोर्ड आदि विद्वानों ने पुराणों की अच्छी

छान-बीन की। पुराणों के ऐतिहासिक महत्त्व के विषय में पार्जिटर तथा किर्फेल (बॉन विश्वविद्यालय-जर्मनी) ने जो विशद् विवेचन किए हैं, उन्होंने पुराणों के महत्त्व को और भी बढ़ा दिया है।

आर्यों के ज्योतिः शास्त्र के विषय में भी पाश्चात्य विद्वानों ने अच्छी गवेषणा की है। ला जेन्टिल नामक एक फ्रैंच विद्वान् दक्षिण में (सन् १७६७ में) संस्कृत भाषा और ज्योतिर्विद्या सीख रहा था। उसने अपनी खोज का परिणाम १७७२ में प्रकाशित किया। सर राबर्ट चैम्बर्स ने बनारस में 'सूर्यसिद्धान्त' का पता चलाया और उसे अपने मित्र सेमुअल डेविस् के समीप भेज दिया। डेविस् ने उसके बहुत-से अंशों का अनुवाद किया।

जिन यूरोपियन सुधीजनों ने भारत में रहकर हमारे पुरातन साहित्य के अन्वेषण और अनुशीलन में भगीरथ प्रयत्न किए हैं, उनमें फ्लीट, विन्सेन्ट स्मिथ, अलेग्जेण्डर कनिंघम, सर जान मार्शल, स्टाईन, जार्ज ग्रियर्सन, फरग्यूसन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त जिन यूरोपीय मनीषियों ने संस्कृत विद्या के अनुसन्धान में अपना मूल्यवान् जीवन लगा दिया है, उनमें ज्यार्ज बुहलर, जे० म्यूर, फ्रांक कीलहार्न, ई० रारे, एच० ल्यूडर, हरयान याकोबी, ई० सेनार्त, सिलवन लेवी, होपकिन्स, ई० हुल्श, बरनल, मोनियर विलियम्स, थियोडोर गोल्डस्टकर, ज्यार्ज थीबो, जूलियस् जौली, मौरिस् विन्टरनिट्ज़, कीथ आदि के नाम अग्रगण्य हैं।

निःसन्देह पश्चिमी विद्वानों की इन श्रमसाध्य गवेषणाओं से भारत को बड़ा लाभ पहुँचा है। इन खोजों के कारण भारत के पुरातन गौरव से पश्चिम अच्छी तरह परिचित हुआ है। हमारे अपने देश में भी विद्या और विज्ञान के सभी क्षेत्रों में शास्त्रीय पद्धति से अन्वेषण करने की आकांक्षा उद्दीप्त हुई है। इतिहास और पुरातत्त्व के क्षेत्र में तो इससे भारतीय विद्वानों ने बहुत लाभ प्राप्त किया है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि पश्चिमी विद्वानों की ये गवेषणाएँ पूर्ण और निर्दोष हैं या उनका खण्डन और पुनः समीक्षण नहीं किया जाना चाहिए। सच तो यह है कि इनमें से अनेक विद्वानों ने भारतीय साहित्य, संस्कृति और परम्पराओं को अशुद्ध रूप में अवगत किया है तथा अशुद्ध रूप में प्रतिपादित किया है। अनेक स्थानों पर हमारे इतिहास, धर्म, दर्शन, कला, और साहित्य के स्पष्टीकरण तथा निरूपण में जाने-अनजाने इन विद्वानों द्वारा बड़ा अन्याय हुआ है। उसका प्रधान कारण यह है कि इनमें से बहुत-से अन्वेषक जातीय पक्षपात से ऊपर नहीं उठ पाये हैं। स्वाधीन भारत के पथान्वेषी मनीषियों का काम है कि पाश्चात्य पण्डितों से हमारे इतिहास तथा वाङ्मय के साथ जो अन्याय हुआ है, उसकी विधिवत् परिमार्जना और परिशुद्धि करें! जिससे सभ्यता और संस्कृति की यह प्यारी लीलाभूमि भारत अपने वास्तविक गौरव से आलोकित हो उठे। तथास्तु।

सन्ध्योपासना और स्वास्थ्य

[स्नातिका सुशीलाकुमारी विदुषी, विद्याविभूषिता, बी० ए०]

आयुर्वेद के महान ग्रन्थ 'चरक संहिता' के अनुसार आदि काल 'कृतयुग' में मनुष्य की आयु का मध्यमान चार-सौ वर्ष था। वह घटते-घटते 'चरक संहिता' के निर्माण-काल में सौ वर्ष का हो गया था। आज का आयु-मान और आरोग्य की दशा विज्ञों को सुविदित ही है। प्राचीनों के सुन्दर स्वास्थ्य और महती दीर्घायु का कारण बालब्रह्मचारी भीष्म पितामह के निम्न वचन से स्पष्ट है :—

ऋषयो नित्य संध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः

अर्थात् नित्य प्रातः-सायं संध्योपासन के प्रभाव से ही ऋषियों ने यह दीर्घायु प्राप्त की थी, परन्तु ऊपरी मन से बाह्याडम्बर के लिये किये गये संध्या-नाट्य से यह सम्भव नहीं है। प्रभाव तो हार्दिक श्रद्धापूर्वक किये सन्ध्या के अनुष्ठान का ही है। समस्त सन्ध्या विशेषकर उसके प्रारम्भ और अन्त में प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग का स्पर्श तथा उसका मार्जन करके साधक उसके आरोग्य और शक्ति का संकल्प करता है। सन्ध्या के अनन्तर दैनिक यज्ञ (हवन) के प्रारम्भ में मन्त्रान्तरों से पुनः यही प्रक्रिया प्रारंभ होती है। अवान्तर-काल में अङ्ग-प्रत्यङ्ग के आरोग्य और शक्ति-संचय के लिये जो तत् तत् प्राणायामादि किया जाता है, सो अतिरिक्त है। इस संकल्प और श्रद्धापूर्वक सन्ध्योपासना का ही यह फल है कि प्राचीन आर्य्य दीर्घायुष्य होने पर भी वार्धक्य (जरदष्टि) का आनन्द भोगते थे।

अनुष्ठान के अतिरिक्त केवल संकल्प का भी प्रभाव शरीर पर प्रबल होता है यथा:-

स मनसा ध्यायेद्-यद् वा अहं किंचन मनसा
ध्यास्यामि, तथैवतद् भविष्यति। तद्धस्म तथैव भवति

—गोपथ ब्राह्मण पू० १।६

अर्थात् पुरुष मन में संकल्प करे, मैं जिस वस्तु का मन से ध्यान करूँगा वह वैसी ही बन जावेगी, यथार्थरूपेण वह वस्तु वैसी ही बन जाती है। केवल अन्तः प्रकृति पर ही नहीं बाह्य प्रकृति पर भी संकल्प का ऐसा ही प्रभाव शास्त्रकार बताते हैं। एक स्थान पर ब्राह्मण ने कहा है "भिन्न-भिन्न यज्ञकर्त्ता जलद मेघों के आगमन, गर्जन, वृष्टि आदि का ध्यान करें तो प्रकृति में आवश्यक परिवर्त्तन होकर वृष्टि अवश्य होनी चाहिये।"

संध्योपासन में जो मानसिक प्रबल संकल्प होता है, वही स्थूल शरीर पर स्वास्थ्य और दीर्घायु सम्बन्धी प्रभाव डालता है और सूक्ष्म शरीर को प्रभावित कर मानसिक आनन्द, बौद्धिक शान्ति और आत्मिक एकाग्रता का साधन बनता है। संध्या प्रकरण के निम्न मंत्र यह प्रकट करते हैं कि शरीरावयवों के विषय में क्या मानसिक संकल्प व्यक्तियों का होना चाहिये—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्र मुच्चरत् । पश्येम
शरदः शतं, जीवेम शरदःशतं, शृणुयाम शरदः शतं,
प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्
(यजुर्वेद ३६/२४)

साधक ध्यान करते हैं, मानसिक संकल्प द्वारा दृढ़ निश्चय, प्रातः सायं दो बार करते हैं, कि शत वर्ष पर्यन्त नेत्रों से देखते रहें। सौ वर्ष पर्यन्त हम नासिका से प्राण ग्रहण करते रहें। सौ वर्ष पर्यन्त हम कर्णेन्द्रिय से श्रवण करते रहें। वाक् इन्द्रिय से प्रवचन करते रहें। सौ वर्ष पर्यन्त हम अ-दीन रहकर, स्वतन्त्र रहकर, आयु-स्वास्थ्य का भोग करते रहें, इतना ही क्यों शतवर्ष की इस मर्य्यादा का भी अतिक्रमण कर जावें। पुनश्च, आयु की समाप्ति तक—

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षु रक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता वहुवाह्वोर्बलम् ॥
उर्वोरोजोजङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा।
अरिष्ठानिमे सर्वाऽत्माऽनिमृष्टः (अथर्ववेद १६/६०-६१)

मेरे मुख में वाचा रहे, नासिका में प्राण रहे, नेत्रों में दर्शन-शक्ति रहे, एवं कर्णों में श्रवण-शक्ति रहे। केशपलित (पक तथा श्वेत) न होवें, दांतों से रक्त न निकले तथा बाहुओं में विपुल बल होवे। उरुओं में ओज, जङ्घाओं में वेग और पादों में प्रतिष्ठा (संपूर्ण शरीर को-सँभाल रखने की शक्ति) होवे। सर्व अवयव दृढ़-अविकल रोग रहित रहें तथा आत्मा सदा तरुण भावना वाला रहे।

वैदिक वाङ्मय संकल्प-मानसिक दृढ़ निश्चय द्वारा शरीरोत्कर्ष लाभ के प्रकरणों से ओत-प्रोत है।

योगदर्शन के विभूति पाद में भूतजय से योगी को प्राप्त होने वाली काय संपत् (परम शरीरोत्कर्ष) का विवरण देते हुए महर्षि पतंजलि ने लिखा है 'रूपलावण्य बल वज्र संहननत्वानि कायं संपत्' (योग दर्शन, विभूति पाद)

रूप, लावण्य, बल और वज्रमय शरीर इन्हें कायसंपत् कहते हैं। योग का अर्थ शरीर को विविध प्रकार के क्लेश देना नहीं है, यह स्पष्ट ही है। इस प्रकार श्रद्धा और मानसिक संकल्प से प्राप्त स्वास्थ्य और शक्ति से पूरित शरीरावयवों का उपयोग किस प्रकार करना चाहिये। इस विषय में वेद भगवान् का आदेश है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँ सस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥ यजुः २५।११ ऋक् २।८६।

हे परमादरणीय देव गण, हम कानों से शुभ ही श्रवण करें, आँखों से शुभ ही देखें। दृढ़ अङ्गों और शरीरों से सम्पूर्ण आयुपर्यन्त हम विश्व-नियन्ता की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करते हुए हम विश्व का, प्राणिमात्र का हित ही करते रहें।

२०

मानसिक संकल्प और अन्य भी समस्त बाह्य-आभ्यन्तर साधनों से जो स्वास्थ्य प्राप्त हो उसका सदुपयोग करते हुए मनुष्य का धर्म है कि संसार के हर्ष में वृद्धि का कारण बने। उसका प्रत्येक कार्य इसी उद्देश्य की पूर्ति का साधन होना चाहिये। हँसमुख चेहरा प्रसन्नता की किरणों को चहुँ-दिशि प्रसारित करता है। मधुर और प्रसन्न सान्त्वना-मय वाणी से दुखी से भी दुखी पुरुष के हृदय में दुःख दूर होकर आश्वासन उत्पन्न होता है।

प्रसन्न रहने का अभ्यास बनालें। दुःख तुम से दूर ही रहेगा, निराशा भी तुम्हारे समीप सहसा नहीं आवेगी। यह सार्वत्रिक और स्वर्ण सिद्धान्त है कि मनुष्य दुःखों, कष्टों, रोग की वेदनाओं और प्रत्येक प्रकार की आपत्ति-विपत्तियों को प्रसन्नता से सहन करें। यही धीरता और वीरता का लक्षण है। जो इन्हें प्रसन्नता से सह लेते हैं, वे तपस्वी, वीर, चरित्रवान और सफल जीवन हुआ करते हैं, परन्तु जो इन कष्टों-विपत्तियों को धीरता-वीरता से नहीं सहते, वे निर्बल चरित्र, निर्बल शरीर, कायर और दुःखमय जीवन वाले होते हैं। प्रथम वर्ग के नर-नारी जनता के स्वाभाविक नेता से हो जाते हैं, और जनता-जनार्दन के प्रेम तथा सहानुभूति रूपी आशीर्वाद के पात्र बने रहते हैं। द्वितीय वर्ग के व्यक्ति इसके विपरीत संसार में हास्य के भाजन बना करते हैं। उपनिषद् में भी एक स्थान पर लिखा है।

एतद्वै परमं तपः यद्व्याधितस्तप्यत।

अर्थात् रोगी होकर, व्याधि-ग्रस्त होकर जो कष्टों को, रोग की वेदनाओं को प्रसन्नता पूर्वक सह लेते हैं, यह परम तप है। यथार्थ बात यह है कि जो नर-नारी रोगी होकर प्रसन्न रहते हैं, उनका रोग प्रसन्नता, इच्छा-शक्ति और बाह्य साधन औषध, परिचर्य्या तथा पथ्य से शीघ्र दूर हो जाता है।

पुनश्च—प्रसन्नता के साथ भोजन करने से उसका परिपाक शीघ्र हो जाता है। ईर्ष्या, द्वेष, भय, क्रोध, दैन्य, लोभ-संयुक्त मन से भोजन करने से भोजन नहीं पचता और उसका लाभ शरीर को नहीं मिलता। 'माधव-निदान' में लिखा है कि ईर्ष्या, भय और क्रोध से युक्त, लोभ-पीड़ित, हीन और द्वेषी मनुष्य का भुक्त भोजन भले प्रकार नहीं पचता। चिन्ता, शोक, भय, क्रोध, दुःख, निद्रा सम्बन्धी अव्यवस्था (रात्रि-जागरण—दिवाशयन, अधिक शयन) इन कारणों के होने पर पथ्य और मात्रा में किया हुआ भोजन भी नहीं पचता। स्वास्थ्य के इच्छुकों को जहाँ सन्ध्योपासन श्रद्धापूर्वक करना आवश्यक है, वहाँ प्रातः-सायं कुछ समय अपनी सुविधानुसार मनोरंजन, खेल-कूद में भी लगना चाहिये। छोटे बालकों के साथ खेलने से मनुष्य को प्रसन्नता, हर्ष और स्वाभाविक निर्दोष हास्य प्राप्त होता है। इसी कारण महर्षि दयानन्द, महात्मा गान्धी तथा अन्य साधु-सन्त, महापुरुष बालकों के साथ मिल-जुलकर प्रसन्नता लाभ करते रहे। अस्तु,

मनुष्य के लिये सदैव प्रसन्न रहना आवश्यक है। क्यों प्रसन्न रहना चाहिये?

इसका वैज्ञानिक समाधान यह है कि प्रसन्नता से मनुष्य की 'संकल्प-शक्ति' विकसित और पुष्ट होती है। इससे मनुष्य न केवल स्वास्थ्य सम्बन्धी अपितु सभी प्रकार की सफलता प्राप्त किया करता है। इस प्रकार विश्व-भर के नर-नारी और सामान्यतया प्राणिमात्र प्रसन्न रह कर संसार की हर्ष-सम्पदा को बढ़ा सकते हैं। यही मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है। यह उद्देश्य उत्तम सात्विक संकल्प-शक्ति और उत्तम स्वास्थ्य से प्राप्त होता है, जिसका सर्वोत्तम साधन श्रद्धा-सहित नित्य-प्रति प्रातः-सायं सन्ध्योपासन अर्थात् ईश्वरोपासना करना है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्॥

राष्ट्र की आधार-शिला

[स्नातिका शारदाकुमारी विद्याविभूषिता]

कितने दुःख की बात है कि आज जगद्गुरु भारत की नारी विदेशों की नकल करके उच्च स्वर से अधिकार, अधिकार—का बुलन्द नारा लगा रही हैं, अपने प्राकृतिक गुणों को भूल कर—अपने नैसर्गिक अधिकारों को खोकर। यदि नारी चैतन्य रह कर अपने कर्त्तव्यों का पालन करेगी, तो निश्चय ही संसार के सम्मान की पात्री होगी, और विश्व की अखिल सिद्धियाँ उसकी चरण-चञ्चरीक बनेंगी। इँग्लैण्ड, अमेरिका आदि देशों की नारी आज उच्छृखंल होकर, अपने नैसर्गिक गुणों को तिलाञ्जलि देकर, विकृत रूप धारण कर चुकी हैं। ये देश भौतिकता के उच्च शिखर पर आरूढ़ होते हुए भी आध्यात्मिकता, नैतिकता आदि दैवी सम्पत्तियों से रहित होकर, आसुरी सम्पत्तियों के भण्डार हैं। जहाँ भारतीय संस्कृति में सम्मिलित कुटुम्ब-प्रणाली घर के वयोवृद्ध से लेकर बच्चे तक सबके लिए आनन्द, शिक्षण, भरण-पोषण का केन्द्र-बिन्दु है, दया, प्रेम, परोपकार, संयम, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्रशस्त पाठशाला है, एवं "वसुधैव कुटुम्बकम्" की अमर सन्देश-वाहिका है; वहाँ विदेशों में "वसुधैव कुटुम्बकम्" के विचार तो कोसों दूर, सम्मिलित कुटुम्ब-परम्परा का नामोनिशान भी नहीं दीखता। आज वहाँ की नारी अपने गृहिणीत्व से पदच्युत होकर, गृहस्थी के प्रति तन्मयता की भावना भूल कर, सहधर्मिणी के अधिकारों को उच्छृखलता की बलिवेदी पर चढ़ाकर, आत्मिक प्रेम से वञ्चित् हो पुरुषों के मनोविनोद की केवल क्रीड़ाकन्दुक कहलाकर त्रस्त-सी, भयभीत-सी, उपेक्षित-सी, अनाश्रित-सी, दर-दर ठोकरें खा रही है।

खेद है कि आज भारतीय महिलायें भी इस अन्धनीति का अनुसरण करती हुई तलाक़ादि के प्रस्तावों को पास करने में अपना गौरव समझ रही हैं। ऐसी विचार-धारा भारतीय संस्कृति के लिए महान् घातक है। वर्त्तमान शिक्षा भी ऐसी ही है जिससे नारी के ममत्व, मातृत्व, नारित्वादि गुणों का ह्रास हो रहा है। इसलिए राष्ट्र की आधार-

शिला, विश्व-जननी सर्वशक्तिमती नारी को अपने कर्त्तव्य समझने चाहिएँ। यदि मातृ-जाति सन्तान की शिक्षा-दीक्षा से उदासीन रहकर, अपने पति-पुत्र के लिए कल्याण की कामना न करके, व्यक्तिगत उन्नति में सतत प्रयत्नशील रहेगी, तो उसकी सन्तति और पुरुष पथभ्रष्ट क्यों न होंगे? उसके मन में गृहस्थी के प्रति किस प्रकार अनुराग उत्पन्न हो सकेगा? और किस तरह नारी अगाध विश्वास, सच्चा प्रेम एवं सच्चा संरक्षण प्राप्त कर अपने तथा परिवार के जीवन-क्षणों को मधुर बनाती हुई गृहलक्ष्मी कहला सकेगी? यही कारण है, आज अधिकांश गृहस्थ 'स्वर्ग' न होकर रौरव 'नरक' बने हुए हैं।

अतः राष्ट्र के कर्णधार यदि देश, जाति, समाज एवं भारतीयता को जीवित-जाग्रत बनाना चाहते हैं तो सर्व-प्रथम नारी को उसकी प्राकृतिक प्रवृत्तियों एवं नैसर्गिक गुणों के अनुरूप शिक्षित बनाना होगा। तभी वह देश को, राष्ट्र को, विश्व को, सच्चे, धर्मात्मा, शूरवीर, चरित्रवान, उदार, कर्मठ, तपस्वी नागरिक प्रदान कर सकेगी।

मातृत्व-उन्नति की साधना

[स्नातिका गायत्रीदेवी, विद्याविभूषिता, एम० ए०]

कन्याओं के लिये गुरुकुलीय व्यवस्था और वैदिक शिक्षा को महत्त्व देकर माता लक्ष्मीदेवी ने जिस प्रकार नारी जाति को शिक्षित और उन्नत बनाने, का महान् प्रयास किया है, वह असाधारण है।

गुरुकुल की स्थापना के प्रारम्भिक काम में गुरुकुलीय जीवन के प्रति अधिक आस्था न रखने के कारण लोग अपनी कन्याओं को यहाँ भेजना पसन्द न करते थे; इसके अतिरिक्त सबसे बड़ा संकट यह था कि बहुत कम व्यक्ति ऐसे थे जो कन्याओं को गुरुकुल भेजकर १०) मासिक भी उन पर खर्च करने को तैयार हों। लड़की के ऊपर शिक्षा, खाने-पीने की व्यवस्था तथा यथा-साध्य कपड़ों के लिये केवल १०) मासिक खर्च करने में भी लोग आनाकानी करते थे।

माता लक्ष्मीदेवी ने इन सब कठिनाइयों को शनैः-शनैः पार किया। उन्होंने सर्दी-गर्मी, आँधी-तूफान किसी की तनक भी परवा न कर स्थान-स्थान, छोटे-छोटे गाँवों तथा प्रान्तों में निजी व्यय पर जाकर, लोगों को मातृ-शिक्षा का महत्त्व बतलाया। माताओं को भाँति-भाँति से समझाकर अपनी पुत्रियों को गुरुकुल भेजने के लिये विवश किया। जो व्यक्ति कन्या पर खर्च करने में अपने को असमर्थ बतलाते थे, उनकी कन्याओं को दो-दो तीन-तीन रुपया मासिक व्यय पर रखना स्वीकार किया। कितनी ही कन्याओं की निःशुल्क पढ़ने और रहने की व्यवस्था की।

कन्याओं को शिक्षित बनाने के लिये इतना शारीरिक और आर्थिक संकट सहकर भी माताजी की सदैव यही कामना रहती कि कोई भी कन्या अधूरी शिक्षा पाकर यहाँ

से न जाय। छात्राएँ गुरुकुल को अपना घर समझें, और किसी प्रकार का अभाव अनुभव न करें। इसके लिये माताजी यथा-साध्य प्रयत्न करती रहतीं। वे प्रत्येक त्यौहार और पर्व पर छात्राओं के मनोरंजन के लिये कुछ न कुछ नवीन वातावरण उत्पन्न करतीं। कन्याओं के मनोनुकूल भोजन बनवातीं, श्रावण में झूलने के लिये पेड़ों पर झूले डलवातीं, उन्हें स्वयं बड़े स्नेह से अपने हाथों झुलातीं, गातीं और हर्ष मनातीं। साधारणतः परिवारों में माताओं को काम-काज से इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि वे अपनी पुत्रियों के साथ इस प्रकार हर्ष-विनोद के क्षण विता सकें, परन्तु, मातृ-शक्ति को उन्नत देखने की लगन माताजी के हृदय में वह उत्साह उत्पन्न कर रही थी जिससे वे अपनी सौ से अधिक पुत्रियों को प्रसन्न करने का अवकाश निकाल ही लेती थीं।

भारतवर्ष में जितनी भी कुरीतियाँ प्रचलित हैं, उन सब के मूल में स्त्रियों की अशिक्षा सन्निहित है। हिन्दी के प्रसिद्ध निबन्धकार स्व० पं० बालकृष्ण भट्ट ने लिखा है—'भले-भले घरों में टोटका-टनमन के बहाने भूत-प्रेत, डाकिनी-शाकिनी की पूजा, ऊँटपटाँग मान-मनौती को स्त्रियों की मूर्खता ने ही स्थान दिया है।' माता लक्ष्मी ने छात्राओं के हृदय से इन पुराने संस्कारों को जड़-मूल से उखाड़ने पर विशेष बल दिया है। वे कन्याओं के बीच में बैठकर प्रायः कहा करतीं कि 'सात-आठ वर्ष तक गुरुकुल में रहकर छात्राएँ देश का कुछ भला कर सकें अथवा न कर सकें, किन्तु इतना मुझे विश्वास है कि वे अन्य अशिक्षित स्त्रियों की तरह स्थान-स्थान पर देवी-देवताओं के आगे सिर झुकाती नहीं फिरेंगी। अपने बच्चों को गंडे-तावीज नहीं बाँधेगीं।' एक साधारण शिक्षित स्त्री-हृदय के इतने ऊँचे विचार तथा देश को उन्नत बनाने की यह अमर साध, माता लक्ष्मी को देश के महान् सुधारकों की श्रेणी में ला बिठाती है। इसमें तनक भी सन्देह नहीं कि गुरुकुलीय जीवन को कम से कम व्यय-साध्य बनाकर माताजी ने नारी जाति के प्रति महान् उपकार किया है। माताजी ने देश के उस भाग में स्त्री-शिक्षा का प्रचार किया है, जहाँ का नारी-समाज सबसे अधिक पिछड़ा हुआ था।

गुरुकुल में आदर्श वैदिक सहित्य के अध्ययन की व्यवस्था के साथ हिन्दी, भूगोल, गणित, धार्मिक शास्त्र, इंगलिश आदि अन्य विषयों की ओर पूर्ण ध्यान दिया जाता है। इतने पर भी माता लक्ष्मी छात्राओं के लिये केवल पुस्तकीय ज्ञान पर्याप्त न समझ कर उन्हें अन्य घरेलू काम-काज सिखाने के लिये, दर्जी, हलवाई, कागज के सुन्दर-सुन्दर फूल-पत्ती काटना सिखाने वाले, धनुषवाण तथा अन्य हस्तकला-कौशल सिखाने वाले कारीगरों को प्रायः बुलाती रहतीं। वे कहा करतीं कि 'इस गुरुकुल में पढ़ी हुई कन्यायें समस्त घरेलू कामों में इतनी चतुर बनकर जायँ कि लोग उन्हें देखकर गुरुकुलीय शिक्षा की ओर अधिक से अधिक संख्या में आकर्षित हो सकें। यहाँ की कन्यायें गृहस्थ-जीवन को आदर्शमय बना सकें।

पिछले २५ वर्षों से निरन्तर माता लक्ष्मीदेवी ने मातृ-जाति की निःस्वार्थ सेवा की है। निजी सन्तान के अभाव में माता लक्ष्मी का मातृ-प्रेम समस्त मानवता के प्रति गंगा

की पवित्र धारा के समान एक-रस होकर बहा है। उनके जीवन का आदर्श बड़ा ऊँचा है। सादा त्यागमय जीवन और ऊँचे विचारों का आदर्श माताजी ने कार्यरूप में परिणत करके भविष्य की नवीन पीढ़ी के लिये, एक उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित कर दिया है। जिन छात्राओं ने उनकी महान् विभूतियों से लाभ उठाया है, और उठा रही हैं तथा भविष्य में उठायेंगी वे निश्चय ही मातृ-शक्ति को ऊँचा उठाने में सहायक सिद्ध होंगी।

ईश्वर से प्रार्थना है कि माता लक्ष्मीदेवी शतायु हों, जिससे मातृजाति की उन्नति का प्रशस्त पथ चिरकाल तक आलोकित होता रहे।

आधुनिक शिक्षा-समस्या

[स्नातिका श्री वीरबालाजी, विद्याविभूषिता]

आज की बहु अर्थ-साध्य आडम्बरमयी शिक्षा की साधना में जुटे हुये विद्यार्थियों के कृश शरीर और पीले चेहरे देखकर यह विचार आता है कि, क्या ये उन्हीं आर्य वीरों की सन्तति हैं, जिनके पराक्रम के आगे विदेशी आक्रमण-कारियों को सदा ही पराजित होना पड़ा। भारतीयों के शारीरिक बल को परास्त करना सहज न था। सबल शरीर के साथ भारतीय सबल आत्मा के स्वामी थे—क्योंकि॰ सदा ही बलवान शरीर में बलवान आत्मा का निवास होता है। इस शारीरिक सबलता का कारण उनके जीवन की संयमित तपश्चर्या थी जो उन्हें अपने शिक्षोपार्जन-काल में स्वतः ही प्राप्त होती जाती थी; और इससे उनका जीवन अनायास ही स्वावलम्बी बन जाता था। महाभारत के अनुसार द्रोणाचार्य के पास शिक्षा पाते हुये और राजकुमार होते हुये भी कौरव-पाण्डवों को अपने पात्रों में स्वयं नदी से जल लाने में कोई संकोच न था। अनुशासित जीवन की शक्तियाँ सहज ही छिन्न-भिन्न नहीं होतीं, आज भी हम अपने राष्ट्रिय सैनिक शिक्षणालयों में भावी राष्ट्र-नायकों के चरित्र को सबल बनाने एवम् जीवन में अपूर्व दृढ़ता लाने के लिये उन्हें कठोर अनुशासन में रहते हुये पाते हैं। वस्तुतः शरीर और मन की शक्तियों को सशक्त बनाने के लिये अनुशासन और अभ्यास अपेक्षित हैं।

यद्यपि विज्ञान ने प्रकृति की शक्तियों पर पूरी तरह अधिकार दिला कर मनुष्य को अतीव शक्तिशाली बना दिया है। परन्तु यदि आज के मनुष्य को विज्ञान की कृत्रिम शक्ति से अलग करके देखें तो उसकी दयनीय वास्तविकता सामने आ जाती है। आकाश में उड़कर निरीह जनता को अणु और उद्जन बमों की महती शक्ति से क्षणमात्र में निःशेष कर देना दूसरी बात है। पर, समय-असमय दो दुष्ट व्यक्तियों के सम्मुख पड़ जाने पर अपनी रक्षा कर सकने के लिए वे अपनी शारीरिक शक्ति पर आश्वस्त नहीं। गुरुकुलों के तपोमय जीवन के कारण शौर्य और स्वावलम्बन की शक्तियाँ भारतीयों की

अनुगामिनी बन जाती थीं। आज हमारी सन्तान चूहे-मेंढक और झींगुरों की आवाज मात्र से डर जाती है। विशाल अट्टालिकाओं वाली संकरी-संकरी गलियों में पोषण पाने वाले बालकों और प्रकृति की प्रांजल गोद में निर्द्वन्द्व निर्भय विचरने वाले बालकों की मानसिक और शारीरिक निर्भयता का अन्तर स्वाभाविक ही है। हमें लवकुश और बालक भरत का स्मरण हो आता है। सिंह-शावकों को कुत्तों की तरह वश में करने वाला बालक यदि विना किसी वैज्ञानिक शक्ति के महान् राष्ट्र का सबल उन्नायक और नियन्ता बन जाता है तो आश्चर्य ही क्या है। विस्तृत आकाश के तले, उमगती नदियों के तटवर्ती विशाल कान्तारों में विचरण करने वाले विद्यार्थी का तेजवान स्वस्थ शरीर होने के साथ-साथ निर्भय आत्मा का स्वामी होना भी स्वाभाविक है। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ आत्मा के साथ ही स्वस्थ आचार की प्रतिपत्ति होती है।

गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का आधार सत्य और धर्म का पुनीत सिद्धान्त है। विदेशियों द्वारा प्रसारित इस अर्वाचीन शिक्षा-प्रणाली द्वारा हमारे सामने हमारे धर्म, संस्कृति और सभ्यता को इस तरह कुत्सित करके रक्खा गया कि, आज का शिक्षित युवक धर्म के नाम से घृणा करने लगा है। धर्म को व्यर्थ का आडम्बर समझ कर उस पर हँस दिया जाता है परन्तु धर्म संगठन का सुदृढ़ सूत्र है और ऐक्य ही धार्मिक शिक्षा का प्रमाण है। बाल्य-काल से ही मिली हुई धार्मिक शिक्षा मनुष्य को बड़े होने पर और भी चारित्रिक दृढ़ता प्रदान करती है। पर, आज की शिक्षा-पद्धति में धर्म का कोई स्थान नहीं। जो देश महान् धार्मिक विचारकों और सुधारकों का जन्मदाता रहा है और जिसकी सुदृढ़ धार्मिक एकता के कारण विदेशियों के घोर घातक प्रयत्नों के बाद भी आज हमारी संस्कृति अभी तक लुप्त नहीं हो पाई, उसी देश में धर्म के प्रति जो उपेक्षा की भावना है वह शोचनीय है—

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः,
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्।

अर्थात् नष्ट किया हुआ धर्म मनुष्य का नाश कर देता है और सम्यक् पोषित वही धर्म नित्य-प्रति सुख और समृद्धि का देने वाला होता है। जहाँ बाह्य आडम्बरों को धर्म का नाम देकर उसके लिये कठोर रूढ़िवादी हो जाना एक भयङ्कर भूल है, वहाँ धर्म के सारभूत मूलतत्त्व के पास तक पहुँचाने का प्रयत्न भी न करना बहुत बड़ी हानि है। आज का शिक्षित वर्ग जहाँ वास्तविकता की ओर दौड़ रहा है, वहाँ ग्रामीण जनता घोर अन्ध-विश्वासों के अंधकार में पड़ी है और राष्ट्र के ये दोनों ही वर्ग वास्तविकता से अनभिज्ञ हैं। इसका कारण यही है कि, बचपन में वास्तविक धर्म-शिक्षा के अभाव में बालक के भ्रममूलक संस्कारों का उच्छेदन नहीं हो पाता और बड़े होने पर भ्रान्तिकारी धारणाओं में विश्वस्त न हो सकने के कारण वह धर्म के प्रति विद्रोही हो जाता है। हमारी प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में बचपन से ही बालक की प्रत्येक धार्मिक जिज्ञासा का विचारवान आचार्य द्वारा उचित समाधान होता जाता था। इस प्रकार अपने शिक्षा-

काल में ही धर्म के सम्बन्ध में भी उसका सुलझा हुआ अपना एक निश्चित दृष्टिकोण बन जाता था जो उसकी जीवन-यात्रा को प्रशस्त बनाता हुआ, उसे अधिकाधिक मानसिक दृढ़ता प्रदान करता था।

आज भारत राजनैनिक दासता से तो विमुक्त हो चुका है, परन्तु सांस्कृतिक दासता के चिह्न अभी निःशेष नहीं हुए हैं। बल्कि किसी सजीव कल्पना के अभाव में आज का युवक उसको इतनी दृढ़ता से अपनाये हुए है कि उसमें से आत्म-गौरव की भावना सर्वथा तिरोहित होती जा रही है। राष्ट्र के सम्मुख वास्तविक भय है जिसके निवारण के लिये हमें अपनी प्राचीन शिक्षा-प्रणाली को यथासम्भव अपनाने का प्रयत्न करना ही चाहिये।

यदि वस्तुतः हम अपने राष्ट्र को सुखी, समृद्ध एवं वैभवशाली बनाना चाहते हैं तो देश के शिक्षा-शास्त्रियों के लिये आवश्यक है कि, वे आज के युग में भी मानव को सुखी बनाने वाली प्राचीन शिक्षा-पद्धति का अनुशीलन करके कोई ऐसा मार्ग ढूँढ़ निकालें जिससे कि दिन प्रति दिन होती हुई राष्ट्रिय क्षति को रोका जा सके। महाभारत रण-क्षेत्र में आचार्य द्रोण ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से स्पष्ट घोषणा की थी कि, भारत के दुर्भाग्य का सूत्रपात तो उसी समय हो गया था जब कि मुझे राजाश्रय में रह कर वेतनभोगी के रूप में राज-पुत्रों को शिक्षा देने का कार्य करना पड़ा और यह नग्न ऐतिहासिक सत्य देश के नैतिक स्तर को प्रतिदिन नीचे की ओर खींच रहा है। कल के होने वाले नागरिकों को सभ्य, सुसंस्कृत और बलवान बनाने के लिये हमें बहुत कुछ अपने पूर्वजों से सीखना ही पड़ेगा। जिससे भारत के अतीत गौरव का वैभव फिर से जाग्रत् होकर अधिकाधिक संवर्द्धित हो और—

"एतद्देश प्रसूतस्य, सकाशादग्रजन्मनः,
स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः।

जो आज हमारे लिये कल्पना-सी बन गई है, पुनः सत्य बन कर भारतवासियों की कीर्ति-ध्वजा को विश्व के विस्तृत आकाश में शान से फहराती रहे।

———

जीवन-यज्ञ

[कुमारी कमला स्नातिका, कन्या-गुरुकुल, हाथरस]

यज्ञ—यज्ञ कितना पावन और कैसा उज्ज्वल होता है। यज्ञ, नर्तिता प्रज्वलिता, ऊर्ध्वगामिनी ज्वालायें, आनन्दमग्ना-सी दिव्य हवि को आत्म-सात् कर पार्श्व प्रदेशों के वायुमण्डल को कैसा सुगन्धित कर देती हैं, चित्त कितना प्रफुल्ल एवं कैसा शान्त हो जाता है।

मधुर कल्पना प्रिय, क्रान्तदर्शी महर्षियों ने तो, प्रकृति में नित्यप्रति नियमित रूप से चलने वाले समस्त कार्य-कलाप को ही यज्ञ की संज्ञा से अभिहित किया है। अविश्रान्त गति से चलने वाले, समस्त जगत् के पोषक भगवान् सूर्य, और शीतल सुधाकर, रागारुण इठलाती ऊषा, और घनान्धकार में विलीन हो जाने वाली संध्या, नील नभ की जगमगाती तारिकायें, सभी तो एक रस हो, एक चित्त हो, अनन्त काल से यज्ञ कर रहे हैं, परोपकार कर रहे हैं। संसृति के जीवन में शीतलता, प्रकाश और कर्म-क्षमता भर रहे हैं। वायुमंडल के विष को पीने वाले ये विहग और उनकी—उनकी ही क्या समस्त श्रान्त पथिकों की आश्रयदात्री नीला तरुराजि, जल को निर्विष बनाने वाले जलचर, वसुन्धरा की स्वच्छता का सतत प्रयत्न करने वाले ये साधारण एवं हिंसक पशु, सचमुच सभी तो अहर्निशि यज्ञ में ही संलग्न हैं। क्योंकि यज्ञ के धात्वर्थ 'यज, देवपूजा, संगतिकरण दानेषु' के साथ-साथ, यज्ञ का अर्थ परोपकार भी तो विश्व-विश्रुत है। प्रकृति के इस जड़, किन्तु फिर भी यज्ञमय जीवन के साथ-साथ सज्ञान मानव का जीवन भी यज्ञ है ?

सचमुच, वह मानव-जीवन यज्ञ होता है जो, लोक-जीवन में नित्यप्रति व्यवहृत होने वाले, यज्ञ-गुणों को धारण कर लेता है। जिसकी, आनन्दमग्ना, नर्तिता, प्रज्वलिता, उर्ध्वगामिनी जीवन-अग्नि दिव्य हवि की स्वाहा-स्वधा प्रतिदिन पाती है। दिव्य हवि—यज्ञ की हवि कर्पूर, चन्दन, केशरादि सुगन्धित पदार्थ होते हैं, जीवन-यज्ञ की हवि के दिव्य पदार्थ कौन-से हैं ? सेवा, सन्तोष, संकल्प, धैर्य, त्याग, तप, परोपकार, करुणा, दया, क्षमा, विनयशीलता आदि ? शायद येही हैं, क्योंकि ईर्ष्या, द्वेष, घृणा क्रोध की नारकीय हवि की दुर्गन्ध से तो मनु नित्य ही प्रपीड़ित रहते हैं, और उन्हें देवि श्रद्धा का मधुर उपदेश सुनना पड़ता है—"औरों को हँसते देखो मनु, हँसो और सुख पाओ।"

अस्तु, वह जीवन, यज्ञ है, जो कामधुक् होता है अर्थात् कामनाओं को पूरा करता है। स्वयं पूर्णकाम ही तो कामनाओं को पूरा करने वाला बन सकेगा। जिसमें हवि के साथ स्वाहायुक्त मन्त्रोच्चारण भी होगा। यदि ऐसा न होगा तो देवि श्रद्धा को फिर-फिर समझना पड़ेगा—

"ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की"

विडम्बनामय जीवन क्या कभी यज्ञ बन सकेगा ? कदापि नहीं, वह मानव-जीवन यज्ञ है, जिसमें देवपूजा, संगतिकरण और दान का नित्य योग होता है। क्या नित्य प्रति प्रातः सायं-उभय सन्ध्याओं में विशिष्ट सम्भारों-सज्जाओं के साथ यज्ञ करने वाले हम लोगों का जीवन-यज्ञ भी प्रज्वलित हो सका है ? जीवन के इस प्रभात, ब्रह्मचर्य-काल में ही—प्रभात—जो कि उल्लास, आनन्द और मधुरिमा की बेला है, शान्ति और नूतन ओज का काल है, कर्म-संलग्नता का समय है, जो "उद्बुद्धस्वाग्ने प्रति जागृहि" की हार्दिक पुकार के द्वारा जीवन-यज्ञाग्नि के जागरण की बेला है, उस ब्रह्मचर्य-काल में ही, हम राष्ट्र के भावी कर्णधारों की जीवन-यज्ञाग्नि का उत्थान तो क्या होता है प्रभु-प्रदत्त वह नैसर्गिक प्रकाश ही जैसे लुप्त-सा होने लगता है। जीवन-यज्ञ की अग्नि बुझ-सी जाती है, प्राणों के यज्ञकुण्ड में, अतृप्ति, उदासी, निराशा, कर्म-शून्यता लक्ष्य-शून्यता आलस्य का कड़वा धुआँ फहराने लगता है। यदि कुछ आगे बढ़े भी, कुछ अंशों में जीवन-यज्ञाग्नि जाग्रत् भी हो, तो ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, व्यर्थाभिमान, विनय-शून्यता, एवं क्रोध की नारकीय हवि, न जाने कहाँ से उपस्थित होकर हृदयाकाश को तो विषैला बनाने ही लगती है किन्तु साथ ही बाह्य-वायुमण्डल को भी अछूता नहीं छोड़ती। और समाज एवं राष्ट्र की शान्ति को हरने लगती है, वातावरण को विक्षुब्ध करने लगती है। केवल भावी कर्णधारों के जीवन-प्रभात की ही बात नहीं, क्या आज भारतीय समाज का जीवन-यज्ञ प्रज्वलित है ? वह चित्त को प्रसन्न एवं शान्त रखता है ? क्या उसमें से दिव्य हवि की सुगन्धि निकल रही है, जो किसी को आकर्षित कर सके ? स्वाहायुक्त मन्त्रोच्चार से आहुतियाँ पड़ रहीं हैं ? क्या ज्ञान का भारी भार और साध्वी क्रिया साथ-साथ चल रहे हैं ? जिससे मन की इच्छाओं की पूर्त्ति करते हुए, हम भी पूर्ण काम बन रहे हैं, और श्रान्त भटकती निराश्रय मानवता को आश्रय दे सकते हैं ? अस्तु, यह बड़ी बात बड़ों के लिए है, मेरा तो छोटा-सा प्रश्न, मेरे लिए है भगवन्, क्या कभी मेरा जीवन भी 'यज्ञ' बन सकेगा ?

विश्व की महान् विभूतियो,

तुम्हारा वन्दन है, शत-शत अभिनन्दन है, किन्तु क्या तुम्हें 'अभिनन्दन' की अपेक्षा है। जगभर को ज्योति लुटाता दिवसमणि कुहुकिनी के घनान्धकार को पार कर उदय होता है। विहग कलरवों से स्वागत-गान करें या न करें, कमल अपनी कोमल पंखुरियाँ खोलें या न खोलें, लजीली कलिकाएँ अपना अवगुण्ठन हटाएँ-न-हटाएँ, वह तो उदय होता ही है, और उदय के अनन्तर—

चाहे कितनी ही झञ्झाएँ आएँ, चाहे कितनी ही घोर घटाएँ घहराएँ, वह अपनी अविश्रान्त धीर गति से आगे ही बढ़ता जाता है। उसका प्रकाश प्रखर ही होता जाता है। बादलों के बाद फैलने वाला उसका प्रकाश तो प्रखरतर हो जाता है।

आपत्तियों की झंझाओं से निकलने वाली, विरोधों की घन-घटाओं में अविचल रहने वाली विश्व को निस्पृह ज्योति लुटाने वाली, संसृति की महान् आत्माओं का

विश्व-विहग कलवर्णों में अभिनन्दन करें, प्रीति करने वाले स्निग्ध स्वजन अपने हृदय-कमल की पंखुरियाँ खोल, उनकी गुण-गरिमा के विकीर्ण होते प्रकाश का स्वागत करें या न करें, उनके जीवन में विश्राम कहाँ, केवक गति ही है अविराम वहाँ, केवल गतिः—

× × × × ×

पुष्प, तुम बड़े पागल हो, तुमने अपना सौरभ समीर को दान दे, जगभर को वितरित कर दिया। अपने सुकोमल गात को धूल में मिल जाने योग्य ही शेष रखा, हाय! यह तुमने क्या पागलपन किया। अपने सौरभ को संचित रखते, अपने कोमल गात को हिम, आतप, वर्षा से बचाते, मृदु पल्लवों में मुख छिपाये, लहलही कोमल डालियों पर झूलते, मग्न रहते, जग की इस क्षणिक नयन-नासिका की तृप्ति से तुम्हें क्या मिला?

विश्व की महान् आत्माओ, क्या आप लोग भी पागल हैं? अपनी सद्गुण-गन्ध समस्त संसृति में वितरित कर, विश्व को तृप्तिदान देने को, कोमल शैय्याओं, मधु आस्वादनों, मदिर अवलेपनों का परित्याग कर, विजनों में, बीहड़ वनों में भटकना, विश्व के असहयोग के हिम, विरोध के आतप, और लांछनों की वर्षा को सहन करके अपने तन को सुखा डालना, क्या पागलपन की सीमा से बाहर है? संसृति का आनन्द, पथ प्रशस्त करने के लिए, आप लोगों ने अपना सब कुछ छोड़ा, सब कुछ सहन किया, विश्व की तृप्ति से आपको क्या मिला?

आर्य संस्कृति का महत्त्व

[डाक्टर श्री नरेन्द्रदेवसिंह, शास्त्री, एम० ए०, डी० फ़िल, अध्यक्ष, संस्कृत और हिन्दी-विभाग बलवन्त राजपूत कालिज, आगरा]

सृष्टि के स्वर्णिम प्रभात में वरदा वेदमाता के श्रीमुख विनिःसृत 'संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्' का पावन आदेश पाके आर्यजाति आज से युगों पूर्व अपने को समाज रूप में संगठित कर चुकी थी। जब उस समाज की सुरक्षा का प्रश्न आया तब माता ने उसे निराश न करके एक और मन्त्र दिया, वह यह था 'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति सर्व भूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते'। फलतः सृष्टि के आदि में पहले पहल आर्यों ने सबको अपने में और अपने को सब में देखने की आन्तरिक दृष्टि प्राप्त की थी। इसी आन्तरिक दृष्टि को उत्तरोत्तर तीव्र करने के लिए उन्होंने अपनी प्रवृत्तियों के प्रेरक मनोभावों का परिष्कार करने के लिए एक विशेष वृत्ति का अभ्यास किया जिसे हम शील के नाम से पुकारते हैं। यह शील का निर्माण जिस साधना से सम्पन्न हुआ, उसी का आधार संस्कृति है। यह संस्कृति ही हमारे शिष्टाचार और सभ्यता का प्राण है।

आर्यों की संस्कृति की सुदृढ़ नींव आध्यात्मिक आधार पर जमाई गई जिससे वह सदियों तक समाज को सुरक्षित रखने में समर्थ हुई। इसो संस्कृति के बल पर हमारे

पूर्वजों ने मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियों का सदुपयोग सिखा कर अपने समाज को पाशविकता से मुक्त किया था। संस्कृति को बद्धमूल करने के लिए ही उन्होंने संस्कारों का आविष्कार किया था। इसी संस्कृति के बीज हमारे शिष्टाचार और सामाजिक सभ्यता के रूप में प्रस्फुटित हुए।

आर्यों की संस्कृति की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसने न केवल समाज की रक्षा और शान्ति को ही सुदृढ़ किया अपितु उसके अन्तःकरण का परिष्कार करके एक अलौकिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष प्रदान किया। भावार्थ यह है कि आर्यों की संस्कृति ने वह द्विमुखी पावन गंगा बहाई जिससे वैयक्तिक अभ्युदय और सामाजिक श्रेयस के क्षेत्र चिरकाल तक हरे-भरे रहे। उसने मानव के व्यक्तिवाद की काट-छाँट करके उसे समाज से सटाने का सफल प्रयत्न किया तथा व्यक्ति के उद्दंड अहंभाव का विच्छेद करके उसे परमार्थ के सोपान पर ला खड़ा किया। इस प्रकार आर्य संस्कृति ने हमें उस पावन संगम पर पहुँचाया जहाँ अभ्युदय और निः श्रेयस दोनों का पुनीत मिलन है। संक्षेप में निः श्रेयस-सिद्धि के लिए जिन संयम, त्याग और तितिक्षादि साधनों की आवश्यकता होती है, आर्यों ने अपनी संस्कृति को उन्हीं साधनों से सम्पन्न किया।

किसी भी संस्कृति की परख उसके बाह्य रूप, लौकिक शिष्टाचार और सामाजिक सभ्यता के आधार पर ही हो सकती है, यदि हम आर्यों के शिष्टाचार और सभ्यता का अध्ययन करें तो हमें आर्य संस्कृति की यह द्विमुखी प्रवृत्ति भली प्रकार समझ में आ जायगी। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि मनुष्य के सामाजिक क्षेत्र और व्यक्तिगत साधना का सबसे बड़ा शत्रु उसके अहं का विस्फोट है। इस अहं के नियन्त्रण में ही मनुष्य का वैयक्तिक एवं सामाजिक कल्याण निहित है। जब इस अहं की भावना को उच्छृंखलता मिलती है तभी संसार में अनेक उपद्रव खड़े होते हैं। परमाणु रूप अहं के विस्फोट का विध्वंसकारी प्रभाव इतना व्यापक होता है कि सम्पूर्ण विश्व विचलित हो उठता है। जब रावण और हिरण्यकशिपु के अहं का विस्फोट हुआ था तब त्रिलोकी में हाहाकार मच गया था। आर्यों ने इस तत्त्व को खूब समझा था और उन्होंने अपनी संस्कृति में इसे नियन्त्रित करने का अभ्यास बताया। आर्यों के पारिवारिक शिष्टाचार और उनका अभ्यास इसी अहं को घिस-घिस कर इतना कृश कर देते हैं कि वह कभी फिर उचक नहीं सकता।

हमारे दिन-प्रति-दिन के पारिवारिक शिष्टाचारों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि वे हमें अहंभाव के उन्मूलन करने के लिए पाठ देने वाले अभ्यासमात्र हैं। परिवार में निर्बल, शक्तिहीन वृद्ध सदस्यों के प्रति नम्रता और विनय का उपदेश देके शास्त्र युवकों के उद्दण्ड अहंभाव का उन्मूलन मात्र करता है। मनुष्य की सामाजिक साधना को सफल बनाने के लिए निम्नलिखित शास्त्र-कथन अत्यन्त उपयोगी है—

अभिवादन शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम्॥

अर्थात् नित्य-प्रति वृद्धों को अभिवादन और सेवा करने वालों की आयु, विद्या, यश और बल सभी बढ़ते हैं।

इन्हीं अर्थवादों की आशा ने हमारी उस परिकृष्त भावना को जन्म दिया जिसकी प्रेरणा से आज तक आर्य सद्गृहस्थियों के घरों में देखते हैं कि छोटे-बड़ों को अभिवादन करते हैं। पुत्र अपने माता-पिता को, अनुज अग्रजादिकों को और बधुएँ अपने सास-ससुर के अब भी चरण स्पर्श करती हैं। यह अभिवादन-प्रणाली हमारी उच्छृङ्खल अहं वृत्ति का नियन्त्रण करती है। अपनी शारीरिक सम्पत्ति के मद में कहीं मनुष्य मर्यादा के बाहर न हो जाय इसलिए आर्यों के शिष्टाचार में वृद्धों से 'तू-तड़ाक' बोलना हत्या के समान ठहराया गया। शास्त्र के अनुसार कड़ी-से-कड़ी आपत्ति में पड़कर भी मनुष्य को वृद्धों से तू कहके नहीं बोलना चाहिए। महाभारत में कहा है—

न जातु त्वमिति ब्रूयादायन्नोऽपि महत्तरम्।
त्वं कारो वा वधोवेति विद्वत्सु न विशिष्यते॥

बल और वैभव के नशे को उतारने का कितना अच्छा नुसखा है। एक तर्कवादी महाशय ने एक बार कहा था कि हमारी भारतीय भाषाएँ तू, तुम और आपके आधार पर सामाजिक विषमताओं का सूत्रपात करती हैं। परन्तु ऐसी बात नहीं है। तू, तुम और आपके प्रयोगों के भिन्न-भिन्न क्षेत्र हैं अतः उनके प्रयोगों से विषमता बताना उचित नहीं। अस्तु,

रास्तों की धकापेल और चौराहों पर जमघट रोकने के लिए आर्यों ने जिस विवेकपूर्ण Rule of the Road का आविष्कार किया था उसमें भी उनकी अध्यात्म मूल संस्कृति की निर्मल झाँकी देखने को मिलती है। आज के जमाने में मोटर को पहले, साइकिल वाले और पैदल को बाद में सिगनल मिलता है। परन्तु आर्यों की भव्य संस्कृति में अलौकिक विवेक है। उसके अनुसार—

पन्थादेयो ब्राह्मणाय गोभ्यो राजभ्य एव च।
वृद्धाय भारतप्राय गर्भिण्यै दुर्बलाय च॥

सबसे पहले विद्वान् ब्राह्मण को जिसने कि समाज के कल्याण के लिए अपने भौतिक सुखों की आहुति दी है पहले रास्ता मिलता है और बाद में गौ और राजा को। इस नियम में सामाजिक उपयोगिता और कृतज्ञता अन्तर्हित है। बूढ़े, बोझेवाले, गर्भिणी स्त्री तथा दुर्बल को राह देने का रहस्य भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। शारीरिक शक्ति के मद में चूर केवल चहलक़दमी के लिए निकले हुए युवक अपनी दोनों कुहनियों से निर्बलों को ढकेलने वाले युवक इसे भले ही दक़ियानूसी ख़याल कह के हँसी उड़ावें परन्तु शास्त्रीय व्यवस्था ने उस शील का निर्देश किया है जिससे मनुष्य, मनुष्य कहलाने का अधिकारी होता है।

अपनी संस्कृति को चिरस्थायी बनाने के लिए आर्यों ने अपने दैनिक कृत्यों में शिष्टाचार को प्रथम स्थान दिया। परिवार के छोटे-से क्षेत्र में ही नहीं विशाल विश्व के उस क्षेत्र तक में आर्यों ने मनुष्य की मनोवृत्ति के व्यायाम के लिए उस दिव्य शील का अभ्यास आवश्यक ठहराया। यही अलौकिक शील मानवता का अवलम्ब है। उसकी

भावनाओं को अंकुरित करने के लिए आर्यों ने पृथ्वी पर ही कुछ देवों का निर्माण करके इस भूतल को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न किया। माता-पिता, आचार्य और अतिथि में देवत्व प्रतिष्ठित करके उनकी पूजा का उपदेश दिया। मातृ देवोभव, पितृदेवोभव, आचार्य देवोभव और अतिथि देवोभव के भव्य सूत्रों में मनुष्य के लिए व्यक्तिगत संयम, त्याग और उदारता की मनोवृत्तियों का ऐसा सुन्दर संकलन किया कि उसकी पाशविक प्रवृत्तियाँ सदा के लिए जर्जर हो गईं। एक ओर तो माता-पिता और आचार्य जैसे उपकारी महानुभावों के प्रति शिष्ट भावना को जन्म देकर हम में कृतज्ञतापूर्ण शील का आधान किया और दूसरी ओर अतिथि देवोभव के उपदेश से मनुष्य के अन्तःकरण में उदारता त्याग और निष्काम भावना की प्रतिष्ठा की। इसीलिए आर्य संस्कृति हमारे लौकिक और पारलौकिक दोनों पक्षों को लेकर चलती है।

इन दिव्य वृत्तियों के सहारे मनुष्य ऊपर उठ कर उच्चतम बिन्दु पर पहुँच जाता है और उसमें एक अलौकिक सौन्दर्य की आभा फूट निकलती है जो कि पथ-भ्रष्टों के लिए दीप-शिखा का कार्य किया करती है। यह सौन्दर्य भौतिक नहीं; आध्यात्मिक है। सर्वथा स्वस्थ और सुन्दर युवा पुत्र अपने शक्तिहीन पिता के सामने अक्खड़ रहके उस सौन्दर्य को प्राप्त नहीं कर सकता जिस सौन्दर्य का आभास कविकुल-गुरु कालिदास ने युवक अज के वर्णन में दिया है।

वपुः प्रकर्षादजयद् गुरुं प्रभुं तथापि नीचैर्विनयाद दृश्यत।

वपुः-प्रकर्ष से पिता से बढ़ जाने पर भी विनय के कारण वह (अज) नीचा (छोटा) ही मालूम पड़ता था। यह नम्रता का सौन्दर्य ही अलौकिक सौन्दर्य है।

अपने से अधिक अपनों का विश्वास करना भी आर्य संस्कृति की ही एक देन है। हम अपने चर्म-चक्षुओं से अपना हिताहित नहीं देख पाते परन्तु हमारे हितैषी उसे भली प्रकार देख लिया करते हैं—हमारे हितैषी और विवेक दोनों का एकही-सा स्थान आर्य संस्कृति में है। श्रीहर्ष ने इसका बड़ा सुन्दर एवं सहेतुक वर्णन किया है।

इसी आस्था के कारण आर्य युवा अपने जीवन में हितैषियों वृद्धों के परामर्श को वेदवाक्य के समान समझते थे। तुलसी के राम का कथन इस दिशा में सच्ची आर्य संस्कृति की झाँकी उपस्थित करता है। वे कहते हैं—

अनुचित उचित विचार तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुयश के बसहिं अमरपति ऐन॥

इस आस्था के मूल में भी हमें अहं के नियन्त्रण के तन्तु उपलब्ध होते हैं। यह सुहृद्विश्वास अहं को मिटाने का आयोजन मात्र है।

राजा भी अपनी प्रजा के लिए अपने प्रभुत्वपूर्ण अहं को मिटाकर ही हमारे सम्मुख आता है। आर्य संस्कृति के अनुसार राजा हमारा हाकिम नहीं और न हम उसके गुलाम हैं। आर्य राजा अपनी प्रजा का पिता होता था। जिसका दिगदर्शन कविवर कालिदास करते हैं—

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्म हेतव॥

प्रजा के भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा का सब भार राजा पर ही होता है, इसलिए सचमुच आर्य राजा प्रजा का पिता ही होता है। सांसारिक जन्मदाता पिता तो उनके जन्म के कारण कहाते हैं।

इस प्रकार आर्य संस्कृति 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के महत्त्वपूर्ण लक्ष्य की ओर आज से सदियों पूर्व प्रस्थान कर चुकी थी। लक्ष्य पर सफलता से पहुँचने के लिए उसका मूल साधन अहं का नियन्त्रण ही है। इसी से अन्य सब साधन भी सुलभ हो जाते हैं। भौतिक विभूतियों के हवाई महल के ऊपर चढ़कर ही मनुष्य के मानस में अहं भाव स्फीत होता है जो पारस्परिक विषमता की सृष्टि करता है परन्तु जब मनुष्य अहं का उन्मूलन करके सब में अपनी आत्मा के दर्शन करता है तब वह दूसरों के लिए त्याग और अपने लिए संयम और दमन की भावना को अपनाता है। इससे संसार में आत्मीयता एवं समानता का प्रसार होता है। आर्य संस्कृति में यही मुख्य भावना रही है। इसीलिए यहाँ मिथ्या उपाधियों का परित्याग करके मनुष्य ने अन्य मनुष्यों को भी अपना अंग ही समझा। आर्यों ने समस्त समाज में समानता के आधार पर संगठन किए और संसार मात्र को एक कुटुम्ब बनाने का आयोजन किया।

आर्यों की वर्ण-व्यवस्था भी, जो आज हिन्दू समाज के गले बाँधी चक्की हो रही है, सामाजिक परिवार की आयोजना मात्र थी। आज हम वर्ण संगठन के बीच में आई हुई विकृतियों को देख कर वर्ग विहीन समाज की संस्थापना का स्वप्न देख रहे हैं। परन्तु आर्य संस्कृति के आधार पर यदि वर्ण-व्यवस्था का पुनर्गठन किया जाय तो यह निश्चय है कि यही विषधर हमारे समाज के गले का हार बन सकता है। वर्ण-व्यवस्था पारस्परिक विद्वेष, घृणा और बहिष्कार का आधार नहीं रही। आर्य द्विज अपने यज्ञ, महोत्सवों पर सभी सामाजिक वर्णों को आमन्त्रित करके उनको उचित सम्मान देते रहे हैं। पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्' के मधुर आमन्त्रण को सुनकर उत्तम-से-उत्तम वर्ण वालों के यहाँ अन्त्यज तक आते-जाते, खान-पान करते एवं यज्ञों में भाग लेते थे। भला जिस जाति ने अपने शैशव में ही वेद माता के अंक में 'समानी प्रपा सह वो अन्न भागः' की मधुर लोरियाँ सुनीं वह भेद-भाव के अनार्य संस्कार को कैसे अपना सकती थी। जिन्होंने 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' का पाठ पढ़-पढ़ के साँपों तक को दूध पिलाने का अभ्यास किया वह अपने भाई मनुष्य को ज़हर का घूँट कैसे पिला सकते थे? इस संस्कृति में पले हुओं के लिए तो शत्रु का भी सम्मान करना सिखाया जाता है। किसी ने कहा है—

जीवन्तु मे शत्रुगणाः सदैव, येषां प्रसादात् सुविचक्षणोऽहम्।
यदा-यदा मे विकृतिं भजन्ते तद-तदा मां प्रतिबोधयन्ति॥

इस प्रकार शत्रुओं की आयुष्य-कामना भी इसी संस्कृति की देन है। यों आर्य संस्कृति के अनुसार मनुष्य के प्राण मात्र बन्धु और मित्र ही हैं। 'सर्वा आशा मम

मित्रं भवंतु' की महत्त्वाकांक्षा ले के आर्यों ने पुनीत यज्ञ-वेदी पर 'मित्रस्यचक्षुषा समीक्षामहे' का व्रत लिया था। इस व्रत की अवहेलना आर्यत्व के विरुद्ध है। 'व्रताभिरक्षाहि सतामलं क्रिया' के चलन से आर्य परिचित थे।

ऐसी अवस्था में आर्यों का वर्ण-संगठन मनुष्यों में विद्रोह का बीज बोने के लिए नहीं हुआ था। जब सभी उसके मित्र हैं तो वह मित्र-द्रोही बनकर शाश्वत नरक के लिए प्रस्थान नहीं करना चाहता, जब सभी उसी के आत्मा का रूप हैं तो वह दूसरे का तिरस्कार कैसे कर सकता है।

आर्यों की यह मित्रदृष्टि की सद्भावना हमें उनकी अतिथि-पूजा में और भी अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ती है। देखिए 'अतिथिदेवोभव' के सूत्र पर भाष्य-सा प्रस्तुत करते हुए एक नीतिकार का कथन है :—

उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपिगृहमागतः ।
तस्य पूजा विधातव्या सर्व देवमयोऽतिथिः ॥

इस आधार पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि आर्यसंस्कृति का लक्ष्य पारस्परिक एकता समानता और सरूपता ही रहा है, विषमता और विरूपता नहीं।

कुछ विचारक आर्य संस्कृति में नारी की दुरवस्था का निर्देश करते हैं। समयाभाव से यहाँ अधिक न कहके रामायण के कुछ पद्य प्रस्तुत करना समीचीन होगाः—

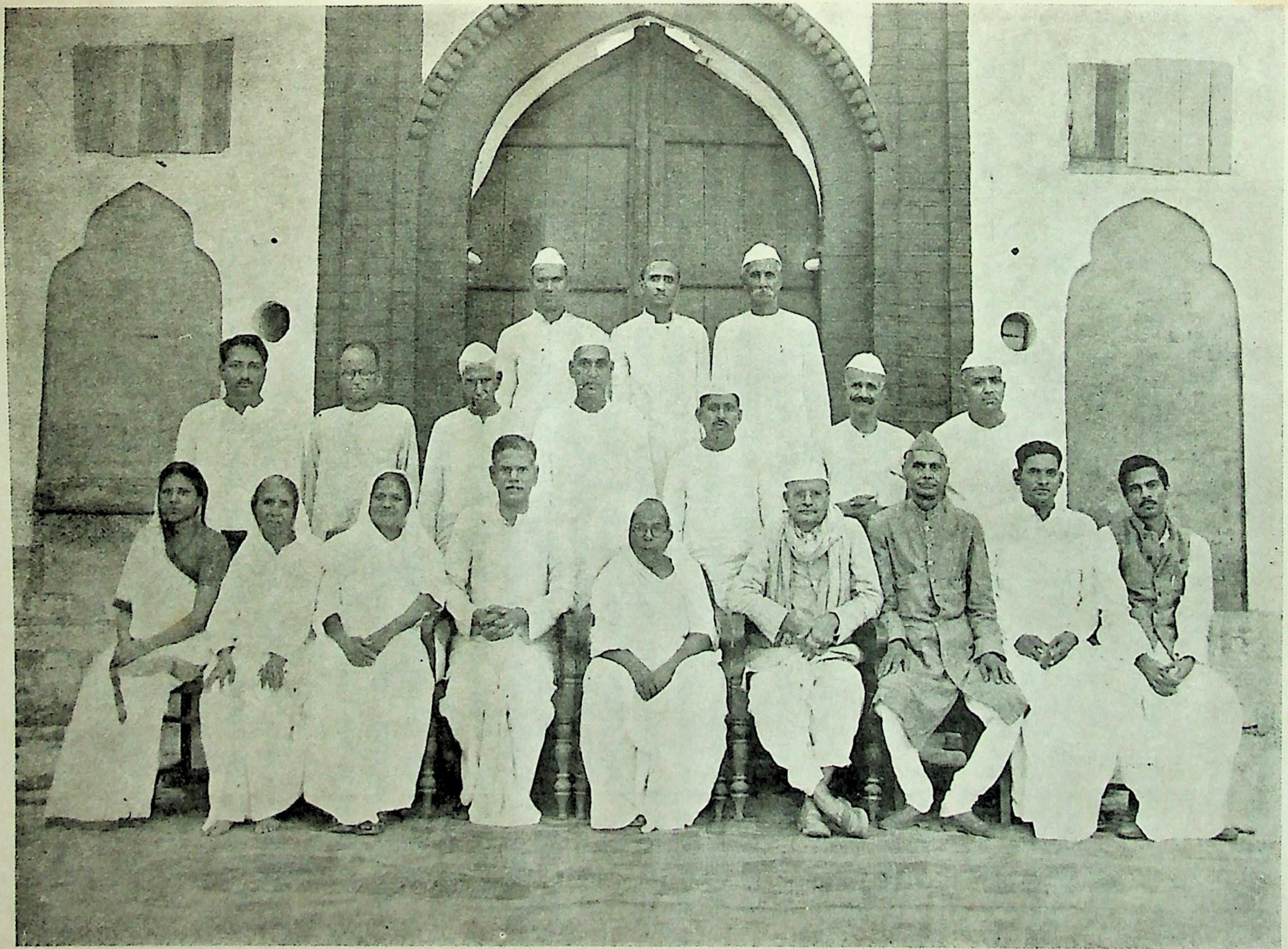
न हि प्रेषयिता तात स्वामी प्रेष्यः कदाचन।
भवतायं जनः सर्वः प्रेष्यः लवण सत्तम॥
भवान् कलत्रमस्माकं स्वामिभावे व्यवस्थितः।
स्वामी कलत्रं सैन्यस्य मतिरेषा परन्तप॥

सीता की खोज में तत्पर वानरों में से अंगद सबसे पहले समुद्र को पार करने को उद्यत हुए तब जाम्बवान् ने कहा :—

महाराज, आप तो मालिक हैं, आप प्रेष्य नहीं हैं। हम सब लोग आपके प्रेष्य हैं। आप हमारी सेना की स्त्री के समान हैं और स्त्री स्वामी है।

सामान्यतः स्त्री की यही स्थिति आर्य संस्कृति के अनुसार रही है। वह पति की संस्कृति-आधार पर सहचरी थी परन्तु शिष्टता और प्रेम के कारण वह अनुचरी बन गई। माता का गौरव पिता के गौरव से कहीं ऊँचा रक्खा गया—पितुर्दश गुणामाता गौरवेणातिरिच्यते' की व्यवस्था आज तक अक्षुण्ण है। इसलिए यह कहना कि आर्य संस्कृति से किसी प्रकार की सामाजिक या पारिवारिक विषमता को बल मिलता है सर्वथा तर्कशून्य बात है।

संक्षेप में आर्य संस्कृति पारस्परिक समानता को विकसित करने वाली है। उसी में हमारा सामाजिक और वैयक्तिक अभ्युदय छिपा है। साथ ही साथ उसका यही महत्त्व सर्वोपरि है, सचमुच उसके दोनों हाथों लड्डू हैं–एक में अभ्युदय और दूसरे में निःश्रेयस।



कन्या-गुरुकुल हाथरस

कार्य-समिति के अधिकारी और सदस्य

संस्कृत साहित्य का गौरव

[श्री० पं० प्रियव्रत, वेदवाचस्पति, आचार्य, गुरुकुल-विश्वविद्यालय, कांगड़ी, हरद्वार]

यदि मुझसे पूछा जाय, भारत के पास सब से बड़ी सम्पदा क्या है और उसकी सर्वोत्तम विरासत क्या है, तो मैं निःसंकोच कहूँगा—संस्कृत-भाषा, संस्कृत-साहित्य तथा वह समस्त ज्ञान-सम्पदा जो उन दोनों में संचित है। जब तक यह विराट् विरासत विद्यमान रहेगी और हमारे जातीय जीवन को प्रभावित करती रहेगी, तब तक भारत की मौलिक प्रतिभा अक्षुण्ण रहेगी।

—जवाहरलाल नेहरू (अहमदाबाद का भाषण १६४६)

हमारी इस परम प्यारी भारतभूमि और भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी महान्, जो कुछ भी उदात्त, जो कुछ भी श्रेष्ठ और सुन्दर सम्पदा विद्यमान है, उस सबका आदि स्रोत संस्कृत वाङ्मय है। भारत की समस्त भाषाओं और साहित्यों का मूल प्रभव-स्थान संस्कृत ही है। प्राकृत, अपभ्रंश, पाली तथा प्रचलित प्रांतीय भाषाओं को समस्त प्रेरणा और सामग्री वहीं से प्राप्त होती है। मानव-जाति की मेधा और प्रतिभा ने इतिहास के अरुणोदय से लेकर आजतक जिन विद्याओं, कलाओं और विज्ञानों की परिकल्पना की है, उन सभी विषयों में संस्कृतभाषा में अत्युन्नत, अद्भुत और व्यापक साहित्य का निर्माण हुआ है। भारत के प्रायः सभी राजकीय अभिलेखों और अनुशासनों की भाषा संस्कृत और प्राकृत रही है। संस्कृत-भाषा में ही विश्व के तीन महान् धर्मों (वैदिक धर्म, बौद्धधर्म और जैन धर्म) की शिक्षाएँ लिखी गईं और प्रसारित हुई हैं। पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक तथा कन्या कुमारी से काश्मीर तक व्याप्त महान् भारतीय साम्राज्य की विशाल सीमाओं में संस्कृत-भाषा द्वारा जो ज्ञान्-सम्पदा और संस्कृति उत्पन्न हुई है उसने सहस्रों वर्षों तक अपनी गोद में करोड़ों मनुष्यों को ज्ञान, जीवन और ज्योति तथा प्राण, प्रेरणा और पुरुषार्थ का प्रशस्त पाठ पढ़ाया है। मानवता और महत्ता की शिक्षा प्रदान की है। उपनिवेश-निर्माताओं की अदम्य सांस्कृतिक विस्तार-भावना ने सुदूर, लंका, ब्रह्मदेश, जावा, सुमात्रा, चम्पा, हिन्दचीन, तिब्बत, चीन, कोरिया, मंगोलिया, जापान, अफगानिस्तान, ईरान, मध्यएशिया और गोबी के मरुस्थल तक संस्कृत विद्याओं का प्रचार और प्रसार किया था।

डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य (प्राच्य विद्या-मंदिर, बड़ोदा के अध्यक्ष) लिखते हैं—कालचक्रतंत्र की विमलप्रभा टीका में एक महत्त्वपूर्ण कंडिका आती है। जिसमें यह लिखा है कि त्रिपिटक तथा बौद्ध धर्म का औपनिवेशिक साहित्य ६६ प्रदेशों तक पहुँचा था और उसका अनुवाद भिन्न-भिन्न ६६ भाषाओं में किया गया था। ११ वीं शती के इस उद्धरण द्वारा संपुष्ट होता है कि एक युग में संस्कृत भाषा समस्त एशिया की संस्कार भाषा थी और समस्त प्रादेशिक भाषाओं में उसका भाषान्तर हुआ था।"

गत शती के विख्यात आँग्ल पुराविद विल्सन ने यह घोषणा की थी और इतिहास

वेत्ता एलफिन्स्टन ने उसका समर्थन किया था कि "लैटिन और ग्रीक के सम्मिलित साहित्य की अपेक्षा संस्कृत भाषा का ग्रंथस्थ वाङ्मय अधिक है। इन दोनों विद्वानों के समय के बाद सुव्यवस्थित गवेषणाओं के कारण संस्कृत भाषा के सहस्रों नये हस्त लिखित ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं। अतः ज्ञात संस्कृत साहित्य की मात्रा तो लैटिन और ग्रीक के सम्मिलित साहित्य-भंडार से कई गुनी अधिक हो चुकी है। इसके अतिरिक्त यह बात विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य है कि यूरोप में लैटिन और ग्रीक हस्तलिखित साहित्य का पन्ना-पन्ना सुसम्पादित होकर मुद्रित हो चुका है। जब कि भारत में अब तक संस्कृत और प्राकृत में जितने भी हस्तलिखित ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं, इनका केवल प्रतिशत पाचवाँ हिस्सा ही मुद्रित हो पाया है। इस प्रकार विपुलता और उत्तमता दोनों दृष्टियों से संस्कृत भाषा के माध्यम से जिस वाङ्मय की रचना हुई है उसने मानव-जाति के लौकिक मांगल्य और पारमार्थिक शांति के लिए महान् कार्य किया है।

एक युग में देश-देशान्तरों और द्वीप-द्वीपान्तरों के ज्ञानपिपासु भक्तजन भारतीय मनीषियों के चरणों में आकर उनके द्वारा शिक्षित और दीक्षित होकर अपने चरित्र को विद्या, विनय और शील से समुन्नत करते रहे हैं। इस सत्य को धर्मशास्त्रकार महर्षि मनु ने बड़े गौरव से घोषित किया था—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः,
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः।

भारत के प्राचीन और आधुनिक जीवन में जो सुन्दर संस्कृति अभिव्यक्त हो रही है, उसकी सम्पूर्ण प्रेरणा संस्कृत वाङ्मय से प्राप्त हुई है। भाषा, भूषा, भाव, कला, स्थापत्य और शिल्प आदि में तथा जीवन के नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण में, हमारी संस्कृति में, कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं आया है। इतिहास की इस सुदीर्घ परम्परा में संस्कृत वाङ्मय की भावना भारतीयों को प्रभावित करती रही है। भौतिक समृद्धि और आत्मिक शान्ति—दोनों के लिए संस्कृत वाङ्मय की शिक्षाएँ हमें प्रबोधित करती रही हैं। यह भी एक महत्त्व की बात है कि संस्कृत साहित्य से संभूत संस्कृति ने कभी हमें एकांगी शिक्षा नहीं दी। उसके द्वारा हमें जीवन के आदर्शों के संतुलन और समस्वरता का संदेश सदा ही मिलता रहा है।

संस्कृत वाङ्मय के महत्त्व और गौरव की चर्चा करने से पूर्व संस्कृत भाषा के सौष्ठव और उपादेयता पर विचार करना कुछ अप्रासंगिक न होगा।

यूरोपियन पुरातत्त्वज्ञों के मूर्धन्य सर विलियम जोन्स लिखते हैं—संस्कृत भाषा का गठन अति अद्भुत है। संस्कृत भाषा ग्रीक की अपेक्षा अधिक पूर्ण और लैटिन की अपेक्षा अधिक सुन्दर है।

अध्यापक मैक्समूलर का कथन है—संस्कृत तो भाषा की भी भाषा है। यह बात सर्वथा सत्य है कि संस्कृत का भाषा-विज्ञान से वही सम्बन्ध है जो ज्योतिर्विद्या का गणितशास्त्र से है।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् श्लीगल का कथन है—"संस्कृत शब्द ही बता रहा है कि यह एक पूर्ण और परिष्कृत भाषा है। अपने गठन और व्याकरण में यह ग्रीक के समान है, परन्तु उसकी अपेक्षा कहीं अधिक व्यवस्थित है। अतएव सरल होते हुए भी यह ग्रीक से कम समृद्ध नहीं। इसमें ग्रीक की चारुता और पूर्णता के साथ-साथ लैटिन की-सी संक्षिप्तता और मनोहर यथार्थता विद्यमान है। परशियन और जर्मन धातुओं से इसका विशेष सामीप्य है।"

प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री बोप की सम्मति में—"एक समय सारे सभ्य संसार में संस्कृत भाषा व्यवहार की भाषा थी।"

× × × ×

वैदिक साहित्य—अतिविशाल भारतीय साहित्य की मूर्धा पर वेदिक वाङ्मय विराज रहा है। चारों वेद समस्त भारतीय वाङ्मय में अतिशय श्रद्धा और सम्मान के ग्रन्थ हैं। क्योंकि वे समस्त ज्ञान-विज्ञानों और उदात्त शिक्षाओं के अजस्र स्रोत हैं। इतिहास के अरुणोदय से उनकी शिक्षाओं से मानव-जाति की विशेषतः भारत की संस्कृति और सभ्यता का निर्माण हुआ है। परवर्ती काल में आर्य ऋषि-मुनियों द्वारा प्रणीत ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद्, दर्शनशास्त्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र, स्मृतिग्रन्थ तथा अन्य समस्त धार्मिक ग्रन्थ सदा से वेदों का जय-जयकार करते आए हैं। इतिहास, पुराण, रामायण और महाभारत में भी उनकी गौरव-गाथा गाई गई है। इसका एक ही कारण है कि वेदों में मानव-जाति के चिरमांगल्य की अमर गीतियाँ गाई गयी हैं। वह ऐसा अमर काव्य है जो कभी जीर्ण और पर्युषित (बासी) नहीं होता। "देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।"

वेदों की शिक्षाएँ मानव मात्र के कल्याण का उद्घोषण और उद्बोधन कर रही है—

"शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः" (ऋग्वेद)

आज विश्वबन्धुता की बात करना बड़ी ऊँची उड़ान समझा जाता है। परन्तु वेद तो जीवमात्र के कल्याण की कामना करते हैं—द्विपदे शं चतुष्पदे"। यजुर्वेद में कहा गया है—मैं समस्त प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखा करूँ—मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।"

विश्व के अनेक विचारक आज एक विश्वराष्ट्र की कल्पना कर रहे हैं। एक राष्ट्र की भावना के लिए किन-किन गुणों की आवश्यकता है, उसे बताने के लिए संसार के साहित्य में ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त से बढ़ कर और कौन-सी प्रार्थना हो सकती है—

सं गच्छध्वं सं वदध्वम् सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्त मेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानस्तु वो मनो यथा वः सुसतासति॥

हमने देखा कि वैदिक संस्कृति समस्त विश्व (प्राणिमात्र) के मांगल्य की उद्गात्री है। ईर्ष्या और द्वेष, संघर्ष और सन्देह रोष और अमर्ष के अन्तर्दाह से अनुतप्त हुए संसार के समस्त राष्ट्रों के हृदयों को वैदिक मन्दाकिनी का शान्त पावन अभिषेक ही शान्त कर सकता है।

गत शताब्दी में पहले-पहल जब पश्चिम के विद्वानों को वैदिक शिक्षाओं का ज्ञान हुआ तो वे उन उपदेशों पर निछावर हुए जाते थे।

प्रख्यात फ्रेंच विद्वान् वालटेयर के समक्ष जब यजुर्वेद प्रस्तुत किया गया तो उसने कहा था—"यह वह अति मूल्यवान् उपहार है जिसके लिए पश्चिम सदा के लिए प्राची का ऋणी रहेगा।"

विख्यात वैदिक मनीषी अध्यापक मैक्समूलर ने कहा था—

"वेद मानव-जाति के ग्रन्थालय की सबसे पुरानी पोथी है।............वैदिक वाङ्मय को हम मानव-जाति की शिक्षा का अध्याय कह सकते हैं। कहीं भी उसके मुक़ाबले का साहित्य हमें उपलब्ध नहीं होता।..........संसार के इतिहास में वेदों द्वारा उस स्थान की पूर्ति होती है जिसे अन्य किसी भाषा की कोई साहित्यिक कृति पूर्ण नहीं कर सकती।"

विश्वविदित फ्रेंच साहित्यकार विक्टर ह्यूगो के सभापतित्त्व में सन् १८८४ में व्याख्यान देते हुए फ्रेंच विद्वान् लिपों देल्बो ने उत्साहपूर्वक कहा था—

ग्रीस और रोम के पास ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् कोई अभिलेख नहीं है।

× × × × ×

वैदिक साहित्य में वेदों के अनन्तर उपनिषदों में आर्यजाति की अपूर्व आध्यात्मिक भावना और दार्शनिक प्रतिभा के दर्शन होते हैं। उपनिषदों में गहरे आत्मचिन्तन के साथ-साथ जीवन की अद्भुत पवित्रता, निर्व्याजता और ऋजुता का परिचय मिलता है। उपनिषद् ही हमारे षड्दर्शनों में प्रभव-स्थान हैं।

जर्मन अध्यापक गोल्डस्टकर का कथन है कि उपनिषदों में सभी प्रकार के तत्त्व-ज्ञानों के बीज विद्यमान हैं।

उपनिषदों का अध्ययन करके जर्मन दार्शनिक शोपनहार ने अपूर्व शान्ति और आश्वासन अनुभव करते हुए लिखा था—

सारे संसार के साहित्य में उपनिषदों जैसा लाभकारी और आत्मा को ऊँचा उठाने वाला अन्य कोई अध्ययन नहीं है। यह मेरे जीवन को आश्वासन देने वाला है और परलोक में भी मुझे शान्ति प्रदान करेगा।

उपनिषदों के समालोचक प्रसिद्ध जर्मन अध्यापक ड्यूसन ने कहा था—

सारी मनुष्य-जाति में, अपने मौलिक विचारों के लिए उपनिषद् से बढ़कर मूल्यवान् अन्य कोई साहित्य नहीं है।

उपनिषदों का मंथन करने पर जो नवनीत निकला है, भगवद्गीता के रूप में विश्वविश्रुत है। "सर्वोपनिषदो गावः, दोग्धा गोपालनंदनः" गीता के तत्त्वज्ञान पर सारे विश्व के विद्वान् मुग्ध हैं। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जब विलायत की यात्रा पर गए थे तो वहाँ पर उन्होंने वहाँ के मूर्धन्य विचारकों और साहित्य-विधायकों के अध्ययन-कक्ष में गीता के अनुवाद देखे थे जिनमें स्थान-स्थान पर टिप्पणियाँ और लाल निशान अंकित थे। अभिप्राय यह है कि आधुनिक विचारक भी गीता से बराबर प्रेरणा लेते रहे हैं।

विश्ववंदित बापू गांधीजी ने एक बार कहा था कि वैदिक साहित्य और वैदिक संस्कृति में जो कुछ कहा गया है, उसका मर्म ईशोपनिषद् के प्रथम मंत्र में निहित है। यदि भारत का समस्त वाङ्मय नष्ट हो जाय और केवल यह मंत्र बच जाय तो इसके आधार पर वैदिक संस्कृति का भवन खड़ा किया जा सकता है।

अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि भारतीय दार्शनिकों के अनेक सिद्धान्तों के आधार पर विभिन्न देशों के तत्त्वज्ञानियों ने अपनी चिंतनधारा को विकसित किया है।

श्रीमती एनी बीसेन्ट ने एक स्थान पर लिखा है—यूरोपियन मनोविज्ञान की तुलना में भारतीय मनोविज्ञान कहीं अधिक पूर्ण है।

जर्मन अध्यापक श्लीगल ने अपने साहित्य के इतिहास में स्पष्ट लिखा है—

"पुनर्जन्म के सिद्धान्त का मूल स्थान भारत है।

पाइथा गोरस द्वारा वह ग्रीस में लाया गया।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल के साहित्य ने विश्व के वाङ्मय को अपनी प्रतिभा से प्रभावित किया था।

लौकिक साहित्य—ऊपर संस्कृत वाङ्मय के एक भाग वैदिक साहित्य के गौरव की अति संक्षिप्त चर्चा की गई है। वैदिक वाङ्मय की तरह भारत का लौकिक संस्कृत साहित्य भी अतिशय समृद्ध और उपादेय है। केवल आध्यात्मिक शास्त्रों में ही नहीं अपितु भौतिक विज्ञानों और व्यावहारिक शास्त्रों में भी भारतीयों ने सभ्य जगत् को अपनी अमूल्य देन से अनुगृहीत किया है।

धर्मशास्त्र के क्षेत्र में मनु और याज्ञवल्क्य की संहिताएँ सर्वातिशायी हैं। इन दोनों आचार्यों के अतिरिक्त पराशर, नारद, बृहस्पति और कात्यायन जैसे अन्य भी स्मृतिकारों ने भारत के धर्मशास्त्र को खूब समृद्ध किया है।

व्याकरण शास्त्र में संस्कृत के शब्द-शास्त्रियों का मुकाबला करना अशक्य है भारत

के सर्वश्रेष्ठ वैयाकरण पाणिनि का समय चौथी शती ईस्वी पूर्व है। उससे पूर्व भी शाकटायन आदिशलि, गार्ग्य, गालव, शाकल्य, स्फोटायन, भारद्वाज आदि व्याकरणकार हो गए हैं।

सर विलियम हन्टर का कथन है—"पाणिनि का व्याकरण संसार के समस्त व्याकरणों में सर्वोच्च है।" अध्यापक मोनियर विलियम की सम्मति में—"पाणिनि का व्याकरण-संसार की साहित्यिक कृतियों में सर्वोत्तम है। अन्य कोई देश उसके मुकाबले की व्याकरण-शैली अब तक नहीं उपजा पाया है। उसकी योजना मौलिक और उसका पृथक्करण अति सूक्ष्म है।

तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भी भारतीयों ने अद्भुत काम किया है। रेवरेण्ड वार्ड का कथन है—भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भी आर्यों ने प्राचीन ग्रीकों और रोमनों पर तथा आधुनिक भाषा-शास्त्रियों पर विजय पाई है। एलफिन्स्टन ने कहा था—"पाणिनि और उसके उत्तराधिकारियों की रचनाओं ने व्याकरण की एक ऐसी पद्धति आविष्कृत की है, जो अपने आप में सर्वथा पूर्ण है। मानवीय भाषा के तत्त्वों को इस प्रकार किसी अन्य ने सुव्यवस्थित नहीं किया है।

बहुत-से पाश्चात्य लोगों की यह धारणा सर्वथा निर्मूल है कि संस्कृत साहित्य तो केवल हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य से भरा हुआ है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र किसी भी देश को राजशास्त्र की शिक्षा चिरकाल तक दे सकता है। वह कोई धार्मिक ग्रंथ नहीं, अपितु सर्वथा लौकिक शास्त्र है। इसी प्रकार आयुर्वेद के त्रिदोष सिद्धान्त और सप्तधातु सिद्धान्त में चिकित्सा-विज्ञान के उच्चतम तत्त्व विद्यमान हैं। नाड़ी-शास्त्र के महत्त्व को तो अभी तक पाश्चात्य वैज्ञानिक नहीं समझ पाए हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि पुराने युग में भारतीय आयुर्वेद से सारे सभ्य संसार ने चिकित्सा-विज्ञान की बातें सीखी थीं। सासानी राजा नौशेरवाँ (छठी शती) के समय में एक विद्वान् भारतीय विज्ञानों में दक्षता प्राप्त करने भारत में आया था। इस प्रकार हारूँ रशीद के समय में भारत के वैद्य सम्मानपूर्वक बग़दाद के राजदरबार में बुलाए गए थे। उन्होंने वहाँ पर रह कर अरबी में आयुर्वेद शास्त्रों का भाषान्तर किया था। आगे जाकर इन्हीं अरबी ग्रंथों के अनुवाद यूरोपीय भाषाओं में हुए और वहाँ पर चिकित्सा शास्त्र का विकास प्रारम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त गणित, ज्योतिष, भवन निर्माणविद्या, चित्रविद्या, कामशास्त्र, राजशास्त्र और धर्मशास्त्र आदि लौकिक शास्त्रों पर आर्य-विद्वानों ने सैकड़ों ग्रंथों की रचना की थी, जिनके अनुवाद सभ्य देशों की भाषाओं में बराबर होते रहे। काव्य, नाटक, प्रबंध, चम्पू, आख्यान आदि के साहित्य में भारत के कृतविद्य पंडितों और कवियों ने जो चमत्कार दिखाया है वह विश्व-विदित है। विस्तार के भय से काव्य-के प्रदेश का अधिक परिचय न देते हुए प्रतीक रूप में हम भारत के तीन महामहिम राष्ट्रिय कवियों—महर्षि वाल्मीकि, महामुनि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास और महाकवि कालिदास की कृतियों का कृति-कौशल प्रदर्शित करके अपना लेख समाप्त करेंगे।

संस्कृत भाषा के काव्य-साहित्य में शीर्षस्थान पर दो अति भव्य अमर रचनाएँ अवस्थित हैं। वे हैं—रामायण और महाभारत। दोनों ही रचनाओं का सारे संसार में आदर है। भारत के घर-घर में रामायण और महाभारत किसी-न-किसी रूप में अवश्य पढ़े जाते हैं। वे हमारे राष्ट्रिय काव्य हैं। भारतीय संस्कृति का मूर्तिमान आदर्श इन दोनों ग्रंथ रत्नों में दृष्टिगोचर होता है। युगों से वे करोड़ों मानवों की आत्मा को जीवन के आदर्शों की प्रेरणा देते आए हैं।

महाभारत में यद्यपि अनेक स्थानों पर पाप, अन्याय और असत्य की चर्चा आती है परन्तु अन्त में विजय धर्म की ही होती है। इसी कारण बंधु-बांधवों, गुरुजनों और प्रिय परिजनों के रक्त से सना हुआ युद्धक्षेत्र भी धर्मक्षेत्र कहा गया है। समरांगण में शस्त्रों की झंकारों में ही आर्यजाति के बुजुर्ग भीष्म पितामह शांति पर्व का प्रवचन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। महाभारत हमें असत्य पर सत्य की, अधर्म पर धर्म की और अन्याय पर न्याय की विजय-घोषणा करता हुआ दिखाई देता है। ऊर्ध्वबाहु होकर महाभारत के प्रणेता भगवान् वेदव्यासजी संसार को शाश्वत-धर्म का उपदेश कर रहे हैं—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रंथ कोटिभिः।
परोपकारः पुण्याय पापाय पर पीड़नम्॥

रामायण में धर्म और कर्त्तव्य की विजयध्वजा अयोध्या से लेकर लंका तक उड़ती हुई दृष्टिगोचर होती है। वन-उपवन, पर्वत-पहाड़, नदी-नाले, ग्राम-नगर, आश्रम और कुटीर तक सभी उससे पावन और प्रभावित हो उठे हैं। उस प्रभाव से हिमाचल से लेकर कुमारी अंतरीप तक का समूचा देश ही धर्म-क्षेत्र बन गया है। सर्वत्र ही वर्णाश्रम धर्म निर्विघ्न रीति से परिपालित होते दिखाई देते हैं।

प्रिन्सिपल ग्रिफिथ कहते हैं—रामायण किसी भी युग के और किसी भी देश के साहित्य को चुनौती देती हुई मानो कहती है—रामचन्द्र और सीतादेवी जैसा पूर्ण चरित्र प्रस्तुत करने में कौन समर्थ है ? कविता और नैतिकता इसमें सौन्दर्य के साथ गुँथी हुई है और एक दूसरे को उन्नत करती हुई जिस प्रकार इस पवित्र काव्य में प्रस्तुत हुई है, वैसी अन्यत्र कहीं भी नहीं प्राप्त होती।

अध्यापक मोनियर विलियम लिखते हैं—समस्त संस्कृत साहित्य में रामायण जैसी मनोमुग्धकारी कविता नहीं है। इसमें अभिजात पवित्रता है, शैली की स्वच्छता और सरलता है। काव्यमयी भावनाओं का प्राचुर्य्य है। वीरत्वपूर्ण घटनाओं का चित्रमय वर्णन। प्रकृति का भव्य दृश्य, मानव-हृदय के अतिशय परिष्कृत भावों के घात-प्रतिघातों से गहरा परिचय—ये समस्त गुण इस अति मनोरम रचना को उस प्रतिष्ठा पर पहुँचा देते हैं, जहाँ पर किसी भी युग की कोई भी रचना नहीं पहुँच सकी है।

एक प्रकार से रामायण में भारतीय जीवन के आदर्शों की तथा भारतीय संस्कृति की काव्यमय आलोचना और व्याख्या दोनों हैं। युग-युगान्तर से कोटि-कोटि जन इस उत्तम

महाकाव्य के चरित्रों से प्रेरणा और शिक्षा पाते आए हैं। रामायण की इस अमरता को कवि ने ठीक ही आँका है।

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायण-कथा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥

भारतीय विचारकों ने काव्य होते हुए भी रामायण को शास्त्र की पदवी पर बैठा दिया है क्योंकि उसके पाठ से चित्त-शुद्धि होती है। सामाजिक अनुष्ठानों, राष्ट्रिय कार्यों और गृह-कृत्यों में प्रवृत्ति होती है। स्वार्थपरता से सम्भूत अपराधों की निवृत्ति होती है। रामायण की इस गरिमा को स्कन्दपुराण ने ठीक ही प्रतिपादित किया है—

ऋग् यजुः सामाथर्वा च भारतं पाञ्चरत्नकम्।
मूलं रामायणं चैव शास्त्रमित्यभिधीयते।
यच्चानुकूल मेतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्तितम् ॥

—स्कन्दपुराण

परवर्त्तीकाल में महाकवि भवभूति ने श्री रामचन्द्र का चरित्र धर्मावतार के रूप में अंकित किया है। वह भी अभूतपूर्व है। इन सब बातों से हम एक ही परिणाम पर पहुँचते हैं कि हमारा साहित्य युग-युग से जीवन को दुर्बल और स्खलित होने से बचाने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है। सत्कर्म और सद्धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा और निष्ठा का स्वर हमारे इन दोनों महाकाव्यों में कभी मन्द नहीं पड़ा है। कर्मयोग के प्रति अमर आश्वासन देते हुए, हाथ उठाकर भगवान् वेदव्यास पुनः मानो सिंहनाद कर उठते हैं—

न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति ॥

प्रिय वाचकगण, क्या आपने कभी विचार किया है कि क्योंकर पश्चिम के राष्ट्र बार-बार शमशेर उठाकर समरांगण में आ धमकते हैं! पश्चिम के राजनीतिज्ञ और वैज्ञानिक क्योंकर विध्वंस और विनाश के पैग़म्बर हो उठते हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री के शब्दों में इस "क्यों" का सही उत्तर सुनिए—

"इस क्यों का उत्तर है यूरोप की संस्कृति की क्रूर परम्परा, जिसमें यूरोप के साहित्य की रक्त-रंजित भावनाओं का पुट है। यह सब एटम बम, और उदजन बम उसी खेत की उपज हैं, जिसमें शेक्सपीयर, मिल्टन और बालटेयर ने मनुष्य की प्रतिहिंसा और खून की खाद दी है। सम्भव है, कई लोग मुझसे सहमत न हों। परन्तु सच जानिये साहित्य के अन्तर्वेग पर ही संस्कृति का निर्णय होता है।............संसार को इस सबसे बड़े खतरे से बचाने के लिए आवश्यकता है कि यूरोप की सांस्कृतिक श्रेष्ठता के प्रभाव से संसार को मुक्त किया जाय तथा वाल्मीकि और व्यास की संस्कृति से दुनिया को प्रभावित किया जाय।"

महाभारत जैसा कि उसके नाम से झलकता है भरतवंश के चरित्र की काव्य-मयी महती गाथा है। इसको वैयासकी संहिता अर्थात् व्यास-प्रणीत संग्रह पोथी भी

कहते हैं। महाकाव्य या महापुराण कहने से भी इसकी व्यापकता और विशालता का बोध नहीं हो सकता। वास्तव में यह आर्य जाति के कार्यों और मन्तव्यों का विशाल विश्व-कोश है। इसमें प्राचीन भारत के ऐतिहासिक, धार्मिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक, नैतिक, राजनीतिक, और सामाजिक आदर्शों का बड़े विस्तार से निरूपण किया गया है। स्वयं महाभारत में लिखा है कि इस महाकाव्य में सब दर्शनों और स्मृतियों का सार, इतिहास और चरित्र-चित्रण समाविष्ट हैं। विषयों की विविधता और विशालता के कारण इसको पंचमवेद भी कहते हैं। अपनी गरिमा को महाभारत ने स्वयं ही बड़े अच्छे शब्दों में व्यक्त किया है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

अर्थात्—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो कुछ महाभारत में कहा गया है, वही अन्यत्र भी है। जो बातें इसमें नहीं हैं, वे अन्यत्र कहीं नहीं हैं।

महर्षि वाल्मीकि और महामुनि वेदव्यास मानव-मूर्त्तियों में देवत्व की स्थापना करके विश्व के समस्त साहित्यकारों से ऊँचा स्थान पा गए हैं। उन्होंने जो आदर्श चित्र अंकित किए हैं वे ऐसे अलौकिक है कि परवर्त्ती भारतीय कवि किसी नवीन देव-प्रतिमा का निर्माण करने का साहस नहीं कर सके। वाल्मीकि और व्यास की बनाई हुई देव-मूर्तियों का साज-शृङ्गार करके उनकी अर्चना करके अपनी प्रतिभा को धन्य मान गए हैं। इसका एक ही कारण है कि वाल्मीकि और व्यास की शक्ति के पीछे धर्म-भावना प्रबल थी। उसी धर्म-भावना ने उन्हें अमरत्व प्रदान किया और उनके पात्रों में देवत्व का संचार किया। दोनों क्रान्तदर्शी महाकवियों ने आर्यों के जीवन को ऐसी मर्यादा में बाँध दिया है कि समस्त धरित्री पर वैसे तेजस्वी और अद्भुत चरित्र वाले पात्र अप्राप्य हैं। उन्हीं प्रतापी कवियों की बदौलत हम संसार की मानव-जाति के गुरु बनने का दम भर सकते हैं।

नमः परम ऋषिभ्यो नमः परम ऋषिभ्यः।

भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग (गुप्तकाल) में उत्पन्न कविकुलगुरु-कालिदास ने भी उन्हीं कवि ऋषियों के चरण-चिह्नों पर चलते हुए आर्यावर्त में पुनः आर्य-संस्कृति की अलख जगा दिया। कालिदास ने अपने काव्यों और नाटकों में वर्णाश्रम धर्म के गौरव को फिर से घोषित किया। कालिदास की कृतियों में भी उदात्त नैतिकता का सुन्दर चित्रण हुआ है। "विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां च वेतांसि त एव धीराः" कुमार संभव की एक सूक्ति है—अर्थात् विकार की परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी जो मनुष्य विकार-ग्रस्त नहीं होते वे ही वास्तव में धीर पुरुष हैं। कालिदास को भी वैदिक आदर्श अति प्यारा है। स्मार्त्त युग में भी वह श्रुति का गौरव स्थापित करना चाहता है।" कालिदास को तपोवन और आश्रम अति प्यारे हैं। उसके नाटकों और काव्यों में से तपोवनों को निकाल दीजिये तो वे निष्प्राण हो जायेंगे। मानव-हृदय और निसर्ग का जैसा

२३

सुभग समन्वय हमें कालिदास में उपलब्ध होता है, वैसा वाल्मीकि के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं।

सर मोनियर विलियम ने कालिदास को भारत के शेक्सपीयर का विरुद दिया है। परन्तु कालिदास के आदर्श पात्रों की शेक्सपीयर के पात्रों से तुलना कीजिए। श्रीराम और ओथेलो की तुलना कर देखिये। श्रीराम ओथेलो की तरह निष्ठुर, विचारहीन और क्रूर पति नहीं हैं। वे आदर्श पति, आदर्श राजा और आदर्श पुरुष हैं। मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं।

भगवती सीता आदर्श पति राम से परित्यक्त होकर विना ही क्रोध किए पति के प्रति श्रद्धा और प्रेम के पुष्प बिखेरती हुई अपने दिन तपस्या में व्यतीत करती है।

भारतीय संस्कृति के परम प्रेमी कालिदास ने यूरोप के कवि की तरह उन्हें मार नहीं दिया। उन्हें जीवित रख कर कवि उनके प्रति समस्त संसार को चिर श्रद्धावान् बना गया है। यह मानव-मूर्ति में दिव्यता का अवधान आधान करता, जिसके कारण हम अभिमान से कह सकते हैं कि कविगुरु कालिदास शेक्सपीयर से बढ़कर हैं।

कविवर कालिदास के श्रेष्ठ नाटक शाकुन्तल का आँग्ल-भाषानुवाद जब यूरोप पहुँचा था तो जर्मन महाकवि गेटे उसको पढ़कर आनन्द-विभोर होकर नाच उठा था। उस समय उसने अपनी उमंग में जो सुन्दर उद्गार प्रकट किए थे, उनका संस्कृतभाषा में श्रीयुत पं० ताराकुमार कविरत्न ने इस प्रकार अति सुन्दर भाषान्तर किया है—

वासंतं मुकुलं फलं च युगपत् ग्रीष्मस्य सर्वं च तत्
यत् किंचिन्मनसो रसायनमथो संतर्पणं मोहनम्।
एकी भूतमभूत पूर्व मथवा स्वर्लोक भूलोकयोः
ऐश्वर्यं यदि कोऽपि कांक्षति तदा शाकुन्तलं सेव्यताम्॥

इसी प्रकार जर्मन कवि शिलर ने अपने विद्वान् मित्र हंबोल्ट को शाकुन्तल की प्रशंसा में अपने पत्र में लिखा था—

समस्त यूनानी पुराण कथाओं की परम्परा में ऐसी एक भी प्रतिनिधि भूत काव्यमयी रचना नहीं है जो मनोरम स्त्रीत्व या प्रेम के माधुर्य के विषय में शकुन्तला का मुकाबला कर सके।

कहने का अभिप्राय इतना ही है कि कविगुरु-कालिदास की विश्व-साहित्य की भारत को अपूर्व देन हैं। वह भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि कवि है। संस्कृत वाङ्मय को अपने इन सभी कवि-ऋषियों पर अभिमान है, जिन्होंने विश्व में भारत और भारती की विजय-वैजयन्ती फहरा कर उसको विश्व-विजयी बना दिया है। भगवान् करे भारत और भारती का सदा जय-जयकार होता रहे।

'भारते भातु भारती'

सच्चे मातृत्व का उदय

[श्री पं० रामचन्द्र आर्य मुसाफ़िर शास्त्री, अजमेर]

महर्षि कपिल ने कहा है कि जब सच्चे उपदेशक मार्ग-दृष्टा समाज में नहीं रहते, तब सर्वत्र अन्धपरंपरायें फैल जाती हैं, जिनसे समाज नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। बीसवीं शताब्दी के सबसे बड़े सुधारक तपोनिष्ठ देव दयानन्द ने अपने पवित्र ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' के द्वितीय समुल्लास के आदि में शतपथ ब्राह्मण का एक वाक्य उद्धृत किया है, वह यह है कि 'मातृमान् पितृमान् आचार्यमान् पुरुषोवेद:' अर्थात् कोई भी बालक सच्चा ज्ञानी तभी बन सकता है जब उसे आदर्शमाता, आदर्शपिता एवं आदर्शगुरु प्राप्त होते हैं। संसार का इतिहास पढ़ने से पता चलता है कि जिन बालकों को आदर्श-मातायें प्राप्त हुई हैं निःसन्देह उन्होंने ही देश का कल्याण किया है। संसार के अनेक महापुरुषों के जीवन इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यथा—महात्मा गान्धी, वीर-शिरोमणि छत्रपति शिवाजी, महात्मा टाल्सटाय, जार्ज वाशिंगटन, महर्षि दयानन्द आदि के जीवन इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

भारतीय ऋषियों ने मातृशक्ति के निर्माण पर बड़ा बल दिया है। आयुर्वेद-आचार्य महर्षि सुश्रुत तथा चरक आदि ने माता के आहार-विहार और विचारों आदि के आधार पर ही सुसन्तति का निर्माण स्वीकार किया है। हमारे देश की प्राचीन मातायें मनोवाञ्छित सन्तानें निर्माण करने में प्रसिद्ध थीं। आज शिक्षा के अभाव के कारण मातायें उत्तम गुणों से हीन हो गई। फलतः सन्तान-निर्माण का जो महान् उत्तरदायित्व-पूर्ण कार्य एक माता का होता था, वह सर्वथा बन्द और निरुद्देश्य हो गया।

आज की शिक्षा जिसमें पाश्चात्य ढंग मिश्रित है, मातृ-शक्ति-निर्माण से सर्वथा दूर है। धन्य है माता मदालसा और जीजाबाई को जिन्होंने इस बात को सिद्ध कर दिखाया कि माता जैसा चाहे वैसा अपनी सन्तान का निर्माण कर सकती है।

महर्षि दयानन्द ने नवभारत का निर्माण करने के हेतु माताओं के निर्माण पर बड़ा बल दिया है। आर्य नेताओं ने जितना बल और धन लड़कों की शिक्षा पर व्यय किया है उतना कन्याओं पर ध्यान नहीं दिया। यदि ऋषि की पद्धति पर आर्यसमाज मातृ-निर्माण कार्य करता तो आज देश का नक़शा (मानचित्र) कुछ और ही होता। जहाँ-जहाँ ऋषि-भक्तों ने इस ओर ध्यान दिया है, वहाँ-वहाँ अच्छी सफलता प्राप्त हुई है, परन्तु इतनी नहीं, जितनी कि होनी चाहिये थी। क्योंकि कन्याओं के जो शिक्षणालय खुले हुए हैं, उनमें प्रायः ऋषि-प्रणाली का सर्वथा अभाव है। अधिकतर उनमें स्कूलों और कालेजों की शिक्षा का ही ढंग बर्ता गया है। फिर भी जिन्होंने कन्या-शिक्षण का कार्य किया वे पूजनीय और आदरणीय हैं। उनका प्रयत्न स्तुत्य है। आज जबकि देश स्वतंत्र है और भारतवर्ष का प्राचीन गौरव नष्ट हो चुका है, उसे जगत्-गुरु के पद पर आसीन करने के हेतु मातृशक्ति-निर्माण करने की कितनी भारी आवश्यकता है इसे प्रत्येक देश-प्रेमी अनुभव करता है। अस्तु,

आज देश को आवश्यकता है ऐसी माताओं की जो अपना समस्त जीवन कन्याओं को सच्ची माता बनाने में लगादें। हाथरस-गुरुकुल की आचार्या श्रीमती बहन लक्ष्मीदेवीजी ऐसी ही एक माता हैं। इन्होंने अपना समस्त जीवन अपने देश की और अपनी समाज की पुत्रियों के सच्ची माता बनाने में व्यय किया है। आज उनकी पुत्रियाँ अपनी मातृ-संस्था के २५ वर्ष समाप्त करने पर उन्हें 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' भेंट-स्वरूप सम्मानार्थ प्रदान कर रही हैं। बहन लक्ष्मीदेवीजी के एक छोटे भाई होने के नाते मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ कि उनके चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि उपस्थित करूँ। साथ ही उनकी शिष्याओं से यह भी निवेदन करूँ कि प्यारी बहनों, यदि आप संसार में सुख-शान्ति और ऐश्वर्य का साम्राज्य चाहती हैं तो अपनी माता की भाँति ही, मातृ-निर्माण के पवित्र कार्य में जीवन की आहुति दो।

उन्नति का मूल—नारी-गौरव

[श्री स्वामी विश्वेश्वरानन्दजी सरस्वती, वैदिक साधन आश्रम, यमुनानगर (अम्बाला)]

प्राचीन काल से संसार के उत्थान और पतन का मूल रूप मुख्य कारण नारी जगत् रहा है। 'मातृमान् पितृमानाचार्यमान पुरुषो वेद,' इस आर्ष वचन में, ज्ञान-वृद्धि का प्रथम स्थान मातृ-शक्ति को दिया गया है। इसी प्रकार महाराज मनु ने भी चेतावनी दी और कहा—यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता। जहाँ नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है वहाँ देवता रमण करते हैं, और इसके विपरीत स्थिति में यत्रै तास्तु न पूज्यन्ते, सर्वास्तत्रा फलाक्रिया। मनु। जहाँ स्त्रियों का सत्कार न होकर उनका अपमान किया जाता है वहाँ की सब क्रियाएँ असफल होती हैं जैसा कि गत मध्य काल में स्त्री शूद्रो नाधीयाताम् तथा ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, आदि-आदि-नारी-जगत् के प्रति कुत्सित वचन कह कर दुर्भाग्यवश स्त्रियों की सुशिक्षा का द्वार बन्द कर दिया गया था। जिसके परिणाम-स्वरूप विश्वशिरोमणि, जगद्गुरु भारत अति हीन दशा को प्राप्त हो सहस्रों वर्ष परतन्त्रता की वेदी में जकड़ा रहा।

परमात्मा की अपार दया से वर्त्तमान भारतीय जागृति के अग्रदूत ऋषि दयानन्द ने भारतोत्थान में स्त्री-शिक्षा के महत्त्व को अनुभव करते हुए ऋषि-महर्षि व वेदानुमोदित स्त्री-शिक्षा का मंगलमय नाद घोषित किया, जिसको श्रवण कर आर्यसमाज ने स्थान-स्थान पर स्त्री-शिक्षा संस्थाएँ स्थापित कर राष्ट्र के जीवन में एक नवीन क्रान्ति को जन्म दिया।

आज हम स्वाधीन हैं और देश में चहुँ ओर स्त्री-शिक्षा-संस्थाओं का विकास हो रहा है, परन्तु अभी देश में ऐसे महिला-शिक्षणालयों की बहुत कमी है जिनमें संस्कृति एवं राष्ट्रियता की उच्चतम भावनाओं का विकास कराया जाता हो।

स्वाधीन भारत में स्त्री-शिक्षा के आन्दोलन पर पश्चिमीय संस्कृति का दूषित प्रभाव एवं आतंक व्याप्त है। आवश्यकता है कि इस सांस्कृतिक दुष्प्रभाव का प्रतिकार करने के लिए सबल रचनात्मक कार्य करने वाली संस्थाओं की स्थापना जितनी अधिक हो की जावे।

ऐसी ही संस्था की स्थापना करने का साहस पूज्या श्री० लक्ष्मीदेवीजी ने आज से २५ वर्ष पूर्व किया और व्यास-पूर्णिमा विक्रमी सं० १९८८, ई० सन् १९३१ को आर्य-कन्या-गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस (जिला अलीगढ़) की स्थापना की। जिसके संचालन में देवीजी को अनेक कष्ट सहन करने पड़े ; परन्तु देवीजी ने धैर्य पूर्वक अदम्य उत्साह और पुरुषार्थ करके इस संस्था का संचालन किया। इस शिक्षणालय में अनेक कन्याओं ने शिक्षा प्राप्त की तथा सम्प्रति प्राप्त कर रही हैं। अब तक एक सौ से अधिक संख्या में इस संस्था की स्नातिकाएँ, अनेक शिक्षण-संस्थाओं में सफल शिक्षण कार्य एवं गार्हस्थ्यधर्म का पालन-करते हुए वैदिक संस्कृति तथा राष्ट्रियता की उच्च भावनाओं का विस्तार कर रही हैं।

इस संस्था की स्नातिकाओं ने अपने औचित्य को ध्यान में रखते हुए श्री लक्ष्मी-देवीजी को अभिनन्दन-ग्रन्थ अर्पित करने का जो स्तुत्य निर्णय किया है, वह प्रशंसनीय है। परमात्मासे प्रार्थना है कि वह इस संस्था को सफलीभूत करें और उसमें देश-हितैषी वेदानुयायी सज्जन महानुभाव यथोचित सहायता व सहयोग देते रहें।

देशोद्धारक दयानन्द

[श्री घनश्यामसिंह गुप्त, प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा, मध्य प्रदेश]

महर्षि दयानन्द भारतवर्ष के उद्धारकों में अग्रगण्य हैं। उन्होंने केवल धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में ही कार्य नहीं किया अपितु राजनैतिक क्षेत्र में भी प्रवेश कर भारतीय स्वतन्त्रता की नींव डाली।

जिस समय अँगरेजी राज्य भारत-हित के लिये ईश्वर की एक देन माना जाता था, और काँग्रेस का प्रथम प्रस्ताव अँगरेजी शासन के प्रति राजभक्ति का प्रदर्शन हुआ करता था उस समय ऋषि दयानन्द ने और उनके पश्चात् आर्यसमाज ने मुक्तकण्ठ से विदेशी राज्य की निन्दा की तथा भारतवासियों के हृदय में उन भावनाओं और आकांक्षाओं को जाग्रत् किया जिनके विना स्वतन्त्रता-प्राप्ति असम्भव थी।

ऋषि दयानन्द के अनेक उपकार हैं। मेरी सम्मति में तो भारत के रोगों का जितना ज्ञान स्वामीजी को था और उनकी निवृत्ति की जितनी अच्छी विधि उन्होंने बतायी, उतनी किसी दूसरे ने नहीं बतायी।

महिलाओं और अछूत कहे जाने वाले समुदाय पर ऋषि का जो उपकार है, वह अनन्त काल तक इतिहास के पृष्ठों पर अंकित रहेगा। अल्पायु में कन्याओं का विवाह करना, उन्हें विद्या न पढ़ाना, आदि अनेक बुराइयाँ थीं जिनके विरुद्ध महर्षि दयानन्द ने अपनी जबरदस्त आवाज़ उठाई। ऋषि दयानन्द की कृपा से हम देखते हैं कि आज सहस्रों कन्यायें सुशिक्षित होकर विश्वविद्यालयों और सार्वजनिक संस्थाओं में अग्रसर हो रही हैं। कन्या गुरुकुल हाथरस भी उन्हीं ऋषि दयानन्द के उपदेश का ज्वलन्त उदाहरण है। ऋषि की शिक्षा से प्रेरित होकर ही बहन लक्ष्मीदेवी ने इस गुरुकुल की स्थापना और संचालना की। उनको मैं हार्दिक बधाई देकर सादर अभिनन्दन करता हूँ।

वे मन्दिर और ये

[सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्रीयुत वृन्दावनलाल वर्मा, झाँसी]

पूर्व काल में वैसे भव्य, लुभावने मन्दिर कैसे बन जाते थे ? उनमें सूक्ष्मतम कला की इतनी अभिव्यक्ति क्यों और किस उद्देश्य से है ?

उन मन्दिरों के देखने पर, याद आती होगी ब्रह्माण्ड के रचयिता की—उसकी जो सब में रमा हुआ है, उसकी जो उन मन्दिरों जैसा अनुपात और सन्तुलन देता रहता है। उसके काम और नाम के लिये हमारी गाँठ में शब्द ही नहीं हैं।

मन्दिर में जाकर क्या हमने उसे पाया ? नहीं, पर, उसकी स्मृति प्रबलतर से प्रबलतम अवश्य हुई। हमें न उन मन्दिरों के शिल्पी का नाम मालूम है और न इसका। उसके ढूँढ़ने के लिये मन्दिरों के बाहर निकल पड़े।

मन्दिर के सौन्दर्य, शिल्प की विशालता ने शक्ति और स्फूर्ति दी और ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसे हम अपने ही भीतर ढूँढ़ने लगे ! कबीर के शब्दों में—जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ—। गहरे बैठकर जिन्होंने ढूँढ़ा उन्होंने पालिया होगा।

तब उन विशाल सुन्दर मन्दिरों के बनाने का उद्देश्य सफल हुआ।

और आज के अधिकांश मन्दिर ? इनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श सबकी कमी महसूस होती है। बनाये भी शायद भिन्न प्रयोजन से हैं। नाम के लिये, भौतिक सम्पदा के वरदान के लिये।

उस सौन्दर्य, उस विशालता के पीछे न जाने कितनी ध्यान-धारणा, कितनी तपस्या छिपी हुई है। जो मूर्तियाँ, जो मन्दिर आज बनते हैं, इनके पीछे ध्यान-धारणा और तपस्या का अनुपात उनके सौन्दर्य और प्रभाव से आँका जा सकता है।

उतना पैसा खर्च करके इतना कुरूप क्यों उत्पन्न किया जाता है यह वे जानें।

यही हाल शिक्षा-संस्थाओं का जान पड़ता है। जिसके पीछे जितनी ध्यान-धारणा और तपस्या होगी, उसका भीतरी रूप उसी अनुपात में हम सबकी श्रद्धा का उपार्जन कराता है।

इसी कारण लगभग वही पाठ्य-क्रम रहते हुये भी एक संस्था और दूसरी संस्था में स्पष्ट अन्तर दिखलाई पड़ता है।

जब हम किसी ऐसी संस्था के भीतर जाते हैं जिससे शक्ति, स्फूर्ति और श्रद्धा अपने साथ ले आवें, तब हमें अपने भीतर भी कुछ ढूँढ़ने के लिये उत्साह मिलता है।

सुख-शान्ति का मार्ग

[स्नातिका दयावती, विद्याविभूषिता, काव्यतीर्थ]

इस जागृति के युग में भी जिधर दृष्टि उठा कर देखते हैं, उधर ही त्राहि-त्राहि मची हुई है। चारों ओर अन्धकार के बादल छाये हुए हैं। कहीं कोई सुख-शान्ति की नींद नहीं सो सकता। नवीन सभ्यता की प्रबल'आँधी जीवन-मरण की बाज़ी लगाकर सुख-शान्ति के लिए प्रयत्न करने वाले मानव-समूह को समूल उखाड़ फेंकने का प्रयत्न कर रही है। आज सुख और शान्ति की ध्वनि को तथा उसके प्रभाव को विश्व-व्यापी बनाने का प्रयत्न करने पर भी पश्चिमीय सभ्यता अशान्त वातावरण को रोकने में सर्वथा असमर्थ नज़र आती है। इसका मुख्य कारण अविश्वास, ईर्षालुता तथा स्वार्थ-सिद्धि की भावना ही है। जिससे पूछो, वही दुखी और अशान्त दिखाई देता है। सर्वत्र अशान्ति का ही साम्राज्य छाया हुआ है।

यदि हम गम्भीरता से विचार करें तो पता चल जाएगा कि शान्ति कोई हाट-बाट में बिकने वाली चीज़ नहीं है। शान्ति हमारे हृदय में ही है परन्तु पूँजीवाद के इस युग में वह अलभ्य है। उसे तो वेदाभ्यासी विवेकी ही अनुभव कर सकता है। बाह्य जगत् में अशान्ति का राज्य है, पर अन्तर्जगत् में शान्ति ही शान्ति विराजमान है। परमात्मा रूप शान्ति में और जगत् रूप अशान्ति में इस प्रकार निहित है, जैसे तालाब के मध्य जल का बुलबुला। यही कारण है, कि अशान्ति के बीच शान्ति झलका करती है। यदि शान्ति की सत्ता न हो तो संसार अशान्त वातावरण की ज्वाला से क्षण-भर में भस्मीभूत हो जाए, अशान्ति की आत्मा शान्ति है।

रोते हुए से कहा जाता है, शान्त हो जाओ और वह चुपचाप हो जाता है। तड़पते हुए से कहा जाता है, शान्त हो और वह धैर्य प्राप्त करता है। इससे सिद्ध होता है कि दुःख तथा शोक के समय विचार करने से हृदय में शान्ति मिलती है। क्योंकि उस समय उसकी भावना बाह्य जगत् से हट कर हृदय में निहित हो जाती है। जीवात्मा इस दुरंगी दुनिया में उपस्थित है, वह बाह्य जगत् की अशान्ति में भी विद्यमान है। और

अन्तर्जगत् की शान्ति में भी निहित है। ओं शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः" कहने से क्षण-भर के लिए कुछ मानसिक शान्ति अवश्य मिलती है। शान्ति का वातावरण चहुँ ओर घिर जाता है, फलतः शान्ति कोई कल्पित वस्तु नहीं, उसकी भी अलग सत्ता है। उसके लिए हमें प्रयत्न करना पड़ेगा। शान्ति के लिए हमें वेद का आश्रय लेना होगा। वेद की कितनी सुन्दर शिक्षा है—

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम्' कभी किसी का धन लेने की लिप्सा न करें, प्रभु ने जो दिया है, उसी का सब भोग करें। इतना नर-संहार कर क्या इंगलैण्ड, अमेरिका, रूस आदि सुखी हैं। रोम का एक बादशाह रसनेन्द्रिय का इतना दास था, कि दिन में विविध व्यंजनों का स्वाद चखने की वासना से, पहले खाए हुए भोजन का औषधि द्वारा वमन कर, दूसरे प्रकार का भोजन करता था। उसका सारा जीवन इसी प्रकार बीता और अन्त में पश्चात्ताप ही उसके हाथ लगा। दूसरी ओर त्याग-तपस्यामूर्ति महर्षि दयानन्द को देखिए—'प्रभु, तेरी इच्छा पूर्ण हो' कहते-कहते बड़ी प्रसन्नता पूर्वक संसार से विदा हुए! विश्ववन्द्य महात्मा गांधी की महत्ता का कारण भी उनका तप-त्याग ही था।

यदि आप उस प्रकाश की खोज में हैं, जो कभी मन्द नहीं पड़ता, उस आनन्द की तलाश में हैं, जो कभी समाप्त नहीं होता, उस शान्ति के जिज्ञासु हैं, जो कभी नीरस नहीं होती, तो इन्द्रिय-दमन द्वारा मन को वश में कीजिए। स्वार्थ त्यागिए, संयमी बनिए। तभी सब प्रयत्न सफल हो सकेंगे। कहा भी है, "मन के हारे हार है मन के जीते जीत" विना मन को जीते न शान्ति है, न प्रेम और न आनन्द है, न मुक्ति है और न मोक्ष है। स्वार्थ नष्ट कर, प्रेम के आनन्द द्वारा स्वयं सुखी बनिए और दूसरों को भी सुखी बनाइए।

आत्मिक विकास

[श्रीमती अनिलादेवी, काव्यतीर्थ]

आत्मा के विकास के पाँच साधन हैं। अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि पाँच यम और पाँच नियम। ये ही आध्यात्मिक तत्त्व हैं, जिनका उपदेश भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को दिया था। जिहोवा ने मूसा को बुलाकर पत्थर की दो पट्टियाँ दीं, जिन पर दस आज्ञाएँ लिखी हुई थीं। वे दस आज्ञाएँ ये ही दस यम-नियम थे। हज़रत मसीह ने पर्वत पर खड़े होकर उपदेश दिया था जिसे 'सरमन आफ़ दी माउन्ट' कहा जाता है। इसमें भी यम-नियमों की व्याख्या के अतिरिक्त कुछ न था। संसार के मत चाहे किन्हीं बातों पर परस्पर लड़ते हों, परन्तु आर्य संस्कृति के आगे सब नतमस्तक हैं।

शतियों तक पराधीनता की शृँखला में जकड़े रहने के पश्चात् भारत अब स्वाधीन हुआ है। स्वातन्त्र्य-उषा की सुनहली किरणें भारत के मानव को नवजीवन एवं नव

चेतना से आप्लावित कर रही हैं। इस नवीन युग में प्रवेश करने के पश्चात् हमें समाज का नव निर्माण करना है। हमारे चारों ओर योजनाओं का ताँता-सा लगा हुआ है, परन्तु इन योजनाओं में मनुष्य को मनुष्य बनाने की योजना की कहीं झलक भी नहीं दिखाई देती। यह योजना हमारी आर्य संस्कृति के पास है। जब तक वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली में सुधार नहीं होगा, तब तक चरित्र-निर्माण में सफलता नहीं मिल सकती। जिसमें गुरु-शिष्य का पिता-पुत्र के समान सम्बन्ध हो, ऐसी शिक्षा-प्रणाली की आवश्यकता है, और यह प्रणाली है, गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली। 'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः' जैसे माता नौ मास तक बच्चे को गर्भ में धारण करती है, दिन-रात उसके निर्माण में लगी रहती है, वैसे ही आचार्य बालक को विद्या-माता के गर्भ में धारण करता है। दिन-रात उसके निर्माण में लगा रहता है। विद्या पढ़ाने के साथ आत्मा को जगा देने का महत्त्वपूर्ण कार्य वही करता है। तात्पर्य यह कि आज निर्माण-युग में हमें गुरुकुल-शिक्षा प्रणाली का पुनः प्रारम्भ करना चाहिए, जिससे एक दूसरे के रुधिर की प्यासी, बावली दुनिया प्रकृति की चकाचोंध में अपने को खो देने के स्थान में, आत्मतत्त्व को सीखे और मशीन बनने के स्थान में, मनुष्य बनकर 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' के पाठ को पुनः स्मरण करे। शिक्षित जनों की शिक्षा देश, समाज और जाति को पवित्र करने वाली बने।

नहीं कामना राज-पाट की, स्वर्ग और अपवर्ग न चाहूँ,
केवल चाह यही है, सबके संकट काटूँ; कष्ट मिटाऊँ।

× × × ×

चाहे निन्दा करें विवेकी, चाहे करते रहें बड़ाई,
चाहे सुख-समृद्धि-वर्षा हो, चाहे हो दरिद्र दुखदायी।
चाहे मृत्यु आज आजाए, चाहे प्रलय-काल तक आए,
किन्तु धीरजन न्याय-मार्ग से, नेक न पीछे पैर हटाए।

× × × × ×

जिस दिन तुम पैदा हुए, बिलख रोते थे,
हँसते थे घर के लोग, सुखी होते थे।
अब ऐसी करनी करो, सुकीर्ति कमाओ,
रोते सब रहें तुम्हें, तुम हँसते जाओ।

× × × × ×

सब हों सुख-सम्पन्न, स्वस्थ अविकार, अरोगी,
सब हों भद्र विनीत, न हों दुख-दुर्गति-भोगी।

× × × × ×

नित्य-नित्य जन त्याग रहे तन, कैसी विषम समस्या है,
समझ रहे जो सदा रहेंगे, इससे बढ़ अचरज क्या है।

—हरिशङ्कर शर्मा

कविता-कलाप

'वैज्ञानिक' से–

[श्री पं० हृषीकेश चतुर्वेदी, आगरा]

'अणु वीक्षण' 'दूर वीक्षणों' तक सीमित है तेरी छानबीन;
'किससे कहते हैं भावुकता'?—तू क्या जाने, ओ हृदयहीन!
वह चित्र प्रवासी प्रियतम का, है विरहिणि का जीवनाधार;
करता है शीतल हृदय सदा, वह प्राणाधिक प्रेमोपहार।
वह 'प्रेम-पात्र' का प्रणयपत्र, है प्रेमी की निधि एकमात्र;
दर्शन, पारायण में जिसके, रहता निमग्न वह अहोरात्र।

क्या, अन्य चित्र, या पत्र सभी;
हो सकते उनके तुल्य कभी।
ओ भौतिकता के भक्त! बोल;
अपने वैज्ञानिक चक्षु खोल।

'कागज़-कागज़ हैं सभी एक' कहकर, चुप है तेरा विवेक;
भव का रहस्य है भाव—अरे! तू नहीं समझता, बुद्धि-दीन।
तू क्या जाने, ओ हृदयहीन!

वर्षों के बिछुड़े हुए, अहह, मिल गये हृदय दो अनायास;
सोतीं संस्मृतियाँ जाग पड़ीं; प्राणों ने ली सुख-पूर्ण श्वास।
नयनों ने पलक-प्यालियों में पल-भर में प्रेम-सुधा भर दी;
जिसकी दो बूँदों ने गिरकर, उर-उर्वी फिर उर्वर कर दी।

वह तरुणी तन, धन, जन खोकर;
खल-दल से सन्तापित होकर।
सूनी कुटिया के कोने में;
सुख ढूँढ़ रही थी रोने में।

उसको ज्यों-त्यों मरकर-जीकर, मिल पाया एक अश्रु-सीकर;
है किन्तु, तुझे केवल दृग-जल, आँसू दुखमय या प्रेम-लीन।
तू क्या जाने, ओ हृदयहीन!

वह अमर वीर की मंजु मूर्ति, भरती है जग में नवस्फूर्ति,
वह भव्य भवन की दिव्याकृति, करती जन की औत्सुक्य-पूर्ति।
उपजाती श्रद्धा, शान्ति, प्रेम, भावुक मन में जो सब प्रकार,
गद्‌गद हो सहृदय करता है, जिस कलित कला पर प्रेम-प्यार।
उसको हा, तेरी बुद्धि प्रखर,
बतलाती है केवल पत्थर!
गुरु जन के प्रति तुझ में न मान;
हैं अस्थि-मांस वे मूर्त्तिमान।
भगिनी-पत्नी का भेद-ज्ञान, 'विज्ञान' न सकता कभी जान;
तुझको तो नर केवल पशु है; पर, यह न विवेचन समीचीन।
तू क्या जाने, ओ हृदय हीन!

भावुक 'आस्तिक' कहता पुकार, 'है ब्रह्म सार; सब जग असार';
अस्तित्व ब्रह्म का किन्तु, तुझे, है काव्य-कल्पना का विकार।
ओ कल्पनारि! वास्तव्य-भक्त! कल्पित हैं अङ्क, विन्दु, अक्षर;
कल्पित भाषात्मक शब्द सभी, 'विज्ञान' स्वतः जिन पर निर्भर।
ब्रह्मानुरक्ति है, जग-विरक्ति,
'विज्ञान'-भक्ति है, स्वार्थ-सक्ति;
हो स्वार्थ-परायण ही मानव,
मानवता तज, बनता दानव।
तू नहीं जानता, ओ अजान! जीवन है कितना मूल्यवान,
हैं ये अनुपम नर-रत्न तुझे, केवल कौड़ी के तीन-तीन।
तू क्या जाने, ओ हृदयहीन!

नहीं मृत्यु का भय करता हूँ, केवल दोषों से डरता हूँ,
यदि निर्दोष त्याग तन जाऊँ, पुत्र-जन्म का-सा सुख पाऊँ।

× × × ×

अबल अरक्षित का जगती पर, रक्षक स्वयम् विधाता है,
दैव-कोप से सबल-सुरक्षित भी, विनष्ट हो जाता है।
भटका हुआ अनाथ विपिन में, नेक न संकट सहता है,
लाख उपाय करो पर, घर में, जीव न जीवित रहता है।

—ह० श० शर्मा

जवानी और नियति

[डा० श्री पद्मसिंह शर्मा, 'कमलेश', एम० ए०, पी-एच-डी०]

जवानी का उठना तूफ़ान, ज़ुल्म की बालू की दीवार,
नियति का दुस्साहस भी खूब, चली करने मुझसे खिलवाड़ !
सहस्रों वज्रों की ले शक्ति, गढ़े हैं मैंने ये भुजदण्ड,
अष्टधातों का केन्द्रित रूप, खुला है मेरा वक्ष प्रचण्ड,
पवन उनचास लजाते हुए, बढ़ रहे दृढ़ पग आठों याम–
फुंकरित व्याली-सी यह साँस, बन्धनों को करती है खण्ड,
शीश पर है काँटों का ताज, चमकता है गर्वोन्नत भाल,
प्रलय के ज्वालामुखि दो नयन, रहे हैं वह्नि-वारुणी ढाल।
विकल प्रतिपल विद्रोही प्राण, प्राण में प्रतिहिंसा का ज्वार–
चूर होगा, हाँ, क्षण में चूर, क्रूर सत्ता का तुच्छ पहाड़ !
जवानी का उठना तूफ़ान, ज़ुल्म की बालू की दीवार,
नियति का दुस्साहस भी खूब, चली करने मुझसे खिलवाड़ !

क्रांति की ले प्रज्वलित मशाल, जागते झोंपड़ियों के झुण्ड,
अभ्रचुम्बी महलों की ओर, चले अगणित पीड़ित नरमुण्ड,
देख कंकालों की रोषाग्नि, हिल गई साम्राज्यों की नींव—
एक इंगित पर लाखों वीर, लगे भरने शोणित के कुण्ड !
प्राणियों की भय-विह्वल चीख, बन गई नव विप्लव का नाद,
धरा अँगड़ाई लेकर उठी, जगा दिगमंडल का उन्माद,
'विषमता-पशुता का यह गान बन्द हो' गूँजी तरुण-पुकार,
विजय हो मानवता की आज, रहा मानव-केहरी दहाड़ !
जवानी का उठना तूफ़ान, ज़ुल्म की बालू की दीवार;
नियति का दुस्साहस भी खूब, चली मुझसे करने खिलवाड़ !

गिरी शोषण के सिर पर गाज, हुई जनता की शक्ति प्रबुद्ध,
स्वार्थ का तप्त मरुस्थल आज, न करता जीवन की गति रुद्ध,
सभ्यता का भयभीत भुजङ्ग, पड़ा कीलित विषदंत-विहीन–
नाश की ज्वालाओं के बीच, मनुज का निखरा रूप विशुद्ध।
रूढ़ि-जर्जर समाज का दुर्ग, ढहा, खाकर नवयुग की चोट,
मुक्ति-गंगा की मुक्त तरंग, रही मानव-चरणों पर लोट,
सृष्टि का हुआ पुनः निर्माण, विश्व बन गया एक परिवार–
उग रहा नव संस्कृति का सूर्य, युगों की जड़ता का तम फाड़ !
जवानी का उठना तूफ़ान, ज़ुल्म की बालू की दीवार,
नियति का दुस्साहस भी खूब, चली मुझसे करने खिलवाड़ !

मानव से—

[श्री पं० देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य', सम्पादक, दैनिक 'नवप्रभात']

जीवन में संघर्ष भरे हों—संघर्षों में हों जब प्राण,
तब उन प्राणों में होता है, नवजीवन का नव निर्माण।

× × × ×

मानव होकर मानवता से तुमने कितना प्यार किया है,
इस जीवन में तुमने कितना औरों का उपकार किया है।
सुन पाये हो इन कानों से जग की कितनी करुण कहानी,
डाल सके पर-दुख-दावा में तुम कितना आँखों का पानी।

कितनों के अवलम्ब बने हो, कितनों को भर अङ्क मिलाया,
स्वयम् गरल पी-पीकर कितना औरों को पीयूष पिलाया।
बनकर निर्देशक कितनों को तुमने भूली राह बताई,
कितनों के तमसावृत मन में तुमने जीवन-ज्योति जगाई।

लोभ, मोह, मद कितना छोड़ा, नाता काम-क्रोध से तोड़ा,
विषय-वासनाओं से हटकर कितना प्रेम ईश से जोड़ा।
जीवन का क्या अर्थ यहाँ है, क्यों कञ्चन-सा तन पाया है,
क्या इसको कुछ समझ सके हो, क्यों नर भूतल पर आया है।

क्या अपने की परिभाषा में—सीमित है परिवार तुम्हारा,
क्या न सुनी यह अमृतवाणी—है कुटुम्ब संसार तुम्हारा।
कितनी त्याग सके पर-निन्दा, कितना अपना अन्तर देखा,
कितना रख पाये हो अब तक, अपने पाप-पुण्य का लेखा।

गायत्री-गरिमा

[श्री पं० अमृतलाल चतुर्वेदी, आगरा]

सत् चित आनँद औ' परम पिता हैं ईस,
भूमि अन्तरिक्ष द्यऊ लोक रखवारे हैं।
प्राणाधार, दुःखजारि, ज्ञान-सुख दैनहार,
सृष्टि करतार, बरबे के जोग प्यारे हैं।
विश्व देवता के बा विसुद्ध दिव्य रूप कौ जो,
पाप पुंज जारे ताहि ध्यान उर धारे हैं।
जासौं मम बुद्धि पद-पद्म धर्म लागै वेग,
ताही की सरन हम ताही के सहारे हैं॥ १॥
ऋद्धि-सिद्धि धन-धाम वैभव विसाल, मान,
ऐसी कौन वस्तु जग जो न लहि पाई है।
बुद्धि सुद्ध करनी है, हरनी त्रिताप द्वन्द्व,
फन्द लोक काटि परलोक सुधराई है।
साधू-सन्त, साधक औ" सिद्ध गुन गान करें,
'अमृत' अनेक ऋषि-मुनि मन भाई है।
बैठिकैं सुचित्त मीत अर्थ मन्त्र जाप करो,
गरिमा गायत्री भूरि-भूरि वेद गाई है॥ २॥

मानव अकेला जा रहा है

[श्री रामगोपाल शर्मा 'दिनेश', एम. ए. रिसर्च-स्कॉलर]

आँख खोलो सामने देखो, सवेरा आ रहा है।
निविड़तम तम पी धरा का
ज्योति में भर प्राण अपने
साधना का दीप ले जो
कर गया साकार सपने
स्वर्ग से भू-पर उतर आलोक उसका गा रहा है,
आँख खोलो, सामने देखो, सवेरा आ रहा है।

देश की काली निशा फिर
हँस उठे आलोक पाकर
स्नेह का मधु-दान करता
जी सके मानव धरा पर
प्रेम का सन्देश अम्बर को जगाने जा रहा है,
आँख खोलो, सामने देखो, सबेरा आ रहा है।

शोध - शालाएँ करो अब
बन्द सब विज्ञान की ये
बन रही हैं आज ग्राहक
मनुजता के प्राण की ये।
रक्त की ले प्यास मानव असुर बनने जा रहा है,
आँख खोलो, सामने देखो, सबेरा आ रहा है।

तुम न अणु बम से सकोगे
जीत मानव के हृदय को
सो रहे हो, जाग जाओ
क्यों बुलाते हो प्रलय को,
हो रही है शंख-ध्वनि युग एक बीता जा रहा है,
आँख खोलो, सामने देखो, सबेरा आ रहा है।

चाहते हो सुमन बन कर
भू - गगन में सुरभि भरना
भूल जीवन - डाल पर यदि,
प्रेम - जग में झूम झरना
तो हृदय खोलो, मिलो, मानव अकेला जा रहा है,
आँख खोलो सामने देखो सबेरा आ रहा है।

ज्योति-गीत

अन्तर - नयनों में ज्योतिर्मय !
चिर – ज्योति भरो !
ज्योतित कर संसृति के लघु क्षण
आलोकित कर दो जीवन - पल।
हे चिर प्रकाश – मय ! जग – शिशु के
तम - मय प्राणों में उज्ज्वलतर
नव ज्योति भरो,
चिर ज्योति भरो !

सूने दीपक के प्राणों में
शीतल किरणों का सागर भर,
हे शीतलतम ! कोमल-कर से
निज मधु–मय–स्मित से शीतलतर
शशि – ज्योति भरो,
चिर ज्योति भरो !

'समय काम करने का अब आ गया है'

[श्री कुसुमाकरजी, फ़ीरोज़ाबाद]

गीत

सुयश की कहानी बहुत कह चुके हैं,
समय काम करने का अब आ गया है।

(१)

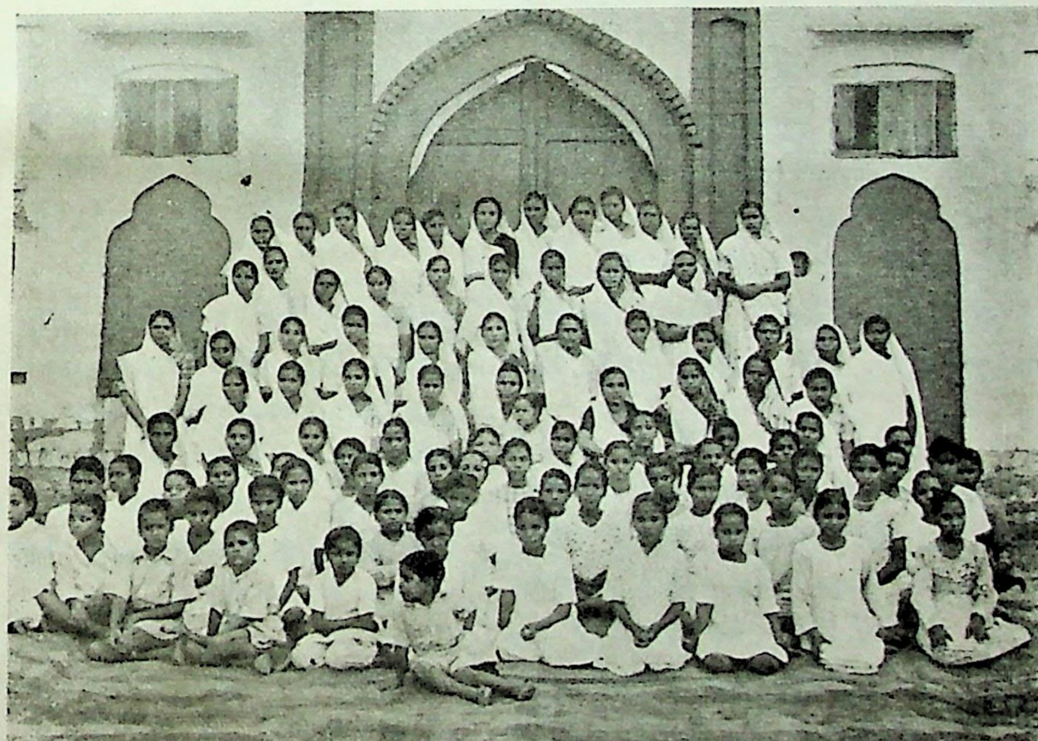
महत्तम लघुत्तम की अब बात भूलो,
नई एक संख्या तुम्हें जोड़ना है।
'विभाजक' की बातें बहुत हो चुकी हैं,
दिशा में नई कल्पना मोड़ना है।
विनाशक न विज्ञान का यंत्र ढूँढ़ो,
जो संहार के वज्र बरसा गया है।

(२)

नई निधि में जब 'आय' आना मना है—
तो क्या 'शेष' में शून्य की बात होगी ?
कहाँ 'मिश्रधन' के मिले स्वप्न सुन्दर,
तुम्हारे लिए 'मूल' की घात होगी।
विघातक बनेगा वही प्राण का भी—
तुम्हें एक दाने को तरसा गया है।



कन्या-गुरुकुल हाथरस की शिक्षिकाएँ



कन्या-गुरुकुल हाथरस की छात्राएँ

(३)

हमारी दशा है उसी कीट जैसी
जो दस फीट चढ़ता सरक पाँच आता,
मनोरथ के रथ पर इसी मन्द गति से,
भला कौन निर्दिष्ट है पंथ पाता।
अरे, वर्ग के छोड़ अनुपात को क्यों—
तुम्हें 'वर्ग–संघर्ष' ही भा गया है।

(४)

'विषम' में मिला दोगे 'सम' भाग को यदि,
तो परिणाम में भी 'विषम' योग होगा।
विषमता मिटे विश्व में शान्ति फैले—
'विषम' में 'विषम' का जो 'सह-योग' होगा,
गणित के इसी मुख्य सिद्धान्त को क्यों—
अरे, अर्थ-ज्ञानी भुलाया गया है।

(५)

यहाँ 'दीर्घ-लघु' की ही क्या बात कहते
न रेखागणित में खिंची कोई रेखा,
'समानान्तर' - सी बढ़ी रेख बन कर,
परस्पर में मिलते कहीं पर न देखा।
यहाँ 'एक रस' की सरस साधना में—
विरसता का वर-सिन्धु लहरा गया है।

(६)

चले 'वाद' हैं वात का ले बवंडर
'समन्वय' की जिनमें नहीं दृष्टि होगी।
नहीं स्रोत - समता का भू-पर बहेगा—
सफल साधना की नहीं वृष्टि होगी।
मनुष्यत्व का तत्त्व जिनमें नहीं तो,
कहाँ 'स्वत्व' सुख-शान्ति सरसा गया है?

(७)

कहीं बोलते भेक हैं भिन्नता के,
विषमता के विषधर हैं फुंकार भरते,
लिए गारुड़ी जो गरुड़ आ गया तो,
नहीं पल लगेगा गरल-धार हरते।
समय है, सुधा-साम्य का घूँट पीलो—
तुम्हें सिक्त करने को घन छा गया है।

(८)

बना 'सन्तरा'-सा जो यदि अन्तरालय,
तो जन-जागरण का गला घोंट देगा।
नहीं रंग 'खरबूज'-सा भी जो आया,
तो घर का ही दीपक जलाकर रहेगा।
बढ़ो, भूल 'शत-पंच' की भावना को—
समय 'एक सौ पाँच' कहला गया है।

(९)

बहुत पढ़ चुके राम-घनश्याम गीता—
युधिष्ठिर - विदुर, भीष्म के गीत गाए।
शिवा, पार्थ, राणा सरीखे सुभट के—
हमें लोम-हर्षक कथानक सुनाए।
भला इनके आदर्श में बिम्ब अपना—
ये देखो कहाँ तक सँभाला गया है।

(१०)

बहुत हमने आकाश के फूल तोड़े,
कहानी मधुप - कीर - कोकिल की गाई।
बढ़े वासना के विषैले वनों में,
कहीं रश्मि जीवन की हमने न पाई।
दमकती जहाँ दानवी दर्प-दामिनि—
वहाँ कौन देवत्व को पा गया है।

(११)

नियोजन के जो नीड़ नूतन रचे हैं,
विहँग चेतना के चतुर जो न चहके।
कदाचार का कपि उन्हें तोड़ देगा,
नए पुष्प-दल क्यारियों में जो लहके।
भला आत्म - उत्सर्ग के सामने क्यों—
प्रलोभन तुम्हीं पर विजय पा गया है?
सुयश की कहानी बहुत कह चुके हैं—
समय काम करने का अब आ गया है।

गुरुकुल-प्रणाली

[श्री "प्रणव" शास्त्री]

प्रणाली गुरुकुल की नव-ज्योति, उषा बन जगमग आई है,
सिंदूरी देती है सन्देश, देश में, बजी बधाई है।

मिला शुचि सौरभ शिक्षा श्रेय, कलित कुल-कलियाँ मुसकाईं
खिले प्रिय पावन पुण्य प्रसून ललित शतलतिका लहराईं,
मधुर रस आशा का सञ्चार गीति कवि अलि ने गाई है,
प्रणाली गुरुकुल की नव ज्योति उषा बन जगमग आई है।

छिपे हैं भिन्न भाव नक्षत्र, मतों की राका बीती है
लिए रवि-कन्दुक दिव्य विचार, वेद ने बाज़ी जीती है,
हर्ष में नाच रहा विज्ञान, प्रभाती दिन ने गाई है,
प्रणाली गुरुकुल की नव ज्योति, उषा बन जगमग आई है।

मातृभाषा का टूटा मौन, किया शुभ संस्कृत-स्वागत-गान,
बजाई वीणा धर्म धुरीण मिला निज संस्कृति को सम्मान
जगे हैं समता, शील, स्नेह सरलता शुभ सरसाई है,
प्रणाली गुरुकुल वी नवज्योति उषा बन जगमग आई है।

दया औ' 'दर्शन' का आनन्द लिए 'श्रद्धा' के सुमन उदार,
उदित था 'शुद्ध बोध' 'नर-देव' रूप में सन्त 'सर्वदा' प्यार।
धरोहर 'ध्रुवानन्द' गुणग्राम जननि 'लक्ष्मी' ने पाई है,
प्रणाली गुरुकुल की नव ज्योति उषा बन जगमग आई है।

चमकता उज्ज्वल चरित सुवर्ण आश्रमों के लहराते केतु,
शास्त्र के सागर तरने को बनाया ब्रह्मचर्य ही सेतु।
पश्चिमी शिक्षा-पद्धति ने आज ही मुँह की खाई है,
प्रणाली गुरुकुल की नव ज्योति उषा बन जगमग आई है।

विश्व बन्धुत्व भाव के साथ अटल अनुशासन लाती है,
लिए गुण-कर्मों का भण्डार द्विजों के मन सरसाती है।
'प्रणव' पद की यह सिद्धि सुगेय अमर आर्यों ने पाई है,
प्रणाली गुरुकुल की नव-ज्योति उषा बन जगमग आई है।

'करता है नित इतिहास-गान । नारी, तेरी महिमा महान ।'

[श्री शंकरलाल शर्मा, एम. ए., एल. टी]

मा, तेरे अरुणिम अधरों ने
जगती को जीवन-दान दिया
तेरे चुम्बन से प्राण मिले
जग ने तेरा स्तन-पान किया

हे महालक्ष्मी, जीवन का
संचित सुख दिया भुवन में भर
पहनाया खिला-पिला सुख से
सन्तानों को सुखमय कर-कर

मा सरस्वती थपकी दे दे
तुमने अपनी लोरी गायी
सम्पूर्ण ज्ञान-बल विद्या की
वीणा तुमने ही झनकायी

गौरी, तुमने ममता द्वारा
जग-शिशु को पाला, बड़ा किया
तुमने ही इसको वाणी दी
उँगली दे-देकर खड़ा किया

मा अन्नपूर्णा, गोदी भर
सुख से जग बालक खिला-खिला
धोया मुख अन्न-प्राश करना
धूसर तन पर, कर फिरा-फिरा

मा अनसूया, तेरी गोदी
रो-रो कर खेले जग-त्राता
तेरी गोदी में कौशल्या,
हँस-हँस कर राम छिपक जाता

यशमयी यशोदा, श्याम विचर
तेरी गोदी में सो जाता
विकराल क्रुद्ध वह परशुराम
कर दूध पान चुप हो जाता

गौतमी महामाया तूने
जग को करुणा का गान दिया
अपने छोटे से चुम्बन से
अपवर्ग-स्वर्ग का मान दिया

हे दैत्यनाशिनी, उतरी तू
हो भयंकरा, हो विकराला
देवी, काली, चामुण्डा बन
दानव-दल सौंहड़ कर डाला

सुत कसे कमर मुँह में लगाम
दो-दो तलवार घुमाती थी
लक्ष्मीबाई तू दैत्यों पर
पल-पल बिजली बरसाती थी

हे कर्मव्रती, तेरी असि भी
मेवाड़ मध्य झंकार रहीं
नीला, तेरी छुरियाँ अब तक
नागिन बनकर फुफकार रहीं

तूने सतीत्व दिखलाया था
अकबर की छाती पर चढ़कर
तूने सम्मान बचाया था
जलते अंगारों में धँसकर

जीते-जी काट दिया सिर को
धर दिया और असि पर पानी
तू किरणमयी, तू पद्मा है,
तू वीर-प्रिया हाँडी रानी

सावित्री, तेरे तप ने ही
यम को भी यहाँ छकाया था
सीता वन-वन में बिचरी थी
पातिव्रत धर्म निभाया था

तेरी सारी की धारी पर
रच गया महाभारत पूरा
अपना कुन्तल अपराध देख
तू भभक उठी बनकर शूरा

कब वीर अनादर देख सका
उठ पड़ा भीम, गाण्डीव उठा
अर्णवी सिंह वाहिनी ; उठी
लहरें तरंग, अक्षीव उठा

दुर्द्धर्ष युद्ध-ज्वालाओं में
घूमी तेरी तलवार सफल
पट गई रुण्ड-मुण्डों से भू
सारे राक्षस हो उठे विकल

तेरी बिजली के चौंधे से
घुमड़ा वीरों का घन-गर्जन
पल-पल पर वज्र कड़क टूटे
कर दिया शत्रु का मद-मर्दन

तूने दाहिर का साथ दिया
तू कुम्भा की संगिनी बनी
रणधीर कर्ण की अमर कीर्ति
तू कलावती सिंहिनी बनी

दशरथ के सँग कैकेयी बन
तू दानव दल में अरीयी
देवी, तेरे ही वारों से
दानव-दल हुए धराशायी

अम्बर में बिजली नाच उठी
जग-भर में नाच उठा दावा
तेरे तलवार उठाते ही
ज्वालामुख से फूटा लावा

दानव-दल में देखा बनकर
कर दिया पलक में धुआँधार
वैरी-दल के सागर में तू
बड़वा बन कर फैली धुकार

तू आज कोमलाङ्गी बन कर
अपना सतीत्व लुटवाती है
कल्याणी, सोच तनक फिर से
तू अपना नाश कराती है

तेरी महिमा ममता में है
करुणा में है सेवा में है
दे आत्म-समर्पण की बल्ली
तू भव-सागर खेवा में है

सुख के बाद दुःख आता है, दुःख पुनः सुख सरसाता है,
सुख-दुख-चक्र चला करता है, नेक नहीं ध्रुवता धरता है।

× × × × ×

जो जग से विकल नहीं होता, जिससे न जगत् अकुलाता है,
वह संन्यासी, वह योगी है, और वही शान्त कहलाता है।

× × × ×

जब मैं कहता हूँ प्रभो, मेरी दशा निहार,
होता है आदेश तब, निज चरित्र उर धार।

—हरिशङ्कर शर्मा

आनन्द-निधि दयानन्द

[श्री मथुराप्रसाद 'मानव', एम० ए०]

रो रही थी रजनि तम में, व्योम अश्रु सँजो रहा था,
घिर घटाओं से दिवाकर, चेतना निज खो रहा था।
जन्हुजा का जल सुखाकर, मरु मचलता आ रहा था,
घट रहा आकार प्रतिपल, मेरु गलता जा रहा था।
था अजब उन्माद युग में, सोम-घट उलटे पड़े थे,
पी-पिलाकर झूमते नर, सज रहे विष के घड़े थे।
मात पर खा मात 'मानव', गान जय का गा रहे थे,
काटते निज अंग फिर भी, मुस्कराते जा रहे थे।
देख मानवता-मरण मनुजात, इक तम-चीर आया,
सत्य के कोदण्ड पर, धर, तर्क के कुछ तीर लाया।
था प्रकाशित वह स्वयं लख, व्योम का तम हट गया था,
था विरोधी विश्व सारा, पर अकेला डट गया था।
मुक्त मेधाएँ हुईं विज्ञान ने, निज कर पसारे,
खोज लाया कल्प से, भटके हुए रवि, चाँद तारे।
कौन था किसने गरल पी, सोम की सरिता बहाई,
चढ़ चुकी थी जो चिता पर, सींच मानवता बचाई।
कौन था किसने प्रलय में, फूँक दी अपनी जवानी;
गा रहा है देश जिससे, राम-सीता की कहानी।
जल रहे हैं दीप जिसकी, ज्वाल से शोभित शिखाएँ,
था 'दया-आनन्द' जिसको, खोजती अब तक दिशाएँ।

मानव-मानव एक समान

[श्री पं० सुखदेव शास्त्री, 'शिरोमणि', एम० ए०]

एक दूसरे के सेवक हैं
जीवन संयुग के साथी
राजा-प्रजा, धनी-निर्धन क्या
मानव - मावन एक समान

सभी परस्पर आश्रित रहते
मिलकर सब सम्पूर्ण हुए

अंग - अंग में प्राण बसे हैं
इनमें लघु है कौन महान

सेवा और सुमति में होता
कलह और संघर्ष नहीं
अहंकार ममता के द्वारा
गर्जित संयुग गौरव - गान

मदिर सुरभिमय सरस समीरण
गुंजित मधुप मधुर मृदु गान
गौरव कलित ललित झर-निर्झर
जग के हित जग का रस-पान

जप-तप, धर्म-कर्म, पूजा या
संयम-नियम एक ही हैं
मानव की सेवा मानव-हित
दैवयजन यह विहित विधान

मानव दानव-सा बन कर क्या
कभी अमर हो सकता है ?
प्रकृति देव को अमृत पिलाती
देती दानव को विष-दान

सेवक बनकर सभी अंग हैं
सोम - पान करते रहते
यह है अमरावती, इन्द्र का-
पा सकते सब महिमा-मान

नहुष इन्द्र का पद पाकर भी
सिंहासन से पतित हुए
गौरव के विमान-से गिरके
मान कहाँ, कैसा कल्याण !

गणतन्त्र !

[श्री हरिशङ्कर शर्मा]

तुम त्याग-तपस्या से जन्मे, बलिदानों से बल लाए हो,
संघर्षों के पलने में पल, गणतन्त्र, लोकहित आए हो।

सम्राटों की सत्ता काँपी, भूपों के सिंहासन डोले,
गणतन्त्र, तुम्हारे आते ही, जन-जन जागे, कण-कण बोले।

स्वागत-स्वागत हे लोकमान्य, तुम में भारत की भक्ति भरी,
इन चार अक्षरों के भीतर कोटानिकोटि की शक्ति भरी।

गणतन्त्र, तुम्हारे स्वागत में प्राणों के पुष्प बिछाए हैं,
आज़ादी के परवानों ने, हँस-हँसकर शीश चढ़ाए हैं।

बापू का वैभव तुम में है, तुम सत्य, अहिंसा-साधक हो,
जन-जन तुम में, तुम जन-जन में, जन-जनता के आराधक हो।

आओ, आओ, निज जननी को, जुग-जुग, गणतन्त्र, निहाल करो,
फिर गौरवशीला माता का, भूतल पर उन्नत भाल करो।

डग-डग पर डगमग करने को, पग-पग पर पड़े प्रलोभन हैं,
पथ-भ्रष्ट कहीं मत हो जाना, मोहक रमणी, धरणी धन हैं।

विघ्नों को नष्ट-भ्रष्ट करके, निर्भय आगे बढ़ते जाओ,
सद्भाव-साधना साथ लिये, गौरव-गिरि पर चढ़ते जाओ।

तुम दीन-दरिद्रों दुखियों के, कष्टों पर प्रबल प्रहार करो,
संकट से तारो श्रमिकों को, कृषकों का पुनरुद्धार करो।

निर्बल से निर्बल वाणी पर, तुम कान-ध्यान देते रहना,
मूकों, बधिरों, असहायों की, फिर-फिर कर सुध लेते रहना।

अन्याय-असुर विध्वंस हेत, अति तीव्र तप्त विष-बाण बनो,
नय-नीति-न्याय-निधि-रक्षा हित तुम त्राण, प्राण, कल्याण बनो।

गण-गण में गुणगण विकसित हों, कण-कण से कायरता भागे,
मन-मन में भद्र भाव उमँगें, जन-जन में नैतिकता जागे।

जन-जन जनता का अंग बने, जनता जन-जन की पोषक हो।
जन-जनता में कोई न कहीं, जन या जनता को शोषक हो॥

सबको समान सुख-साधन हों, सबही सब भाँति विकास करें,
अपने-अपने गुण-गौरव का, जनता-हित-हेतु प्रकाश करें।

जनता प्रतिनिधि-निर्वाचन में, ज्ञानी-गुणियों का मान करें,
जनता के सच्चे सेवक को श्रद्धा से निज मत दान करें।

जन-जन में शुचिता-समता हो, विषयुक्त विषमता भाव न हो,
गणतन्त्र राष्ट्र की ऋजुता पर, कटुता का कुटिल प्रभाव न हो।

नित प्रेम-प्रवाह प्रवाहित हो, सद्भाव सदा गुरुमन्त्र बनें,
शुभ संयत शासन-चक्र चले, जनता-हित-साधक तन्त्र बनें।

समता, स्वतन्त्रता, बन्धुभाव से गूँज उठे पृथिवी सारी,
यह लोक सत्य, शिव, सुन्दर हो, हो मानवता मंगल कारी।

सबको सुविधा धन-साधन की, ममतामय व्यक्ति-विधान न हो,
निजता-परता श्रम भेद मिटें, जन-जीवन स्वार्थ-प्रधान न हो।

संकीर्ण भावनाएँ तजकर, निज धर्म-कर्म में मग्न रहें,
सद्भाव-प्रकाशन में स्वतन्त्र, हित-साधन में संलग्न रहें।

यह शिक्षा- सुधा मिले जिससे, तन, स्वच्छ, स्वस्थ, सम्पुष्ट बनें,
मन और आत्मा उज्ज्वल हों, सब के जीवन उत्कृष्ट बनें।

धन-सन्तति से सम्पन्न रहें, घृत - दूध - दही-मधु-धार बहे,
कृषि-कार्य, खानि, वन-वैभव से, भरपूर सदा भंडार रहे।

प्रतिभाशाली पंडित प्रवीण कवि कोविद ज्ञान प्रदान करें,
विज्ञान बने वरदान सदा, साहित्य-सुधारस-पान करें।

वाणिज्य, शिल्प, उद्योगद्वार, सबको समान उन्मुक्त रहें,
विद्वान्, विचारक, कलाकार, गृह-चिन्ताओं से मुक्त रहें।

गणतन्त्र, शुष्क जन-जीवन में ऋजुता, शुचिता सरसाओ तुम,
धनधान्य, मान्य दो दान हमें, सुख-शान्ति-सुधा बरसाओ तुम।

वाणी-लेखनी स्वतन्त्र रहें, परमत सहिष्णु हों नर-नारी,
पावें सुयोग्य जन समुचित पद गुण-कर्म कला के अधिकारी।

रण रोप-रोप नरमेध न हों, सुख-शान्ति प्रेममय प्राणी हों,
वसुधा कुटुम्ब सम सरसाए मानव-गति-मति कल्याणी हों।

सब राज्य-राष्ट्र सस्नेह रहें, मिलजुल कर उलझन सुलझाएँ,
पद-प्रभुता की उन्माद-अग्नि क्यों मानवता पर बरसाएँ।

मातृ वसुन्धरा की वसुधा जन-जीवों को सुखदायक हो,
विज्ञान-ज्ञान अध्यात्मवाद सबको सब भाँति सहायक हो।

जन-सेवा नित निष्काम करें, सहयोग-नीति अपनाएँ सब,
सतयुग-सा युग फिर आ जाए, घर-घर को स्वर्ग बनाएँ सब।
